ॐ अर्हं

जिनागम-ग्रन्थमाला : ग्रन्थाङ्क १३

[परमश्रद्धेय गुरुदेव पूज्य श्री जोरावरमलजी महाराज की पुण्यस्मृति मे आयोजित]

चतुर्दशपूर्वधरस्थविरप्रणीत प्रथम उपांग

औपपातिकसूत्र

[मूलपाठ, हिन्दी अनुवाद, विवेचन, परिशिष्ट युक्त]

प्रेरणा
(स्व) उपप्रवर्तक शासनसेवी स्वामी श्री ब्रजलालजी महाराज

संयोजक तथा आद्य सम्पादक
(स्व०) युवाचार्य श्री मिश्रीमलजी महाराज 'मधुकर'

अनुवादक—विवेचक
डा० छगनलाल शास्त्री, काव्यतीर्थ
एम ए , पी-एच डी , विद्यामहोदधि

प्रकाशक
श्री आगमप्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थान)

☐ निर्देशन
साध्वी श्री उमरावकुंवरजी 'अर्चना'

☐ सम्पादकमण्डल
अनुयोगप्रवर्तक मुनि श्री कन्हैयालालजी 'कमल'
उपाचार्य श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री
श्री रतनमुनि

☐ सम्प्रेरक
मुनि श्री विनयकुमार 'भीम'
श्री महेन्द्रमुनि 'दिनकर'

☐ द्वितीय संस्करण
वीर निर्वाण सं० २५१८
विक्रम सं० २०४८
फरवरी १९९२ ई०

☐ प्रकाशक
श्री आगमप्रकाशन समिति
श्री ब्रज-मधुकर स्मृति भवन,
पीपलिया बाजार, ब्यावर (राजस्थान)
पिन—३०५९०१

☐ मुद्रक
सतीशचन्द्र शुक्ल
वैदिक यंत्रालय,
केसरगंज, अजमेर—३०५००१

☐ मूल्य [redacted] 50/-

Published at the Holy Remembrance occasion
of
Rev. Guru Shri Joravarmalji Maharaj

First Upāṅga

AUPAPĀTIKASŪTRA

By

STHAWIR

[Original Text, Hindi Version, Notes and Annotations]

☐

Inspiring Soul

(Late) Up-pravartaka Shasansevi Rev Swami Shri Brijlalji Maharaj

☐

Convener & Founder Editor

(Late) Yuvacharya Shri Mishrimalji Maharaj 'Madhukar'

☐

Translator & Annotator

Dr. Chhaganlal Shashtri

☐

Publishers

Shri Agam Prakashan Samiti

Beawar (Raj.)

Jinagam Granthmala Publication No. 13

☐ **Direction**
Sadhwi Shri Umravkunwar 'Archana'

☐ **Board of Editors**
Anuyogapravartaka Muni Shri Kanhaiyalalji 'Kamal'
Upacharya Shri Devendra Muni Shastri
Shri Ratan Muni

☐ **Promotor**
Muni Shri Vinayakumar 'Bhima'
Sri Mahendra Muni 'Dinakar'

☐ **Second Edition**
Vir-Nirvana Samvat 2518
Vikram Samvat 2048,
February 1992

☐ **Publisher**
Shri Agam Prakashan Samiti,
Shri Brij-Madhukar Smriti Bhawan,
Pipaliya Bazar, Beawar (Raj.)
Pin 305 901

☐ **Printer**
Satish Chandra Shukla
Vedic Yantralaya
Kesarganj, Ajmer

☐ **Price** :[redacted] 50/-

समर्पण

श्रमण भगवान् महावीर की धर्म-देशना जिनकी रग-रग मे परिव्याप्त थी,

अर्हद्-वाणी को वरेण्यता तथा उपासना मे जिनकी अडिग निष्ठा थी,

जन-जन के कल्याण एव श्रेयस् का सफल मार्ग जिन्हे आगम वाङ्मय मे परिलक्षित था,

आगमनिबद्ध, तत्त्व-ज्ञान को सर्वजनहिताय प्रसृत करने की उदात्त भावना से जिन्होने हमारी धर्म-सघीय परम्परा मे आगमो की टब्बा रूप व्याख्या कर सप्रवर्तन किया।

धर्म की आराधना एव प्रभावना मे सिहतुल्य आत्मपराक्रम के साथ जो सतत गतिशील रहे,

उन महामना, महान् श्रुतसेवी आचार्यवर्य

श्री धर्मसिहजी महाराज की

पुण्य स्मृति मे सादर, सविनय,

सभक्ति समुपहृत

—मधुकर मुनि

(प्रथम संस्करण से)

प्रकाशकीय

अभी तक आगम बत्तीसी के नवीन सूत्रग्रन्थो के साथ अनुपलब्ध सूत्रो के प्रकाशन और पुनर्मुद्रण का कार्य साथ-साथ चलता रहा है। इस समय मे अनेक सूत्रो का पुनर्मुद्रण हुआ। अब औपपातिक सूत्र से अनुपलब्ध सूत्रो के पुनर्मुद्रण का कार्य प्रारम्भ हो रहा है।

अग आगमो मे आचारागसूत्र प्रथम है, और औपपातिकसूत्र] उसका उपाग है। अतएव उपाग के क्रम मे इसे भी प्रथम माना जायेगा। उपाग होते हुए भी इसका एक विशिष्ट स्थान है। इसका पूर्वार्ध कथाप्रधान है, किन्तु तद्गत वर्णन मूल आगमो का पूरक है। उन आगमो मे उल्लिखित नगर, चैत्य, वनखण्ड, राजा, रानी, अनगार आदि के वर्णन को जानने के लिये 'वण्णओ' लिखकर इस सूत्र का अतिदेश किया जाता है। अर्थात् इन सबका वर्णन औपपातिक सूत्र के वर्णन के अनुसार कहना चाहिये। यह वर्णन अलकारो और कोमल कान्त पदावली मे इतना समृद्ध है कि पाठक इस वर्णन से यथार्थ की अनुभूति करता है। साराश यह कि इस सूत्र का अध्ययन किये बिना अन्य कथासूत्रो का अध्ययन अपूर्ण ही रहता है।

उत्तरार्ध के वर्णन मे विभिन्न प्रकार की परिव्राजक परम्पराओ का उल्लेख है, जो भारत के विभिन्न मता-नुयायिओ का प्रतिनिधित्व करती है। ये भारत के धार्मिक व सास्कृतिक इतिहास लेखको एव अन्वेषको को पर्याप्त सहायक सिद्ध हुई है।

साराश यह कि औपपातिक सूत्र एक साहित्यिक कृति होने के साथ-साथ विभिन्न धार्मिक आचार परपराओ का इतिहास भी है। प्राचीन भारत की गौरव गाथा का अकन करने वालो के लिये उपयोगी मार्गदर्शक सहयोगी बन सकता है।

आगमो के प्रकाशन की योजना के कारणो पर महामहिम स्व युवाचार्य श्री मधुकर मुनिजी म ने अपने 'आदिवचन' मे विस्तृत प्रकाश डाला है। अत: पुन कारणो का उल्लेख नही करते है। समिति तो इसी मे गौरवा-नुभूति करती है कि उनका बोया बीज विशाल वटवृक्ष की तरह विस्तृत होता जा रहा है।

यहा यह भी स्पष्ट कर देना उपयोगी होगा कि समिति द्वारा आगमो के प्रकाशन मे आर्थिक लाभ पक्ष गौण है। इसीलिये प्रथम सस्करण के प्रकाशन मे लागत से कम मूल्य रखा गया था और उसी नीति के अनुसार द्वितीय सस्करण के ग्रन्थो का मूल्य निर्धारित किया जा रहा है। समिति का उद्देश्य यही है कि सभी ग्रन्थ-भण्डारो एव पाठको को ग्रन्थ उपलब्ध हो जाये।

अन्त मे अपने सभी सहयोगियो के आभारी है कि उनकी प्रेरणायें समिति को आगमो के द्वितीय सस्करण प्रकाशित करने के लिये प्रेरित कर रही है।

इति शुभम्।

रतनचन्द मोदी
कार्यवाहक अध्यक्ष

सायरमल चोरड़िया
महामत्री

अमरचन्द मोदी
मत्री

श्री आगमप्रकाशन समिति, पीपलिया बाजार, ब्यावर-३०५ ९०१

श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर

(कार्यकारिणी समिति)

आदि वचन

[प्रथम संस्करण से]

विश्व के जिन दार्शनिकों—द्रष्टाओं/चिन्तकों, ने "आत्मसत्ता" पर चिन्तन किया है, या आत्म-साक्षात्कार किया है उन्होंने पर-हितार्थ आत्म-विकास के साधनों तथा पद्धतियों पर भी पर्याप्त चिन्तन-मनन किया है। आत्मा तथा तत्सम्बन्धित उनका चिन्तन-प्रवचन आज आगम/पिटक/वेद/उपनिषद् आदि विभिन्न नामों से विश्रुत है।

जैनदर्शन की यह धारणा है कि आत्मा के विकारों—राग-द्वेष आदि को साधना के द्वारा दूर किया जा सकता है, और विकार जब पूर्णतः निरस्त हो जाते हैं तो आत्मा की शक्तियां ज्ञान/सुख/वीर्य आदि सम्पूर्ण रूप में उद्घाटित-उद्भासित हो जाती है। शक्तियों का सम्पूर्ण प्रकाश-विकास ही सर्वज्ञता है और सर्वज्ञ/आप्त-पुरुष की वाणी, वचन/कथन/प्ररूपणा— "आगम" के नाम से अभिहित होती है। आगम अर्थात् तत्त्वज्ञान, आत्म-ज्ञान तथा आचार-व्यवहार का सम्यक् परिबोध देने वाला शास्त्र/सूत्र/आप्तवचन।

सामान्यतः सर्वज्ञ के वचनों/वाणी का संकलन नहीं किया जाता, वह बिखरे सुमनों की तरह होती है, किन्तु विशिष्ट अतिशयसम्पन्न सर्वज्ञ पुरुष, जो धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करते है, संघीय जीवन पद्धति में धर्म-साधना को स्थापित करते है, वे धर्मप्रवर्तक/अरिहंत या तीर्थंकर कहलाते है। तीर्थंकर देव की जनकल्याणकारिणी वाणी को उन्हीं के अतिशयसम्पन्न विद्वान् शिष्य गणधर संकलित कर "आगम" या शास्त्र का रूप देते है अर्थात् जिन-वचनरूप सुमनों की मुक्त वृष्टि जब मालारूप में ग्रथित होती है तो वह "आगम" का रूप धारण करती है। वही आगम अर्थात् जिन-प्रवचन आज हम सब के लिए आत्म-विद्या या मोक्ष-विद्या का मूल स्रोत है।

"आगम" को प्राचीनतम भाषा मे "गणिपिटक" कहा जाता था। अरिहंतों के प्रवचनरूप समग्र शास्त्र-द्वादशांग में समाहित होते है और द्वादशांग/आचारांग-सूत्रकृतांग आदि के अंग-उपांग आदि अनेक भेदोपभेद विकसित हुए है। इस द्वादशांगी का अध्ययन प्रत्येक मुमुक्षु के लिए आवश्यक और उपादेय माना गया है। द्वादशांगी में भी बारहवां अंग विशाल एवं समग्र श्रुतज्ञान का भण्डार माना गया है, उसका अध्ययन बहुत ही विशिष्ट प्रतिभा एवं श्रुतसम्पन्न साधक कर पाते थे। इसलिए सामान्यतः एकादशांग का अध्ययन साधकों के लिए विहित हुआ तथा इसी ओर सबकी गति/मति रही।

जब लिखने की परम्परा नहीं थी, लिखने के साधनों का विकास भी अल्पतम था, तब आगमों/शास्त्रों/को स्मृति के आधार पर या गुरु-परम्परा से कंठस्थ करके सुरक्षित रखा जाता था। सम्भवतः इसलिए आगम ज्ञान को श्रुतज्ञान कहा गया और इसीलिए श्रुति/स्मृति जैसे सार्थक शब्दों का व्यवहार किया गया। भगवान् महावीर के परिनिर्वाण के एक हजार वर्ष बाद तक आगमों का ज्ञान स्मृति/श्रुति परम्परा पर ही आधारित रहा। पश्चात् स्मृतिदौर्बल्य, गुरुपरम्परा का विच्छेद, दुष्काल-प्रभाव आदि अनेक कारणों से धीरे-धीरे आगमज्ञान लुप्त होता चला गया। महासरोवर का जल सूखता-सूखता गोष्पद मात्र रह गया। मुमुक्षु श्रमणों के लिए यह जहाँ चिन्ता का विषय था, वहाँ चिन्तन की तत्परता एवं जागरूकता को चुनौती भी थी। वे तत्पर हुए श्रुतज्ञान-निधि के संरक्षण हेतु। तभी महान् श्रुतपारगामी देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने विद्वान् श्रमणों का एक सम्मेलन बुलाया और स्मृति-दोष से लुप्त होते आगम ज्ञान को सुरक्षित एवं संजोकर रखने का आह्वान किया। सर्व-सम्मति से आगमों को लिपि-बद्ध किया गया।

जिनवाणी को पुस्तकारूढ करने का यह ऐतिहासिक कार्य वस्तुत आज की समग्र ज्ञान-पिपासु प्रजा के लिए एक अवर्णनीय उपकार सिद्ध हुआ । सस्कृति, दर्शन, धर्म तथा आत्म-विज्ञान की प्राचीनतम ज्ञानधारा को प्रवहमान रखने का यह उपक्रम वीरनिर्वाण के ९८० या ९९३ वर्ष पश्चात् प्राचीन नगरी वलभी (सौराष्ट्र) मे आचार्य श्री देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के नेतृत्व मे सम्पन्न हुआ । वैसे जैन आगमो की यह दूसरी अन्तिम वाचना थी, पर लिपिबद्ध करने का प्रथम प्रयास था । आज प्राप्त जैन सूत्रो का अन्तिम स्वरूप-सस्कार इसी वाचना मे सम्पन्न किया गया था ।

पुस्तकारूढ होने के बाद आगमो का स्वरूप मूल रूप मे तो सुरक्षित हो गया, किन्तु काल-दोष, श्रमण-सघो के आन्तरिक मतभेद, स्मृति दुर्बलता, प्रमाद एव भारतभूमि पर बाहरी आक्रमणो के कारण विपुल ज्ञान-भण्डारो का विध्वस आदि अनेकानेक कारणो से आगम ज्ञान की विपुल सम्पत्ति, अर्थबोध की सम्यक् गुरु-परम्परा धीरे-धीरे क्षीण एव विलुप्त होने से नही रुकी । आगमो के अनेक महत्त्वपूर्ण पद, सन्दर्भ तथा उनके गूढार्थ का ज्ञान, छिन्न-विच्छिन्न होते चले गए । परिपक्व भाषाज्ञान के अभाव मे, जो आगम हाथ से लिखे जाते थे, वे भी शुद्ध पाठ वाले नही होते, उनका सम्यक् अर्थ-ज्ञान देने वाले भी विरले ही मिलते । इस प्रकार अनेक कारणो से आगम की पावन धारा सकुचित होती गयी ।

विक्रमीय सोलहवी शताब्दी मे वीर लोकाशाह ने इस दिशा मे क्रान्तिकारी प्रयत्न किया । आगमो के शुद्ध और यथार्थ अर्थज्ञान को निरूपित करने का साहसिक उपक्रम पुन चालू हुआ । किन्तु कुछ काल बाद उसमे भी व्यवधान उपस्थित हो गये । साम्प्रदायिक-विद्वेष, सैद्धातिक विग्रह, तथा लिपिकारो का अत्यल्प ज्ञान आगमो की उपलब्धि तथा उसके सम्यक् अर्थबोध मे बहुत बडा विघ्न बन गया । आगम-अभ्यासियो को शुद्ध प्रतिया मिलना भी दुर्लभ हो गया ।

उन्नीसवी शताब्दी के प्रथम चरण मे जब आगम-मुद्रण की परम्परा चली तो सुधी पाठको को कुछ सुविधा प्राप्त हुई । धीरे-धीरे विद्वत्-प्रयासो से आगमो की प्राचीन चूर्णियाँ, निर्युक्तियाँ, टीकाये आदि प्रकाश मे आई और उनके आधार पर आगमो का स्पष्ट-सुगम भावबोध सरल भाषा मे प्रकाशित हुआ । इसमे आगम-स्वाध्यायी तथा ज्ञान-पिपासु जनो को सुविधा हुई । फलत आगमो के पठन-पाठन की प्रवृत्ति बढी है । मेरा अनुभव है, आज पहले से कही अधिक आगम-स्वाध्याय की प्रवृत्ति बढी है, जनता मे आगमो मे प्रति आकर्षण व रुचि जागृत हो रही है । इस रुचि-जागरण मे अनेक विदेशी आगमज्ञ विद्वानो तथा भारतीय जैनेतर विद्वानो की आगम-श्रुत-सेवा का भी प्रभाव व अनुदान है, इसे हम सगौरव स्वीकारते है ।

आगम-सम्पादन-प्रकाशन का यह सिलसिला लगभग एक शताब्दी से व्यवस्थित चल रहा है । इस महनीय-श्रुत-सेवा मे अनेक समर्थ श्रमणो, पुरुषार्थी विद्वानो का योगदान रहा है । उनकी सेवाये नीव की ईंट की तरह आज भले ही अदृश्य हो, पर विस्मरणीय तो कदापि नही । स्पष्ट व पर्याप्त उल्लेखो के अभाव मे हम अधिक विस्तृत रूप मे उनका उल्लेख करने मे असमर्थ है, पर विनीत व कृतज्ञ तो है ही । फिर भी स्थानकवासी जैन परम्परा के कुछ विशिष्ट-आगम श्रुत-सेवी मुनिवरो का नामोल्लेख अवश्य करना चाहूँगा ।

आज से लगभग साठ वर्ष पूर्व पूज्य श्री अमोलकऋषिजी महाराज ने जैन आगमो—३२ सूत्रो का प्राकृत मे खडी बोली मे अनुवाद किया था । उन्होने अकेले ही बत्तीस सूत्रो का अनुवाद कार्य सिर्फ ३ वर्ष १५ दिन मे पूर्ण कर अद्भुत कार्य किया । उनकी दृढ लगनशीलता, साहस एव आगम ज्ञान की गम्भीरता उनके कार्य से ही स्वत परिलक्षित होती है । वे ३२ ही आगम अल्प समय मे प्रकाशित भी हो गये ।

इसमे आगमपठन बहुत सुलभ व व्यापक हो गया और स्थानकवासी-तेरापथी समाज तो विशेष उपकृत हुआ ।

गुरुदेव श्री जोरावरमलजी महाराज का संकल्प

मैं जब प्रात स्मरणीय गुरुदेव स्वामीजी श्री जोरावरमलजी म० के सान्निध्य में आगमो का अध्ययन-अनुशीलन करता था तब आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित आचार्य अभयदेव व शीलांक की टीकाओ से युक्त कुछ आगम उपलब्ध थे। उन्ही के आधार पर मै अध्ययन-वाचन करता था। गुरुदेवश्री ने कई बार अनुभव किया—यद्यपि यह सस्करण काफी श्रमसाध्य व उपयोगी हैं, अब तक उपलब्ध सस्करणो मे प्राय शुद्ध भी है, फिर भी अनेक स्थल अस्पष्ट है, मूलपाठो मे व वृत्ति मे कही-कहीं अशुद्धता व अन्तर भी है। सामान्य जन के लिये दुरूह तो है ही। चू कि गुरुदेवश्री स्वय आगमो के प्रकाण्ड पण्डित थे, उन्हें आगमो के अनेक गूढार्थ गुरु-गम से प्राप्त थे। उनकी मेधा भी व्युत्पन्न व तर्क-प्रवण थी, अत वे इस कमी को अनुभव करते थे और चाहते थे कि आगमो का शुद्ध सर्वोपयोगी ऐसा प्रकाशन हो, जिससे सामान्य ज्ञानवाले श्रमण-श्रमणी एव जिज्ञासुजन लाभ उठा सके। उनके मन की यह तडप कई बार व्यक्त होती थी। पर कुछ परिस्थितियो के कारण उनका यह स्वप्न—सकल्प साकार नही हो सका, फिर भी मेरे मन मे प्रेरणा बनकर अवश्य रह गया।

इसी अन्तराल मे आचार्य श्री जवाहरलालजी महाराज, श्रमणसघ के प्रथम आचार्य जैनधर्म-दिवाकर आचार्य श्री आत्मारामजी म०, विद्वद्रत्न श्री घासीलालजी म० आदि मनीषी मुनिवरो ने आगमो की हिन्दी, सस्कृत, गुजराती आदि में सुन्दर विस्तृत टीकाये लिखकर या अपने तत्त्वावधान मे लिखवा कर कमी को पूरा करने का महनीय प्रयत्न किया है।

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक आम्नाय के विद्वान् श्रमण परमश्रुतसेवी स्व० मुनि श्री पुण्यविजयजी ने आगम सम्पादन की दिशा मे बहुत व्यवस्थित व उच्चकोटि का आर्य प्रारम्भ किया था। विद्वानो ने उसे बहुत ही सराहा। किन्तु उनके स्वर्गवास के पश्चात् उस मे व्यवधान उत्पन्न हो गया। तदपि आगमज्ञ मुनि श्री जम्बूविजयजी आदि के तत्त्वावधान मे आगम-सम्पादन का सुन्दर व उच्चकोटि का कार्य आज भी चल रहा है।

वर्तमान मे तेरापथ सम्प्रदाय मे आचार्य श्री तुलसी एव युवाचार्य महाप्रज्ञजी के नेतृत्व मे आगम-सम्पादन का कार्य चल रहा है और जो आगम प्रकाशित हुए है उन्हे देखकर विद्वानो को प्रसन्नता है। यद्यपि उनके पाठ-निर्णय मे काफी मतभेद की गु जाइश है। तथापि उनके श्रम का महत्त्व है। मुनि श्री कन्हैयालालजी म० "कमल" आगमो की वक्तव्यता को अनुयोगों मे वर्गीकृत करके प्रकाशित कराने की दिशा में प्रयत्नशील है। उनके द्वारा सम्पादित कुछ आगमो मे उनकी कार्यशैली की विशदता एव मौलिकता स्पष्ट होती है।

आगम साहित्य के वयावृद्ध विद्वान् प० श्री बेचरदासजी दोशी, विश्रुत-मनीषी श्री दलसुखभाई मालवणिया जैस चिन्तनशील प्रज्ञापुरुष आगमो के आधुनिक सम्पादन की दिशा मे स्वय भी कार्य कर रहे हैं तथा अनेक विद्वानो का मार्ग-दर्शन कर रहे है। यह प्रसन्नता का विषय है।

इस सब कार्य-शैली पर विहगम अवलोकन करने के पश्चात् मेरे मन मे एक सकल्प उठा। आज प्राय सभी विद्वानो की कार्यशैली काफी भिन्नता लिये हुए है। कही आगमो का मूल पाठ मात्र प्रकाशित किया जा रहा है तो कही आगमो की विशाल व्याख्याये की जा रही है। एक पाठक के लिये दुर्बोध है तो दूसरी जटिल। सामान्य पाठक को सरलतापूर्वक आगमज्ञान प्राप्त हो सके, एतदर्थ मध्यम-मार्ग का अनुसरण आवश्यक है। आगमो का एक ऐसा सस्करण होना चाहिये जो सरल हो, सुबोध हो, सक्षिप्त और प्रामाणिक हो। मेरे स्वर्गीय गुरुदेव ऐसा ही आगम-सस्करण चाहते थे। इसी भावना को लक्ष्य मे रखकर मैंने ५-६ वर्ष पूर्व इस विषय की चर्चा प्रारम्भ की

थी, सुदीर्घ चिन्तन के पश्चात् वि स २०३६ वैशाख शुक्ला दशमी, भगवान् महावीर कैवल्यदिवस को यह दृढ निश्चय घोषित कर दिया और आगमबत्तीसी का सम्पादन-विवेचन कार्य प्रारम्भ भी। इस साहसिक निर्णय मे गुरुभ्राता शासनसेवी स्वामी श्री ब्रजलालजी म की प्रेरणा/प्रोत्साहन तथा मार्गदर्शन मेरा प्रमुख सम्बल बना है। साथ ही अनेक मुनिवरो तथा सद्गृहस्थो का भक्ति-भाव भरा सहयोग प्राप्त हुआ है, जिनका नामोल्लेख किये बिना मन सन्तुष्ट नही होगा। आगम अनुयोग शैली के सम्पादक मुनि श्री कन्हैयालालजी म "कमल", प्रसिद्ध साहित्यकार श्री देवेन्द्रमुनिजी म० शास्त्री, आचार्य श्री आत्मारामजी म० के प्रशिष्य भण्डारी श्री पदमचन्दजी म० एव प्रवचन-भूषण श्री अमरमुनिजी, विद्वद्रत्न श्री ज्ञानमुनिजी म०, स्व० विदुषी महासती श्री उज्ज्वलकु वरजी म० की सुशिष्याए महासती दिव्यप्रभाजी, एम ए, पी-एच डी, महासती मुक्तिप्रभाजी तथा विदुषी महासती श्री उमरावकु वरजी म० 'अर्चना', विश्रुत विद्वान् श्री दलसुखभाई मालवणिया, सुख्यात विद्वान् प० श्री शोभाचन्द्रजी भारिल्ल, स्व० प० श्री हीरालालजी शास्त्री, डा० छगनलालजी शास्त्री एव श्रीचन्दजी सुराणा "सरस" आदि मनीषियो का सहयोग आगमसम्पादन के इस दुरूह कार्य को सरल बना सका है। इन सभी के प्रति मन आदर व कृतज्ञ भावना से अभिभूत है। इसी के साथ सेवा-सहयोग की दृष्टि से सेवाभावी शिष्य मुनि विनयकुमार एव महेन्द्र मुनि का साहचर्य-सहयोग, महासती श्री कानकु वरजी, महासती श्री झणकारकु वरजी का सेवाभाव सदा प्रेरणा देता रहा है। इस प्रसग पर इस कार्य के प्रेरणा-स्रोत स्व० श्रावक चिमनसिहजी लोढा, स्व० श्री पुखराजजी सिसोदिया का स्मरण भी सहजरूप मे हो आता है, जिनके अथक प्रेरणा-प्रयत्नो से आगम समिति अपने कार्य मे इतनी शीघ्र सफल हो रही है। दो वर्ष के अल्पकाल मे ही दस आगम ग्रन्थो का मुद्रण तथा करीब १५-२० आगमो का अनुवाद-सम्पादन हो जाना हमारे सब सहयोगियो की गहरी लगन का द्योतक है।

मुझे सुदृढ विश्वास है कि परम श्रद्धेय स्वर्गीय स्वामी श्री हजारीमलजी महाराज आदि तपःपूत आत्माओ के शुभाशीर्वाद से तथा हमारे श्रमणसघ के भाग्यशाली नेता राष्ट्र-सत आचार्य श्री आनन्दऋषिजी म० आदि मुनि-जनो के सद्भाव-सहकार के बल पर यह सकल्पित जिनवाणी का सम्पादन-प्रकाशन कार्य शीघ्र ही सम्पन्न होगा।

इसी शुभाशा के साथ,

—**मुनि मिश्रीमल "मधुकर"**
(युवाचार्य)



औपपातिकसूत्र . प्रथम सस्करण के अर्थ सहयोगी

श्रीमान् दुलीचन्दजी सा. चोरड़िया

[सक्षिप्त जीवन-रेखा]

नोखा (चादावतो का) ग्राम का बृहत् चोरडिया-परिवार अनेक दृष्टियो मे स्थानकवासी समाज के लिए आदर्श कहा जा सकता है। इस परिवार के विभिन्न उदारहृदय श्रीमतो की स्व पूज्य स्वामी श्रीहजारीमलजी म सा के प्रति अनन्य अनुपम श्रद्धा रही है और उसी प्रकार शासनसेवी उपप्रवर्त्तक स्वामी श्रीब्रजलालजी म सा तथा श्रमणसघ के युवाचार्य विज्ञवर श्रीमिश्रीमलजी म सा के प्रति भी वैसा ही प्रगाढ भक्तिभाव है। धर्मप्रेमी श्रीमान् दुलीचन्दजी सा चोरडिया के विषय मे भी यही तथ्य है। आपका भी जीवन उल्लिखित मुनिवरो की सेवा मे समर्पित है।

सेठ दुलीचद जी सा चोरडिया का जन्म वि स १९८९ मे नोखा चादावता मे हुआ। श्रीमान् जोरावर-मलजी सा चोरडिया कामदार नोखा के आप सुपुत्र है। श्रीमती फलकु वरबाई की कुक्षि को आपने धन्य बनाया।

अठारह वर्ष की वय मे आप मद्रास पधार गए और व्यवसाय मे सलग्न हो गए। अपने बुद्धिकौशल एव प्रबल पुरुषार्थ से व्यवसाय मे अच्छी सफलता प्राप्त की।

आपकी सुपुत्री का विवाह मालेगाँव-निवासी प्रसिद्ध धर्मप्रेमी श्रीमान् किशनलालजी मालू के सुपुत्र श्री गौतमचन्दजी के साथ हुआ है। आपके चार सुपुत्र है—

१ श्री धरमचन्दजी	२ श्री किशोरकुमारजी
३ श्री राजकुमारजी	४ श्री सुरेशकुमारजी

ज्येष्ठतम सुपुत्र श्री धरमचन्दजी का विवाह इन्दौर के सुप्रसिद्ध व्यवसायी सेठ बादलचन्दजी मेहता की तथा श्री किशोरकुमारजी का विवाह सुप्रसिद्ध समाजसेवी सेठ लालचन्दजी सरलेचा की सुपुत्री के साथ हुआ है। राजकुमारजी तथा सुरेशचन्द्रजी अभी विद्याध्ययन कर रहे है।

मद्रास की प्राय सभी सामाजिक एव धार्मिक सस्थाओ के साथ आपका और आपके परिवार का सम्बन्ध है और उनमे आपका महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है। धार्मिक कार्यों मे आप अग्रणी रहते है। धर्म और शासन के प्रति आपकी भक्ति सराहनीय है।

विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि श्री चोरडियाजी धन-जन से, सभी ओर से समृद्ध होने पर भी, अत्यन्त विनम्र है। आपका अन्त करण बहुत भद्र है। अहकार आपके अन्तस् को छू नही सका है।

प्रस्तुत आगम के प्रकाशन मे आपका विशिष्ट आर्थिक सहयोग है। अतएव समिति इसके लिए आभारी है और आशा करती है कि भविष्य मे भी आपका सहयोग प्राप्त रहेगा।

☐ मन्त्री

श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर

प्रस्तावना

(प्रथम सस्करण से)

औपपातिकसूत्र : एक समीक्षात्मक अध्ययन

जैन आगम साहित्य का प्राचीनतम वर्गीकरण समवायाग मे प्राप्त है। वहाँ पूर्व और अग के रूप मे विभाग किया गया है। सख्या की दृष्टि से पूर्व चौदह[1] थे और अग बारह[2] थे।

नन्दीसूत्र मे दूसरा आगमो का वर्गीकरण मिलता है। वहाँ सम्पूर्ण आगम साहित्य को अंगप्रविष्ट और अगबाह्य के रूप मे विभक्त किया है।[3]

आगमो का तीसरा वर्गीकरण अग, उपाग, मूल और छेद के रूप मे किया गया है। यह वर्गीकरण सभी से उत्तरवर्ती है।

नन्दीसूत्र मे आचार्य देववाचक ने मूल और छेद ये दो विभाग नही किये है और न उपाग शब्द का प्रयोग ही किया है। उपाग शब्द अर्वाचीन है। "उपाग" शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग आगमो के लिए किसने किया ? यह शोधार्थियो के लिए अन्वेषणीय है।

आचार्य उमास्वाति ने जो जैनदर्शन के तलस्पर्शी मूर्धन्य मनीषी थे, प्रज्ञाचक्षु प सुखलालजी संघवी ने जिनका समय विक्रम की प्रथम शताब्दी से चतुर्थ शताब्दी के मध्य माना है[४], तत्त्वार्थभाष्य मे अग के साथ उपाग शब्द का प्रयोग किया है और उपाग मे उनका तात्पर्य अगबाह्य आगम है।[५]

---

१ चउदस पुव्वा पण्णत्ता, त जहा—

उप्पायपुव्वमग्गेणिय च तइय च वीरिय पुव्व।
अत्थीनत्थिपवाय तत्तो नाणप्पवाय च॥
सच्चप्पवायपुव्व तत्तो आयप्पवायपुव्व च।
कम्मप्पवायपुव्व पच्चक्खाण भवे नवम॥
विज्जाअणुप्पवाय अवझपाणाउ बारस पुव्व।
तत्तो किरियविसाल पुव्व तह बिदुसार च॥

—समवायाग, समवाय-१४

२ समवायाग, समवाय १३६

३ अहवा त समासओ दुविह पण्णत्त त जहा—अङ्गपविट्ठ अङ्गबाहिर च। - नन्दी, सूत्र ४३

४ तत्त्वार्थसूत्र—प सुखलालजी, विवेचन पृ ९

५ अन्यथा हि अनिबद्धमगोपागश समुद्रप्रतरणवद् दुरध्यवसेय स्यात्। —तत्त्वार्थभाष्य १-२०

आचार्य श्रीचन्द्र ने सुखबोधा समाचारी की रचना की है, जिनका समय ई ११११२ से पूर्व माना जाता है। उन्होंने आगम के स्वाध्याय की तपोविधि का वर्णन करते हुए अगबाह्य के अर्थ मे ही उपाग शब्द का प्रयोग किया है।[६]

आचार्य जिनप्रभ ने 'विधिमार्गप्रपा' ग्रन्थ की सरचना की। यह ग्रन्थ ई १३०६ मे पूर्ण हुआ। प्रस्तुत ग्रन्थ मे आगमो की स्वाध्याय-तप-विधि का वर्णन करते हुए 'इयाणि उवगा' लिखकर जिस अग का जो उपाग है उसका उल्लेख किया है।[७]

जिनप्रभ ने 'वायणाविही' की उत्थानिका मे जो वाक्य दिया है, उसमे भी उपाग विभाग का उल्लेख हुआ है।[८]

प बेचरदासजी दोशी का अभिमत है कि चूर्णि साहित्य मे 'उपाग' शब्द आया है। वह शब्द कहाँ-कहाँ आया है ? यह अन्वेषणीय है[९] (क)।

प्राचीन वैदिक परम्परा के ग्रन्थो मे भी अग और उपाग ग्रन्थो की कल्पना की गई है। वेदो के गम्भीर रहस्य को वेदागो मे स्पष्ट किया गया है। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, निरुक्त और ज्योतिष ये छह अग है और उनकी व्याख्या करने वाले ग्रन्थ उपाग माने गये है[९] (ख)। वेदो के चार उपाग माने गये है—पुराण, न्याय, मीमासा और धर्मशास्त्र[९] (ग)। चारो वेदो के समकक्ष चार उपवेदो की भी कल्पना की गई है, जो आयुर्वेद, गान्धर्ववेद, धनुर्वेद और अर्थशास्त्र के रूप मे प्रसिद्ध है। वेदो के अग और उपाग की कल्पना जो है, उसकी सार्थकता समझ मे आती है कि उनके बिना याज्ञिक रूप से क्रियान्विति सम्भव नही है। अत उनका अध्ययन आवश्यक माना, पर दार्शनिक दृष्टि से उपवेदो की कल्पना क्यो की गई ? यह स्पष्ट नही है। जैसे—सामवेद का सम्बन्ध गान्धर्ववेद से जोडा जा सकता है, वैसे अन्य वेदो की भी अन्य उपवेदो मे सगति बिठाना असम्भव तो नही है। पर वह केवल तर्क-कौशल ही है, वाद-नैपुण्य की परिसीमा मे आता है। उपसर्ग के साथ निष्पन्न शब्दो मे पूरकता का विशिष्ट गुण होना चाहिए। उसका उसमे अभाव है। उदाहरण के रूप मे जैसे - गान्धर्व उपवेद सामवेद से निकला हुआ या उससे विकसित शास्त्र सम्भव है पर वह सामवेद का पूरक कैसे ? उसके अभाव मे सामवेद अपूर्ण है, यह कैसे कहा जा सकता है ? सामवेद और गान्धर्व उपवेदो की तो कुछ सगति बिठाई जा सकती है पर अन्य वेदो के साथ वह सम्भव नही है। यदि ऐसा किया भी गया तो वह सीधा समाधान नही है। सम्भव

---

६ सुखबोधासमाचारी पृ ३१-३४

७ *जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग-१ प्रस्तावना* -दलसुखभाई मालवणिया, पृ ३८

८ एव कप्पतिप्पाइविहि पुरस्सर साहू समाणियसयलजोगविही मूलगन्थ नन्दि-अणुओगदार-उत्तरज्झयण-इसिभासिय-अग-उवाग-पइण्णय-छेयगन्थआगमेवाइज्जा।—वायणाविहि पृ ६४ जैन सा बृ इ प्रस्तावना, पृ ४०-४१

९ (क) जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग-१ —जैनश्रुत पृ ३०

९ (ख) छन्द पादौ तु वेदस्य, हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयन चक्षुर्निरुक्त श्रोत्रमुच्यते ॥
शिक्षा घ्राण तु वेदस्य, मुख व्याकरण स्मृतम्।
तस्मात् सागमधीत्यैव, ब्रह्मलोके महीयते ॥ —पाणिनीय शिक्षा, ४१-४२

९ (ग) पुराणन्यायमीमासा धर्मशास्त्रागमिश्रिता।
वेदा स्थानानि विद्याना धर्मस्य च चतुर्दश ॥ —याज्ञवल्क्य स्मृति, १-३

है धनुर्वेद प्रभृति लौकिक शास्त्रों का मूल उद्गम स्रोत वेद हैं, यह बताने के लिए ही यह उपक्रम किया गया हो। अस्तु।

अगो का उल्लेख जिस प्रकार प्राचीन आगम ग्रन्थो मे हुआ है और उनकी सख्या बारह बताई है, वहाँ बारह उपागो का उल्लेख नही हुआ है। नन्दीसूत्र मे भी कालिक और उत्कालिक के रूप मे उपागो का उल्लेख है। पर बारह उपांगो के रूप मे नही। बारह उपागो का उल्लेख बारहवी शताब्दी से पहले के ग्रन्थो मे नही है।

यह निर्विवाद है कि अगो के रचयिता गणधर है और उपागो के रचयिता विभिन्न स्थविर है। इसलिए अग और उपाङ्ग का परस्पर एक दूसरे का कोई सम्बन्ध नही है। तथापि आचार्यों ने प्रत्येक अग का एक उपाग माना है। आचार्य अभयदेव ने औपपातिक को आचाराग का उपाग माना है। आचार्य मलयगिरि ने राजप्रश्नीय को सूत्रकृताग का उपाग माना है पर गहराई से अनुचिन्तन करने पर जीवाभिगम और स्थानाग का, सूर्यप्रज्ञप्ति और भगवती का, चन्द्रप्रज्ञप्ति तथा उपासकदशाग का, वण्हिदसा और दृष्टिवाद का पारस्परिक सम्बन्ध सिद्ध नही होता। इस क्रम के पीछे उस युग की क्या परिस्थितियाँ थी, यह शोधार्थियो के लिए अन्वेषणीय है। सम्भव है, जब आगम-पुरुष की कमनीय कल्पना की गई, जहाँ उसके अग स्थानीय आगमो की परिकल्पना और अग सूत्रो की तत्स्थानिक प्रतिष्ठापना का प्रश्न आया, तब यह क्रम बिठाया गया हो।

आधुनिक चिन्तको का यह भी अभिमत है कि औपपातिक का उपागो मे प्रथम स्थान है, वह उचित नही है, क्योकि ऐतिहासिक दृष्टि मे प्रज्ञापना का प्रथम स्थान होना चाहिए। कारण यह है कि प्रज्ञापना के रचयिता श्यामाचार्य है जो महावीर निर्वाण के तीन सौ पैंतीस मे युगप्रधान आचार्य पद पर विभूषित हुए थे। इस दृष्टि से प्रज्ञापना प्रथम उपाग होना चाहिए। हमारी दृष्टि से औपपातिक को जो प्रथम स्थान मिला है, वह उसकी कुछ मौलिक विशेषताओ के कारण ही मिला है। इसके सम्बन्ध मे हम आगे की पक्तियो मे चिन्तन करेगे।

यह पूर्ण सत्य है कि आचाराग मे जो विषय चर्चित हुए है, उन विषयो का विश्लेषण जैसा औपपातिक मे चाहिए, वैसा नही हुआ है। उपाग अगो के पूरक और यथार्थ सगति बिठाने वाले नही है, किन्तु स्वतन्त्र विषयो का निरूपण करने वाले है। मूर्धन्य मनीषियो के लिए ये सारे प्रश्न चिन्तनीय है।

औपपातिक प्रथम उपाग है। अगो मे जो स्थान आचाराग का है, वही स्थान उपागो मे औपपातिक का है। प्रस्तुत आगम के दो अध्याय है। प्रथम का नाम समवसरण है और दूसरे का नाम उपपात है। द्वितीय अध्याय मे उपपात सम्बन्धी विविध प्रकार के प्रश्न चर्चित है। नवागी टीकाकार आचार्य अभयदेव ने औपपातिक-वृत्ति मे लिखा है—उपपात-जन्म देव और नारकियो के जन्म तथा सिद्धि-गमन का वर्णन से प्रस्तुत आगम का नाम औपपातिक है[१०]।

विन्टरनित्ज ने औपपातिक के स्थान पर उपपादिक शब्द का प्रयोग किया है। पर औपपातिक मे जो अर्थ की गम्भीरता है, वह उपपादिक शब्द मे नही है। प्रस्तुत आगम का प्रारम्भिक अश गद्यात्मक है और अतिम अश पद्यात्मक है। मध्य भाग मे गद्य और पद्य का सम्मिश्रण है। किन्तु कुल मिला कर प्रस्तुत सूत्र का अधिकाश भाग गद्यात्मक ही है। इसमे एक ओर जहाँ राजनैतिक, सामाजिक और नागरिक तथ्यो की चर्चाएँ की है, दूसरी ओर धार्मिक, दार्शनिक एव सास्कृतिक तथ्यो का भी सुन्दर प्रतिपादन हुआ है। इस आगम की यह सबसे बडी

---

१० उपपतन उपपातो—देव-नारक-जन्म सिद्धिगमन च। अतस्तमधिकृत्य कृतमध्ययनमौपपातिकम्।

—औप अभयदेव वृत्ति

विशेषता है कि इसमे जो विषय चर्चित किये गये हैं, वे विषय पूर्ण विस्तार के साथ चर्चित हुए हैं। यही कारण है कि भगवती आदि अग-आगमो मे प्रस्तुत सूत्र को देखने का सूचन किया गया, जो इस आगम के वर्णन की मौलिकता सिद्ध करता है। श्रमण भगवान् महावीर का आनख-शिख समस्त अगोपागो का विशद वर्णन इसमे किया गया है, वैसा वर्णन अन्य किसी भी आगम मे नही है। भगवान् महावीर की शरीर-सम्पत्ति को जानने के लिए यह आगम एकमात्र आधार है। इसमे भगवान् के समवसरण का सजीव चित्रण हुआ है। भगवान् महावीर की उपदेश-विधि भी इसमे सुरक्षित है।

चम्पा नगरी : एक विश्लेषण

चम्पा अगदेश की राजधानी थी। अथर्ववेद मे अग का उल्लेख है।[११] गोपथ ब्राह्मण मे भी अग और मगध का एक साथ उल्लेख हुआ है।[१२] पाणिनीय अष्टाध्यायी मे भी अग का नाम बग, कलिग और पुण्ड्र आदि के नामो के साथ उल्लिखित है।[१३] रामायण मे अग शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए एक आख्यायिका दी है।[१४] शिव की क्रोधाग्नि से बचने के लिए कामदेव इस प्रदेश मे भागकर आया। अग का परित्याग कर वह अनग हो गया। इस घटना से प्रस्तुत क्षेत्र का नाम अग हुआ। जातको से यह भी परिज्ञात होता है कि तथागत बुद्ध से पूर्व राज्यसत्ता के लिए मगध और अग मे परस्पर सघर्ष होता था।[१५] बुद्ध के समय अग मगध का ही एक विभाग था। राजा श्रेणिक अग और मगध इन दोनो का अधिपति था। त्रिपिटक-साहित्य मे अग और मगध को साथ मे रखकर 'अग-मगधा' द्वन्द्व समास के रूप मे प्रयुक्त हुआ है।[१६] 'चम्पेय जातक' के अनुसार चम्पा नदी अग और मगध इन दोनो का विभाजन करती थी, जिसके पूर्व और पश्चिम मे दोनो जनपद बसे हुए थे। अग जनपद की पूर्वी सीमा राजप्रासादो की पहाडियाँ, उत्तरी सीमा कोसी नदी, दक्षिण मे उसका समुद्र तक विस्तार था। पार्जिटर ने पूर्णिया जिले के पश्चिमी भाग को अग जनपद के अन्तर्गत माना है।[१७] महाभारत के अनुसार अग नामक राजा के नाम पर जनपद का नाम अग पडा।

कनिंघम ने लिखा है—'भागलपुर से ठीक चौबीस मील पर पत्थर घाट है। इसके आस-पास चम्पा की अवस्थिति होनी चाहिए। इसके पास ही पश्चिम की ओर एक बडा गाँव है, जिसे चम्पानगर कहते है और एक छोटा सा गाँव है, जिसे चम्पापुर कहते है, सम्भव है, ये दोनो गाँव प्राचीन राजधानी 'चम्पा' की सही स्थिति को प्रकट करते हो।"[१८]

फाहियान ने चम्पा को पाटलीपुत्र से अठारह योजन पूर्व दिशा मे गगा के दक्षिणी तट पर अवस्थित

---

११ अथर्ववेद—५-२२-१४.

१२ गोपथ ब्राह्मण—२-९

१३. अष्टाध्यायी—४-१-१७०

१४ रामायण—४७-१४

१५ जातक, पालिटैक्स्ट-सोसायटी, जिल्द-४, पृ ४५४, जिल्द ५वी पृ ३१६ जिल्द छठी पृ २७१

१६ (क) दीघनिकाय-३।५

(ख) मज्झिमनिकाय-२।३।७

(ग) थेरीगाथा-बम्बई विश्वविद्यालय सस्करण, गाथा ११०

१७ जर्नल ऑव एशियाटिक सोसायटी ऑव बगाल, सन् १८९७ पृ ९५

१८ दी एन्शियण्ट ज्योग्राफी आफ इण्डिया, पृ ५४६-५४७

माना है।[19] महाभारत की दृष्टि से चम्पा का प्राचीन नाम 'मालिनी' था। महाराज चम्प ने इसका नाम चम्पा रखा। चम्पा के 'चम्पावती', 'चम्पापुरी', 'चम्पानगर' और 'चम्पामालिनी' आदि नाम प्राप्त होते हैं।[20] दीघ-निकाय के अनुसार इस महानगरी का निर्माण महागोविन्द ने किया था।[21] चम्पक वृक्षो का बाहुल्य होने के कारण इस नगरी का नाम चम्पा पडा हो।

दीघनिकाय के अनुसार चम्पा एक विशालनगरी थी।[22] जातको मे आये हुए वर्णन से यह स्पष्ट है कि चम्पा के चारो ओर एक सुन्दर खाई थी और बहुत सुदृढ प्राचीर था।[23] पालि ग्रन्थो के अनुसार चम्पा मे "गग्गरापोखरणी" नामक एक कासार था, जिसका निर्माण गग्गरा नामक महारानी ने करवाया था। प्रस्तुत कासार के तट पर चम्पक वृक्षो का एक बहुत ही सुन्दर गुल्म था, जिसके कारण सन्निकट का प्रदेश अत्यन्त सौरभ-युक्त था। तथागत बुद्ध जब भी चम्पा मे आते थे, वे गग्गरापोखरणी के तट पर ही रुकते थे।[24] इस महानगरी की रमणीयता के कारण ही आनन्द ने गौतम बुद्ध के महापरिनिर्वाण के उपयुक्त नगरो मे इस नगरी की परि-कल्पना की थी। तथागत बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित होने के कारण बौद्धयात्री समय-समय पर इसी नगरी के अवलोकनार्थ आये। चीनी यात्री फाहियान ने चम्पा का वर्णन करते हुए लिखा है, चम्पा नगर पाटलीपुत्र से अठारह योजन की दूरी पर स्थित था। उसके अनुसार चम्पा गगा नदी के दक्षिण तट पर बसा हुआ था। चीनी यात्रियो के समय चम्पा नगरी का ह्रास प्रारम्भ हो गया था। उसने वहाँ पर स्थित विहारो का उल्लेख किया है।[25] ट्वान्च्वाग भारतीय सास्कृतिक केन्द्रो का निरीक्षण करता हुआ चम्पा पहुँचा था। वह इरण पर्वत मे तीन सौ ली [पचास मील] की दूरी समाप्त कर चम्पा पहुँचा था। उसके अभिमतानुसार चम्पा देश की परिधि चार सौ "ली"। [सत्तर मील] थी और नगर की परिधि चालीस ली [सात मील] वह भी चम्पा को गगा के दक्षिण तट पर अवस्थित मानता है। इसके आगमन के समय यह नगरी बहुत कुछ विनष्ट हो चुकी थी।

स्थानाग मे जिन दश महानगरियो का उल्लेख है, उनमे चम्पा भी एक है। यह राजधानी थी। बारहवें तीर्थंकर वासुपूज्य की यह जन्मभूमि थी। आचार्य शय्यभव ने दशवैकालिक सूत्र की रचना इस नगरी मे की थी। 'विविध तीर्थ कल्प' के अनुसार सम्राट् श्रेणिक के निधन के पश्चात् सम्राट् कूणिक को राजगृह मे रहना अच्छा न लगा। एक स्थान पर चम्पा के सुन्दर उद्यान को देखकर चम्पानगर बसाया।[26]

---

१९ ट्रैवेल्स ऑफ फाहियान, पृ ६५

२० ला बी सी, इण्डोलॉजिकल स्टडीज, पृ ४९

२१ "दन्तपुर कलिङ्गानमस्सकानाञ्च पोतनम्।
माहिस्सती अवन्तीनम् सोवीराञ्च रोरुकम्॥
मिथला च विदेहानम् चम्पा अङ्गेसु मापिता।
वाराणसी च कासीनम् एते गोविन्द-मापितेती॥
—दीघनिकाय, १९, ३६।

२२ दीघनिकाय-२-१४६

२३ जातक-४।४५४

२४. मललसेकर-२।७२४

२५ लेग्गे, फाहियान-१००

२६. विविध तीर्थ कल्प,—पृ ६५

श्रीकल्याणविजय गणि के अभिमतानुसार चम्पा पटना से पूर्व [कुछ दक्षिण में] लगभग सौ कोश पर थी, जिसे आज चम्पकमाला कहते हैं। यह स्थान भागलपुर से तीन मील दूर पश्चिम में है।[२७]

चम्पा उस युग मे व्यापार का प्रमुख केन्द्र था, जहाँ पर माल लेने के लिए दूर-दूर से व्यापारी आते थे। चम्पा के व्यापारी भी माल लेकर के मिथिला, अहिच्छत्रा और पिहुण्ड [चिकाकोट और कलिंगपट्टम का एक प्रदेश] आदि मे व्यापारार्थ जाते थे।[२८] चम्पा और मिथिला मे साठ योजन का अन्तर था।

मज्झिमनिकाय के अनुसार पूर्ण कस्सप, मक्खलिगोसाल, अजितकेसकम्बलिन, पकुधकच्चायन, सञ्जय बेलट्ठिपुत्त तथा निग्गन्थनाथपुत्त का वहाँ पर विचरण होता था।[२९] जैन इतिहास के अनुसार भगवान् महावीर अनेक बार चम्पा नगरी मे पधारे थे और उन्होने ५६७ ई पूर्व मे तीसरा, ५५८ ई पूर्व मे बाहरवा और सन् ई पूर्व ५४४ मे छब्बीसवाँ वर्षावास चम्पानगरी मे किया था।[३०] भगवान् महावीर चम्पा के उत्तर-पूर्व मे स्थित पूर्णभद्र नामक चैत्य मे विराजते थे।

प्रस्तुत आगम मे चम्पा का विस्तृत वर्णन है। वह वर्णन परवर्ती साहित्यकारो के लिए मूल आधार रहा है। प्राचीन वस्तुकला की दृष्टि से इस वर्णन का अनूठा महत्त्व है। प्राचीन युग मे नगरो का निर्माण किस प्रकार होता था, यह इस वर्णन से स्पष्ट है। नगर की शोभा केवल गगनचुम्बी प्रासादो से ही नही होती, किन्तु सघन वृक्षो से होती है और वे वृक्ष लहलहाते है पानी की सरसब्जता से। इसलिए नगर के साथ ही पूर्णभद्र चैत्य का उल्लेख हुआ है। वनखण्ड मे विविध प्रकार के वृक्ष थे, लताए थी और नाना प्रकार के पक्षियो का मधुर कलरव था।

सम्राट् कूणिक : एक चिन्तन

चम्पा का अधिपति कूणिक सम्राट था। कूणिक का प्रस्तुत आगम मे विस्तार से निरूपण है। वह भगवान् महावीर का परम भक्त था। उसकी भक्ति का जीता-जागता चित्र इसमे चित्रित है। उसी तरह कूणिक अजातशत्रु को बौद्ध परम्परा मे भी बुद्ध का परम भक्त माना है। सामञ्ञफलसुत्त के अनुसार तथागत बुद्ध के प्रथम दर्शन मे ही वह बौद्ध धर्म को स्वीकार करता है।[३१] बुद्ध की अस्थियो पर स्तूप बनाने के लिए जब बुद्ध के भग्नावशेष बाँटे जाने लगे, तब अजातशत्रु ने कुशीनारा के मल्लो को कहलाया कि बुद्ध भी क्षत्रिय थे, मैं भी क्षत्रिय हूँ, अत अवशेषो का एक भाग मुझे मिलना चाहिए। द्रोण विप्र की सलाह से उसे एक अस्थिभाग मिला और उसने उस पर एक स्तूप बनवाया।[३२]

यह सहज ही जिज्ञासा हो सकती है कि अजातशत्रु कूणिक जैन था या बौद्ध था ? उत्तर मे निवेदन है

---

२७ श्रमण भगवान् महावीर, पृ ३६९

२८ (क) ज्ञातृधर्मकथा, ८, पृ ९७, ९, पृ १२१-१५, पृ १५९

(ख) उत्तराध्ययन-२१।२

२९ मज्झिमनिकाय, २।२

३० भगवान् महावीर का एक अनुशीलन—परिशिष्ट-१-२ देवेन्द्रमुनि

३१ एसाह भन्ते, भगवन्त शरण गच्छामि धम्म च भिक्खुसघ च। उपासक म भगवा धारेतु अज्जतग्गे पाणुपेत सरण गत। —सामञ्ञफलसुत्त

३२. बुद्धचर्या, पृ ५०९

कि प्रस्तुत आगम मे जो वर्णन है, उसके सामने सामञ्ञफलसुत्त का वर्णन शिथिल है, उतना महत्त्वपूर्ण नही है। सामञ्ञफलसुत्त मे केवल इतना ही वर्णन है कि आज से भगवान् मुझे अजलिबद्ध शरणागत उपासक समझे पर प्रस्तुत आगम मे श्रमण भगवान् महावीर के प्रति अनन्य भक्ति कूणिक की प्रदर्शित की गई है। उसने एक प्रवृत्ति-वादुक (सवाददाता) व्यक्ति की नियुक्ति की थी। उसका कार्य था भगवान् महावीर की प्रतिदिन की प्रवृत्ति से उसे अवगत कराते रहना। उसकी सहायता के लिए अनेक कर्मकर नियुक्त थे, उनके माध्यम से भ महावीर के प्रतिदिन के समाचार उस प्रवृत्ति-वादुक को मिलते और वह राजा कूणिक को बताता था। उसे कूणिक विपुल अर्थदान देता था। प्रवृत्ति-वादुक द्वारा समाचार ज्ञात होने पर भक्ति-भावना से विभोर होकर अभिवन्दन करना, उपदेश श्रवण के लिए जाना और निर्ग्रन्थ धर्म पर अपनी अनन्य श्रद्धा व्यक्त करना। इस वर्णन के सामने तथागत बुद्ध के प्रति जो उसकी श्रद्धा है, वह केवल औपचारिक है।*

अजातशत्रू कूणिक का बुद्ध से साक्षात्कार केवल एक बार होता है, पर महावीर से उसका साक्षात्कार अनेक बार होता है।[33] भगवान् महावीर के परिनिर्वाण के पश्चात् भी महावीर के उत्तराधिकारी गणधर सुधर्मा की धर्म-सभा मे भी वह उपस्थित होता है।[34]

डा स्मिथ का मन्तव्य है—बौद्ध और जैन दोनो ही अजातशत्रु को अपना-अपना अनुयायी होने का दावा करते है, पर लगता है जैनो का दावा अधिक आधारयुक्त है।[35]

डॉ राधाकुमुद मुखर्जी ने लिखा है—महावीर और बुद्ध की वर्तमानता मे तो अजातशत्रु महावीर का ही अनुयायी था।[36] उन्होने आगे चलकर यह भी लिखा है, जैसा प्राय देखा जाता है, जैन अजातशत्रु और उदाईभद्द दोनो को अच्छे चरित्र का बतलाते है। क्योकि दोनो जैनधर्म को मानने वाले थे। यही कारण है कि बौद्ध ग्रन्थो मे उनके चरित्र पर कालिख पोती गई है।[37]

अजातशत्रु बुद्ध का अनुयायी नही था, इसके भी अनेक कारण है—

१ अजातशत्रु की देवदत्त के साथ मित्रता थी, जबकि देवदत्त बुद्ध का विरोधी शिष्य था।

२ अजातशत्रु की वज्जियो के साथ शत्रुता थी, वज्जी लोग बुद्ध के परम भक्तो मे थे।

३ अजातशत्रु ने प्रसेनजित् के साथ युद्ध किया, जबकि प्रसेनजित बुद्ध का परम भक्त और अनुयायी था।

तथागत बुद्ध की अजातशत्रु के प्रति सद्भावना नही थी। उन्होने अजातशत्रु के सम्बन्ध मे अपने भिक्षुओ को कहा—इस राजा का सस्कार अच्छा नही है। यह राजा अभागा है। यदि यह राजा अपनेधर्मराज-पिता की हत्या न करता तो आज इसी आसन पर बैठे-बैठे इसे नीरज-निर्मल धर्म-चक्षु उत्पन्न हो जाता।[38] देवदत्त के

---

* आगम और त्रिपिटक एक अनुशीलन, पृ ३३३

३३ स्थानागवृत्ति, स्था ४, उ ३

३४ (क) ज्ञाताधर्मकथागसूत्र, सू १-५
(ख) परिशिष्ट पर्व, सर्ग ४, श्लो १५-५४

35 Both Buddhists and Jains claimed his one of Themselves The Jain claim appears to be well founded—Oxford History of India by V A Smith, Second Edition Oxford 1923, P 51

३६ हिन्दू सभ्यता, पृ १९०-१

३७ हिन्दू सभ्यता, पृ २६४

३८ दीघनिकाय सामञ्ञफलसुत्त, पृ ३२

प्रसंग को लेकर बुद्ध ने कहा—भिक्षुओ ! मगधराज अजातशत्रु, जो भी पापी हैं, उनके मित्र हैं। उनसे प्रेम करते हैं और उनसे संसर्ग रखते हैं।[३९]

जातकअट्ठकथा के अनुसार तथागत बुद्ध एक बार बिम्बिसार को धर्मोपदेश कर रहे थे। बालक अजातशत्रु को बिम्बिसार ने गोद मे बिठा रखा था और वह क्रीडा कर रहा था। बिम्बिसार का ध्यान तथागत बुद्ध के उपदेश मे न लगकर अजातशत्रु की ओर लगा हुआ था, इसलिए बुद्ध ने उसका ध्यान अपनी ओर आकर्षित करते हुए एक कथा कही, जिसका रहस्य था कि तुम इसके मोह मे मुग्ध हो पर यही अजातशत्रु बालक तुम्हारा घातक होगा।[४०]

अवदानशतक के अनुसार बिम्बिसार ने बुद्ध की वर्तमान अवस्था मे ही बुद्ध के नख और केशो पर एक स्तूप अपने राजमहल मे बनवाया था। राजरानियाँ धूप-दीप और पुष्पो से उसकी अर्चना करती थी। जब अजातशत्रु राजसिंहासन पर आसीन हुआ, उसने सारी अर्चना बन्द करवा दी। श्रीमती नामक एक महिला ने उसकी आज्ञा की अवहेलना कर पूजा की, जिस कारण उसे मृत्युदण्ड दिया गया।[४१]

बौद्धसाहित्य के जाने माने विद्वान् राइस डेविड्स लिखते हैं--वार्तालाप के अन्त मे अजातशत्रु ने बुद्ध को स्पष्ट रूप से अपना मार्गदर्शक स्वीकार किया और पितृ-हत्या का पश्चात्ताप भी व्यक्त किया। पर यह असदिग्ध है कि उसने धर्म-परिवर्तन नही किया। इस सम्बन्ध मे एक भी प्रमाण नही है। इस हृदयस्पर्शी प्रसग के बाद वह तथागत बुद्ध की मान्यताओ का अनुसरण करता रहा हो, यह सभव नही है। जहाँ तक मैं जान पाया हूँ, उसके पश्चात् उसने बुद्ध के अथवा बौद्ध सघ के अन्य किसी भी भिक्षु के न कभी दर्शन किये और न उनके साथ धर्मचर्यायें की और न उसने बुद्ध के जीवन-काल मे भिक्षु-सघ को कभी आर्थिक सहयोग भी किया। इतना तो अवश्य मिलता है कि बुद्ध निर्वाण के बाद उसने बुद्ध की अस्थियो की माग की पर वह भी यह कह कर कि मैं भी बुद्ध की तरह क्षत्रिय हूँ। और उन अस्थियो पर बाद मे एक स्तूप बनवाया। दूसरी बात उत्तरवर्ती ग्रन्थो मे यह भी मिलती है कि बुद्ध-निर्वाण के पश्चात् राजगृह मे प्रथम सगति हुई, तब अजातशत्रु ने सप्तपर्णी गुफा के द्वार पर एक सभाभवन बनवाया था, जहाँ बौद्धपिटको का सकलन हुआ। परन्तु इस बात का बौद्धधर्म के प्राचीनतम और मौलिक ग्रन्थो मे किंचिन्मात्र भी न तो उल्लेख है और न सकेत ही है। यह सम्भव है कि उसमे बौद्धधर्म को बिना स्वीकार किये ही उसके प्रति सहानुभूति व्यक्त की हो। यह तो सब उसने केवल भारतीय राजाओ की उस प्राचीन परम्परा के अनुसार किया हो। सभी धर्मों का सरक्षण करना राजा अपना कर्त्तव्य मानता था।[४२]

धम्मपद अट्ठकथा में कुछ ऐसे प्रसग दिये गये हैं। जो अजातशत्रु कूणिक की बुद्ध के प्रति दृढ श्रद्धा व्यक्त करते हैं पर उन प्रसगो को आधुनिक मूर्धन्य मनीषीगण किंवदन्ती से रूप मे स्वीकार करते हैं।[४३] उसका अधिक मूल्य नही है। कुछ ऐसे प्रसग भी अवदानशतक आदि मे आये हैं, जिससे अजातशत्रु की बुद्ध के प्रति विद्वेष

---

३९ विनयपिटक, चुल्लवग्ग सगभेदक खधक-७

४० जातकअट्ठकथा, थुस जातक सम. ३३८

४१ अवदानशतक, ५४

४२ Buddhist India, PP 15 16

४३ धम्मपद अट्ठकथा-१०-७; खण्ड-२, ६०५-६०६

भावना व्यक्त होती है।[४४] लगता है, ये दोनो प्रकार के प्रसग कुछ अति मात्रा को लिये हुए हैं। उनमें तटस्थता का अभाव सा है।

सारांश यह है, अजातशत्रु कूणिक के अन्तर्मानस पर उसकी माता चेलना के सस्कारो का असर था। चेलना के प्रति उसके मानस मे गहरी निष्ठा थी। चेलना ने ही कूणिक को यह बताया था कि तेरे पिता राजा श्रेणिक का तेरे प्रति कितना स्नेह था? उन्होने तेरे लिए कितने कष्ट सहन किये थे! आवश्यकचूर्णि,[४५] त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र[४६] प्रभृति जैन ग्रन्थो मे उसका अपर नाम 'अशोकचन्द्र' भी मिलता है चेलना भगवान् महावीर के प्रति अत्यन्त निष्ठवान् थी। चेलना के पूज्य पिता राजा 'चेटक' महावीर के परम उपासक थे।[४७] इसलिए अजातशत्रु कूणिक जैन था। यह पूर्ण रूप से स्पष्ट है।

कूणिक की रानियो मे पद्मावती,[४८] धारिणी[४९] और सुभद्रा[५०] प्रमुख थी। आवश्यकचूर्णि[५१] मे आठ कन्याओ के साथ उसके विवाह का वर्णन है पर वहाँ आठो कन्याओ के नाम नही हैं। महारानी पद्मावती का पुत्र उदायी था, वह मगध के राजसिंहासन पर आसीन हुआ था। उसने चम्पा से अपनी राजधानी हटा कर पाटलीपुत्र मे स्थापित की थी।[५२]

भगवान् महावीर

जैन इतिहास मे भगवान् महावीर के भक्त अनेक सम्राटो का उल्लेख है, जो महावीर के प्रति अनन्य श्रद्धा रखते थे। आठ राजाओ ने तो महावीर के पास आर्हती दीक्षा भी स्वीकार की थी। किन्तु कूणिक एक ऐसा सम्राट् था, जो प्रतिदिन महावीर के समाचार प्राप्त करता था और उसके लिए उसने एक पृथक् व्यवस्था कर रखी थी। दूसरे सम्राटो मे यह विशेषता नही थी। इन सभी से यह सिद्ध है कि राजा कूणिक की महावीर के प्रति अपूर्व भक्ति थी।

भगवान् महावीर अपने शिष्य-समुदाय के साथ चम्पा नगरी मे पधारते हैं। उनके तेजस्वी शिष्य कितने ही आरक्षक-दल के अधिकारी थे तो कितने ही राजा के मत्री-मण्डल के सदस्य थे, कितने ही राजा के परामर्श-मण्डल के सदस्य थे। सैनिक थे, सेनापति थे। यह वर्णन यह सिद्ध करता है कि बुभुक्षु नही किन्तु मुमुक्षु श्रमण बनता है। जिस साधक मे जितनी अधिक वैराग्य-भावना सुदृढ होती है, वह उतना ही साधना के पथ पर आगे बढता है। "नारि मुई घर सम्पति नासी, मू ड मु डाय भये सन्यासी" यह कथन प्रस्तुत आगम को पढने से खण्डित होता है। महावीर के शासन मे ऐरे-गेरे व्यक्तियो की भीड नही थी पर ऐसे तेजस्वी और वर्चस्वी व्यक्तियो का साम्राज्य था, जो स्वय साधना के सच्चे पथिक थे। वे ज्ञानी भी थे, ध्यानी भी थे, लब्धिधारी भी थे और विविध शक्तियो के धनी भी थे।

---

४४ अवदानतक-५४

४५ आवश्यकचूर्णि उत्तरार्द्ध

४६ त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र

४७ आवश्यकचूर्णि उत्तरार्द्ध पत्र-१६४

४८ तस्स ण कूणियस्स रण्णो पउमावई नाम देवी होत्था। —निरयावली, सूत्र-८

४९ उववाई सूत्र १२

५० औपपातिक सूत्र-५५

५१ कुणियस्स अट्ठहिं रायवरकण्णाहिं सम विवाहो कतो। —आव चूर्णि उत्त पत्र-१६७

५२ आवश्यक चूर्णि—पत्र-१७७

भगवान् महावीर के चित्ताकर्षक व्यक्तित्व को विविध उपमाओ से मण्डित कर हूबहू शब्द चित्र उपस्थित किया है, विराट् कृतित्व के धनी का व्यक्तित्व यदि अद्भुत नही है, तो जन-मानस पर उसका प्रभाव नही पड सकता। यही कारण है कि विश्व के सभी चिन्तको ने अपने महापुरुष को सामान्य व्यक्तियो से पृथक् रूप मे विशिष्ट रूप से चित्रित किया है। तीर्थंकर विश्व मे सबसे महान् अनुपम शारीरिक-वैभव से विभूषित होते हैं। उनके शरीर मे एक हजार आठ प्रशस्त लक्षण बताये गए हैं। डा विमलचरण लॉ ने लिखा है—बौद्ध साहित्य बुद्ध के शरीरगत लक्षणो की सख्या बाईस बताते हैं, वहाँ औपपातिक सूत्र मे महावीर के शरीरगत लक्षणो की सख्या आठ हजार बताई है।[५३] डॉ विमलचरण लॉ को यहाँ पर सख्या के सम्बन्ध मे भ्रान्ति हुई है। प्रस्तुत आगम में "अट्ठसहस्स" यह पाठ है और टीकाकार ने 'अष्टोत्तर सहस्रम्' लिखा है।[५४] जिसका अर्थ एक हजार आठ है। तीर्थंकर जैन दृष्टि से एक विलक्षण व्यक्तित्व के धनी होते है, सामान्य व्यक्ति मे एकाध शुभ लक्षण होता है। उससे बढ कर व्यक्ति मे बत्तीस लक्षण पाये जाते हैं। उससे भी उत्तम व्यक्ति मे एक सौ आठ लक्षण होते है। लौकिक सम्पदा के उत्कृष्ट धनी चक्रवर्ती मे एक हजार आठ लक्षण होते है पर वे कुछ अस्पष्ट होते हैं, जबकि तीर्थंकर मे वे पूर्ण स्पष्ट होते है। लॉ ने बुद्ध के बाईस लक्षण कैसे कहे है ? यह चिन्तनीय है।

तप: एक विश्लेषण

औपपातिक मे श्रमणो के तप का सजीव चित्रण हुआ है। तप साधना का ओज है तेज है और शक्ति है। तप शून्य साधना निष्प्राण है। साधना का भव्य प्रासाद तप की सुदृढ नीव पर आधारित है। साधना-प्रणाली, चाहे वह पूर्व मे विकसित हुई हो अथवा पश्चिम मे फली और फूली हो, उसके अन्तस्तल मे तप किसी न किसी रूप मे रहा हुआ है। तप में त्याग की भावना प्रमुख होती है और उसी से प्रेरित होकर साधक प्रयास करता है।

भारतीय सास्कृतिक जीव का हम अध्ययन करें तो यह सूर्य के प्रकाश की भाँति स्पष्ट हुए बिना नही रहेगा कि चाहे भगवान् महावीर की अध्यात्मवादी विचार-धारा रही हो या भौतिकवादी अजितकेसकम्बलि या नियतिवादी गोशालक की विचार-धारा रही हो, सभी मे तप के स्वर झकृत हुए है किन्तु साधना-पद्धतियां मे तप के लक्ष्य और स्वरूप के सम्बन्ध मे कुछ विचारभेद अवश्य रहा है। श्री भरतसिह उपाध्याय का यह अभिमत है कि जो कुछ भी शाश्वत है, जो कुछ भी उदात्त और महत्त्वपूर्ण है, वह सब तपस्या मे ही सभूत है। प्रत्येक साधनाप्रणाली चाहे यह अध्यात्मिक हो, चाहे भौतिक हो, सभी तपस्या की भावना से अनुप्राणित है।[५५]

तप के सम्बन्ध मे अनुचिन्तन करते हुए सुप्रसिद्ध गाधीवादी विचारक काका कालेलकर ने लिखा है—"बुद्ध-कालीन भिक्षुओ की तपस्या के परिणामस्वरूप ही अशोक के साम्राज्य का और मौर्यकालीन सस्कृति का विस्तार हो पाया। शकराचार्य की तपश्चर्या से हिन्दू धर्म का सस्करण हुआ। महावीर की तपस्या से अहिंसा धर्म का प्रचार हुआ और चैतन्य महाप्रभु, जो मुखशुद्धि के हेतु एक हर्रे भी मुँह मे नही रखते थे, उनके तप से बगाल मे वैष्णव सस्कृति विकसित हुई।[५६]" और महात्मा गाधी के फलस्वरूप ही भारत सर्वतत्र स्वतन्त्र हुआ है।

भगवान् महावीर स्वय उग्र तपस्वी थे। अत उनका शिष्यवर्ग तप से कैसे अछूता रह सकता था ? वह भी उग्र तपस्वी था। जैन तप-विधि की यह विशेषता रही है कि वह आत्म-परिशोधन-प्रधान है। देहदण्ड

५३ औपपातिकसूत्र, पृ १२ अट्ठसहस्सवरपुरिसलक्खणधरे।

५४ Some Jaina Canonical Sutras, P 73

५५ बौद्धदर्शन और अन्य भारतीय दर्शन प्र स पृ ७१-७२

५६ जीवन साहित्य-द्वितीय भाग पृ ११७-११८.

किया नही जाता, वह सहज होता है। जैसे—स्वर्ण की विशुद्धि के लिए उसमें रहे हुए विकृत तत्त्वो को तपाते हैं, पात्र को नही, वैसे ही आत्मशुद्धि के लिए आत्म-विकारो को तपाया जाता है न कि शरीर को। शरीर तो आत्मा का साधन है, इसलिए वह तप जाता है, तपाया नही जाता। तप मे पीडा हो सकती है किन्तु पीडा की अनुभूति नही होनी चाहिए। पीडा शरीर से सम्बन्धित है और अनुभूति आत्मा से। अत तप करता हुआ भी साधक दु खी न होकर आह्लादित होता है।

आधुनिक युग के सुप्रसिद्ध मनोविश्लेषक फ्रायड ने 'दमन' की कटु आलोचना की है। उसने दमन को सभ्य समाज का सबसे बडा अभिशाप कहा है। उसका अभिमत है कि सभ्य ससार मे जितनी भी विकृतियाँ हैं, मानसिक और शारीरिक बीमारियाँ हैं, जितनी हत्यायें और आत्महत्यायें होती है, जितने लोग पागल और पाखण्डी बनते हैं, उसमे मुख्य कारण इच्छाओ का दमन है। इच्छाओ के दमन से अन्तर्द्वन्द्व पैदा होता है, जिससे मानव रुग्ण, विक्षिप्त और भ्रष्ट बन जाता है। इसलिए फ्रायड ने दमन का निषेध किया है। उसने उन्मुक्त भोग का उपाय बताया है। पर उसका सिद्धान्त भारतीय आचार मे स्वीकृत नही है। वह तो उस दवा के समान है जो सामान्य रोग को मिटाकर भयकर रोग पैदा करती है। यह सत्य है कि इच्छाओ का दमन हानिकारक है पर उससे कही अधिक हानिकारक और घातक है उन्मुक्त भोग! उन्मुक्त भोग का परिणाम अमेरिका आदि मे बढती हुई विक्षिप्तता और आत्महत्याओ के रूप मे देखा जा सकता है।

भारतीय आचार पद्धतियो मे इच्छाओ की मुक्ति के लिए दमन के स्थान पर विराग की आवश्यकता बताई है। विषयो के प्रति जितना राग होगा उतनी ही इच्छाए प्रबल होगी! अन्तर्मानस मे उद्दाम इच्छाए पनप रही हो और फिर उनका दमन किया जाय तो हानि की सभावना है पर इच्छाए निर्मूल समाप्त हो जायें तो दमन का प्रश्न ही कहाँ? और फिर उससे उत्पन्न होने वाली हानि को अवकाश कहाँ है? फ्रायड विशुद्ध भौतिकवादी या देहमनोवादी थे। वे मानव को मूल प्रवृत्तियो और सवेगो का केवल पुतला मानते थे। उनके मन और मस्तिष्क मे आध्यात्मिक उच्च स्वरूप की कल्पना नही थी, अत वे यह स्वीकार नही कर सकते थे कि इच्छाये कभी समाप्त भी हो सकती है। उनका यह अभिमत था—मानव सागर मे प्रतिपल प्रतिक्षण इच्छायें समुत्पन्न होती हैं और उन इच्छाओ की तृप्ति आवश्यक है। पर भारतीय तत्त्वचिन्तको ने यह उद्‌घोषणा की कि इच्छाये आत्मा का स्वरूप नही, विकृति स्वरूप हैं। वह मोहजनित हैं। इसलिए विराग से उन्हे नष्ट करना—निर्मूल बना देना सुख-शान्ति की प्राप्ति के लिए हितकर है। ऐसा करने से ही सच्ची—स्वाभाविक शाति उत्पन्न हो सकती है।

जैन आचारशास्त्र मे दमन का भी यत्र-तत्र विधान हुआ है। "देहदुक्ख महाफल" के स्वर झकृत हुए है। सयम, सवर और निर्जरा का विधान है। वहाँ 'शम' और 'दम' दोनो आये है। शम का सम्बन्ध विषय-विराग से है और दम का सम्बन्ध इन्द्रिय-निग्रह से है। दूसरे शब्दो मे शम और दम के स्थान पर मनोविजय और इन्द्रिय-विजय अथवा कषाय-विजय और इन्द्रिय-विजय शब्द भी व्यवहृत हुए है। स्वामी कुमार ने कात्तिकेयानुप्रेक्षा[५७] मे "मण-इदियाण विजई" और "इदिय-कसायविजई" शब्दो का प्रयोग किया है। जिसका अर्थ है, मनोविजय और इन्द्रियनिग्रह अथवा 'कषायविजय' और 'इन्द्रियनिग्रह' निर्जरा के लिए आवश्यक है। दमन का विधान इन्द्रियो के लिए है और मनोगत विषय-वासना के लिए शम और विरक्ति पर बल दिया है। जब मन विषय-विरक्त हो जायेगा तो इच्छाए स्वत समाप्त हो जायेगी। विषय के प्रति जो अनुरक्ति है,

---

५७ कात्तिकेयानुप्रेक्षा-गाथा, ११२-११४

वह ज्ञान से नष्ट होती है और इन्द्रियाँ, जो स्नायविक हैं, उन्हें अभ्यास से बदलना चाहिए। यदि वे विकारो में प्रवृत्त होती हो तो वैराग्यभावना से उनका निरोध करना चाहिए। दमन शब्द खतरनाक नही है। व्यसनजन्य इच्छाओ से मुक्ति पाने के लिए इन्द्रिय-दमन आवश्यक है। इन्द्रिय-दमन का अर्थ इन्द्रियो को नष्ट करना नही अपितु दृढ सकल्प से इन्द्रियो की विषय-प्रवृत्ति को रोकना है। यह आत्मपरिणाम दृढ सकल्प रूप होता है। व्यसनजन्य इच्छाओ का दमन हानिकारक नही किन्तु स्वस्थता के लिए आवश्यक है। इच्छाये प्राकृतिक नही, अप्राकृतिक हैं। यह दमन प्रकृतिविरुद्ध नही किन्तु प्रकृतिसगत है। इन्द्रियो की खतरनाक प्रवृत्ति को रोकना इन्द्रियानुशासन है और यह जैन दृष्टि से तप का सही उद्देश्य है। इसीलिए जैन दृष्टि से आगम-साहित्य मे बाह्य और आभ्यन्तर तप का उल्लेख किया है। आभ्यन्तर तप के बिना बाह्य तप कभी-कभी ताप बन जाता है। जैनदर्शन के तप की यह अपूर्व विशेषता प्रस्तुत आगम मे विस्तार के साथ प्रतिपादित की गई है।

वैदिक साधना पद्धति के सम्बन्ध मे यदि हम चिन्तन करे तो यह स्पष्ट होगा, वह प्रारम्भ मे तप-प्रधान नही थी। श्रमण सस्कृति के प्रभाव से प्रभावित होकर उसमे भी तप के स्वर मुखरित हुए और वैदिक ऋषियो की हृत्तन्त्रियाँ झकृत हुई। तप से ही वेद उत्पन्न हुए हैं।[५८] तप से ही ऋत और सत्य समुत्पन्न हुए हैं।[५९] तप से ही ब्रह्म को खोजा जाता है।[६०] तप से ही मृत्यु पर विजय-वैजयन्ती फहरा कर ब्रह्मलोक प्राप्त किया जाता है।[६१] जो कुछ भी दुर्लभ और दुष्कर है, वह सभी तप से साध्य है।[६२] तप की शक्ति दुरतिक्रम है। तप का लक्ष्य आत्मा या ब्रह्म की उपलब्धि है। तप से ब्रह्म की अन्वेषणा की जा सकती है।[६३] तप से ही ब्रह्म को जानो।[६४] यह आत्मा तप और सत्य के द्वारा ही जाना जा सकता है।[६५] महर्षि पतजलि के शब्दो मे कहा जाए तो तप से अशुद्धि का क्षय होने से शरीर और इन्द्रियो की शुद्धि होती है।[६६]

जिस प्रकार जैन साधना पद्धति से बाह्य और आभ्यन्तर-ये दो तप के प्रकार बताये है, वैसे ही गीता मे भी तप का वर्गीकरण किया गया है। स्वरूप की दृष्टि से तप के १ शारीरिक तप २ वाचिक तप और ३ मानसिक तप—ये भेद प्रतिपादित किये है।[६७] शारीरिक तप से तात्पर्य है —देव, द्विज, गुरुजन और ज्ञानी जनो का सत्कार करना। शरीर को आचरण से पवित्र बनाना, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिसा का पालन करना, यह शारीरिक तप है। वाचिक तप है—क्रोध का अभाव, प्रिय, हितकारी और यथार्थ सभाषण, स्वाध्याय और अध्ययन आदि। मानसिक तप वह है, जिसमे मन की प्रसन्नता, शातता, मौन और मनोनिग्रह से भाव की शुद्धि हो।

---

५८ तथैव वेदानृषयस्तपसा प्रतिपेदिरे। —मनुस्मृति ११, १४३

५९ ऋत च सत्य चाभीद्धात्तपसोऽध्याजायत। —ऋग्वेद १०, १९०, १

६० तपसा चीयते ब्रह्म। —मुण्डक—१, १, ८

६१ ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत। —वेद

६२ यद् दुस्तर यद्दुरापं दुर्गं यच्च दुष्करम्।
सर्वं तु तपसा साध्य तपोहि दुरतिक्रमम्॥ —मनुस्मृति—११/२३७

६३ तपसा चीयते ब्रह्म। —मुण्डकोपनिषद्—१ १ ८

६४ तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। —तैत्तरीयोपनिषद्-३ २ ३ ४

६५ सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा। —मुण्डक—३ १ ५

६६ कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षया तपस। —४३ साधनपाद—योगसूत्र

६७ गीता—अध्याय-१७, श्लो १४, १५, १६

जो तप श्रद्धापूर्वक, फल की आकांक्षा रहित होकर किया जाता है, वही सात्त्विक तप कहलाता है। जो तप सत्कार, मान, प्रतिष्ठा के लिए अथवा प्रदर्शन के लिए किया जाता है, वह राजस तप है। जो तप अज्ञानतापूर्वक अपने आपको भी कष्ट देता है और दूसरो को भी दु खी करता है, वह तामस तप है।[६८]

प्रस्तुत आगम मे तप का जो वर्गीकरण किया गया है, उसमे और गीता के वर्गीकरण मे यही मुख्य अन्तर है कि गीताकार ने अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, इन्द्रिय-निग्रह, आर्जव, प्रभृति को तप के अन्तर्गत माना है, जबकि जैन दृष्टि से वे महाव्रत और श्रमणधर्म के अन्तर्गत आते हैं। गीता में जैनधर्म-मान्य बाह्य तपो पर चिन्तन नही हुआ है और आभ्यन्तर तप मे से केवल स्वाध्याय को तप की कोटि मे रखा है। ध्यान और कायोत्सर्ग को योग साधना के अन्तर्गत लिया है। वैयावृत्य, विनय आदि को गुण माना है और प्रायश्चित्त का वर्णन शरणागति के रूप मे हुआ है।[६९] महानारायणोपनिषद् मे अनशन तप का महत्त्व यहाँ तक प्रतिपादित किया गया है कि अनशन तप से बढकर कोई तप नही है,[७०] जबकि गीताकार ने अवमोदर्य तप को अनशन से भी अधिक श्रेष्ठ माना है। उसका यह स्पष्ट अभिमत है—योग अधिक भोजन करने वालो के लिए सम्भव नही है और न निराहार रहने वालो के लिए सम्भव है किन्तु जो युक्त आहार-विहार करता है, उसी के लिए योग-साधन सरल है।[७१]

बौद्ध साधना पद्धति मे भी तप का विधान है। वहाँ तप का अर्थ प्रतिपल-प्रतिक्षण चित्त शुद्धि का प्रयास करना है। महामगलसुत्त मे तथागत बुद्ध ने कहा—तप ब्रह्मचर्य आर्य सत्यो का दर्शन है और निर्वाण का साक्षात्कार है। यह उत्तम मगल है।[७२] काशीभारद्वाजसुत्त मे तथागत ने कहा—मैं श्रद्धा का बीज वपन करता हूँ। उस पर तप की वृष्टि होती है। तन और वचन मे सयम रखता हूँ। आहार को नियमित कर सत्य के द्वारा मन के दोषो का परिष्कार करता हूँ। दिट्ठिवज्जसुत्त मे उन्होंने कहा—किसी तप या व्रतो को ग्रहण करने से कुशल धर्मों की वृद्धि हो जायेगी और अकुशल धर्मों की हानि होगी। अत तप अवश्य करना चाहिए।[७३] बुद्ध ने अपने आपको तपस्वी कहा। उनके साधना-काल का वर्णन और पूर्व जन्मो के वर्णन में उत्कृष्ट तप का उल्लेख हुआ है। उन्होने सारिपुत्त के सामने अपनी उग्र तपस्या का निरूपण किया।[७४] सम्राट् बिम्बिसार मे कहा—मैं अब तपश्चर्या के लिए जा रहा हूँ। मेरा मन उस साधना में रमता है।[७५] यह पूर्ण सत्य है कि बुद्ध अज्ञानयुक्त केवल देह-दण्ड को निर्वाण के लिए उपयोगी नही मानते थे। ज्ञानयुक्त तप को ही उन्होने महत्त्व दिया था। डॉ राधाकृष्णन् ने लिखा है—बुद्ध ने कठोर तपश्चर्या की आलोचना की, तथापि यह आश्चर्य है कि बौद्ध श्रमणो का अनुशासन किसी भी ब्राह्मण ग्रन्थो मे वर्णित अनुशासन [तपश्चर्या] से कम कठोर नही है। यद्यपि शुद्ध सैद्धांतिक दृष्टि से वे निर्वाण की उपलब्धि तपश्चर्या के अभाव में भी सम्भव मानते हैं, फिर भी व्यवहार मे तप उनके अनुसार आवश्यक सा प्रतीत होता है।[७६]

---

६८ गीता—अध्याय-१७, श्लो १७, १८, १९

६९ भारतीय सस्कृति मे तप साधना, ले डॉ सागरमल जैन

७० तप नानशनात्परम्। —महानारायणोपनिषद् २१, २

७१ गीता, ७, श्लो १६-१७

७२ महामगलसुत्त—सुत्तनिपात, १६-१०

७३. अगुत्तरनिकाय—दिट्ठवज्ज सुत्त

७४ मज्झिमनिकाय—महासिंहनाद सुत्त

७५ सुत्तनिपात पवज्जा सुत्त-२७।२०,

७६ Indian Philosophy, by–Dr. Radhakrishnan, Vol 1 P. 436

बौद्ध दृष्टि से तप का उद्देश्य है —अकुशल कर्मों को नष्ट करना। तथागत बुद्ध ने सिंह सेनापति को कहा—हे सिंह ! एक पर्याय इस प्रकार का है, जिससे सत्यवादी मानव मुझे तपस्वी कह सकें। वह पर्याय है—पापकारक अकुशल धर्मों को तपाया जाये, जिससे पापकारक अकुशल धर्म गल जायें, नष्ट हो जायें और वे पुन उत्पन्न नहीं हो।[७७]

जैनधर्म की तरह बौद्धधर्म मे तप का जैसा चाहिए वैसा वर्गीकरण नही है। मज्झिमनिकाय मे मानव के चार प्रकार बताये है जैसे —१. जो आत्म-तप है पर पर-तप नही हैं। इस समूह मे कठोर तप करने वाले तपस्वियो का समावेश होता है। जो अपने आप को कष्ट देते है पर दूसरो को नही। २ जो पर-तप है किन्तु आत्म-तप नही हैं। इस समूह मे वे हिंसक, जो पशुबलि देते हैं, आते है। वे दूसरो को कष्ट देते है, स्वय को नही। ३ जो आत्म-तप भी है और पर-तप भी है। वे लोग जो स्वय भी कष्ट सहन करते हैं और दूसरे व्यक्तियो को भी कष्ट प्रदान करते है। इस समूह मे वे व्यक्ति आते है, जो तप के साथ यज्ञ-याग किया करते है। ४ जो आत्म-तप भी नही है और पर-तप भी नही है, ये वे लोग है, जो स्वय को कष्ट नही देते और न दूसरो को ही कष्ट देते हैं। यह चतुर्भंगी स्थानांग की तरह है। इसमे वस्तुत तप का वर्गीकरण नही हुआ है।

तथागत बुद्ध ने अपने भिक्षुओ को अतिभोजन करने का निषेध किया था। केवल एक समय भोजन की अनुमति प्रदान की थी। रसासक्ति का भी निषेध किया था। विविध आसनो का भी विधान किया था। भिक्षाचर्या का भी विधान किया था। जो भिक्षु जगल मे निवास करते है, वृक्ष के नीचे ठहरते हैं, श्मशान मे रहते है, उन धुतग भिक्षुओ की बुद्ध ने प्रशसा की। प्रवारणा [प्रायश्चित्त], विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान, कायोत्सर्ग—इन सभी को जीवन मे आचरण करने की बुद्ध ने प्रेरणा दी। किन्तु बुद्ध मध्यममार्गी विचारधारा के थे, इसलिए जैन तप-विधि मे जो कठोरता है, उसका उसमे अभाव है, उनकी साधना सरलता को लिये हुए है।

हमने यहाँ सक्षेप मे वैदिक और बौद्ध तप के सम्बन्ध मे चिन्तन किया है, जिससे आगम-साहित्य मे आये हुए तप की तुलना सहज हो सकती है। वस्तुत प्रस्तुत आगम मे आया हुआ तपो-वर्णन अपने आप मे मौलिकता और विलक्षणता को लिये हुए है।

भगवान् महावीर के समवसरण मे भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक—ये चारो प्रकार के देव उपस्थित होते थे। उन देवो के वर्णन मे नानाप्रकार के आभूषण, वस्त्रो का उल्लेख हुआ है। यह वर्णन, जो शोधार्थी प्राचीन सस्कृति और सभ्यता का अध्ययन करना चाहते हैं, उनके लिए बहुत ही उपयोगी है। वस्त्र-निर्माण की कला मे भारतीय कलाकार अत्यन्त दक्ष थे, यह भी इस वर्णन से परिज्ञात होता है। विस्तार-भय मे हम यहाँ उस पर चिन्तन न कर मूल ग्रन्थ को ही देखने की प्रबुद्ध पाठको को प्रेरणा देते है।

साथ ही कूणिक राजा का भगवान् को वन्दन करने के लिये जाने का वर्णन पठनीय है। इस वर्णन मे अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्य रहे हुए हैं। भगवान् महावीर की धर्मदेशना भी इसमे विस्तार के साथ आई है। यो धर्म-देशना मे सम्पूर्ण जैन आचार मार्ग का प्ररूपण हुआ है। श्रमणाचार और श्रावकाचार का विश्लेपण हुआ है। उसके पश्चात् गणधर गौतम की विविध जिज्ञासायें हैं। पापकर्म का अनुबन्धन कैसे होता है ? और किस प्रकार के आचार-विचार वाला जीव मृत्यु के पश्चात् कहाँ पर (किस योनि मे) उत्पन्न होता है ? यह उपपात-वर्णन प्रस्तुत आगम का हार्द है। और इसी आधार पर प्रस्तुत आगम का नामकरण हुआ है। यह वर्णन ज्ञानवर्धन के साथ

---

७७ बुद्धलीलासारसग्रह—पृ २८०/२८१

दिलचस्प भी है। इसमे वैदिक और श्रमण परम्परा के अनेक परिव्राजको, तापसो व श्रमणो का उल्लेख है। उनकी आचार संहिता भी संक्षेप मे दी गई है।

उन परिव्राजको का संक्षेप मे परिचय इस प्रकार है—

१ **गोतम**—ये अपने पास एक नन्हा सा बैल रखते थे, जिसके गले मे कौडियो की माला होती, जो संकेत मे अन्य व्यक्तियो के चरण स्पर्श करता। इस बैल को साथ रख कर यह साधु भिक्षा मागा करते थे। अगुत्तरनिकाय मे भी इस प्रकार के साधुओ का उल्लेख है।[७८]

२ **गोव्रतिक**—गोव्रत रखने वाले। गाय के साथ ही ये परिभ्रमण करते। जब गाय गाँव से बाहर जाती तो ये भी उसके साथ जाते। गाय चारा चरती तो ये भी चरते और गाय के पानी पीने पर ये भी पानी पीते। जब गाय सोती तो ये सोते। गाय की भाँति ही घास और पत्तो का ये आहार करते थे। मज्झिमनिकाय[७९] और ललितविस्तर[८०] प्रभृति ग्रन्थो मे भी इन गोव्रतिक साधुओ का उल्लेख मिलता है।

३ **गृहिधर्म**—ये अतिथि, देव आदि को दान देकर परम आह्लादित होते थे और अपने आपको गृहस्थ धर्म का सही रूप से पालन करने वाला मानते थे।

४ **धर्मचिन्तक**—ये धर्म-शास्त्र के पठन और चिन्तन मे तल्लीन रहते थे। अनुयोगद्वार[८१] की टीका में याज्ञवल्क्य प्रभृति ऋषियो द्वारा निर्मित धर्म-सहिताओ का चिन्तन करने वालो को धर्म-चिन्तक कहा है।

५ **अविरुद्ध**—देवता, राजा, माता-पिता, पशु और पक्षियो की समान रूप से भक्ति करने वाले अविरुद्ध साधु कहलाते थे। ये सभी को नमस्कार करते थे, इसलिए विनयवादी भी कहलाते थे। आवश्यकनिर्युक्ति[८२], आवश्यकचूर्णि[८३], मे इनका उल्लेख है। भगवतीसूत्र के अनुसार[८४] ताम्रलिप्ति क मौर्य-पुत्र तामलि ने यही प्रणामा-प्रव्रज्या ग्रहण की थी। अगुत्तरनिकाय[८५] मे भी अविरुद्धको का वर्णन है।

६ **विरुद्ध**—ये पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक नही मानते थे। ये अक्रियावादी थे।

७ **वृद्ध**—तापस लोग प्रायः वृद्धावस्था मे सन्यास लेते थे। इसलिए ये वृद्ध कहलाते थे। औपपातिक[८६]

---

७८ अगुत्तरनिकाय-३, पृ ७२६

७९ मज्झिमनिकाय-३, पृ ३८७

८० ललितविस्तर, पृ २४८

८१ अनुयोगद्वार सूत्र, २०

८२ आवश्यकनिर्युक्ति, ४९४

८३ आवश्यकचूर्णि, पृ २९८

८४ भगवती सूत्र, ३।१

८५ अगुत्तरनिकाय-३, पृ २७६

८६ वृद्धा तापसा वृद्धकाल एव दीक्षाभ्युपगमात्, आदि देवकालोत्पन्नत्वेन च सकललिङ्गिनामाद्यत्वात, श्रावका-धर्मशास्त्रश्रवणाद् ब्राह्मणा अथवा वृद्धश्रावका ब्राह्मणा। —औपपातिक सूत्र ३८ वृ

की टीका के अनुसार वृद्ध अर्थात् तापस, श्रावक अर्थात् ब्राह्मण। तापसो को वृद्ध इसलिए कहा गया है कि समग्र तीर्थिको की उत्पत्ति भगवान् ऋषभदेव की प्रव्रज्या के पश्चात् हुई थी। उनमें सर्वप्रथम तापस-साख्यो का प्रादुर्भाव हुआ था, अत वे वृद्ध कहलाये। श्रमण भगवान् महावीर के समय तीन सौ तिरेसठ पाखण्ड-मत प्रचलित थे। उन्ही अन्य तीर्थों या तैर्थिको मे वृद्ध श्रावक शब्द भी व्यवहृत हुआ है।[८७] ज्ञाताधर्मकथा[८८] एव अगुत्तरनिकाय[८९] मे भी यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। अनुयोगद्वार[९०] की टीका मे भी वृद्ध का अर्थ तापस किया है। कही पर 'वृद्धश्रावक' यह शब्द एक कर दिया गया है और कहीं पर दोनो को पृथक्-पृथक् किया गया है। हमारी दृष्टि से दोनो को पृथक् करने की आवश्यकता नही है। वृद्धश्रावक का अर्थ ब्राह्मण उपयुक्त प्रतीत होता है। यहाँ पर वृद्ध और श्रावक शब्द जैन परम्परा से सम्बन्धित नही है। यह तो ब्राह्मणो का ही वाचक है।

८. **श्रावक**—धर्म-शास्त्रो को श्रवण करने वाला ब्राह्मण।[९१]

ये आठो प्रकार के साधु दूध-दही, मक्खन-घृत, तेल, गुड, मधु, मद्य और माम का भक्षण नही करते थे। केवल सरसो का तेल उपयोग मे लेते थे।

गंगातट निवासी वानप्रस्थी तापस

९ **होत्तिय**—अग्निहोत्र करने वाले तापस।

१० **पोत्तिय**—वस्त्रधारी।

११ **कोत्तिय**—भूमि पर सोने वाले।

१२ **जण्णई**—यज्ञ करने वाले।

१३ **सड्ढई**—श्रद्धाशील।

१४. **थालई**—सब सामान लेकर चलने वाले।

१५. **हुंबउट्ठ**—कुण्डी लेकर चलने वाले।

१६ **दंतुक्खलिय**—दातो से चबाकर खाने वाले। इसका उल्लेख रामायण[९२] मे प्राप्त है। दीघनिकाय[९३] अट्ठकथा मे भी इस सम्बन्ध मे उल्लेख है।

१७. **उम्मज्जक**—उन्मज्जन मात्र से स्नान करने वाले।[९४] अर्थात् कानो तक पानी मे जाकर स्नान करने वाले।

---

८७ अण्णतीर्थिकाश्चरक-परिव्राजक-शाक्याजीवक-वृद्धश्रावकप्रभृतय।
—निशीथ सभाष्यचूर्णि, भाग-२, पृ ११८

८८ ज्ञाताधर्मकथा, अध्य १५ वा, सू १

८९ अगुत्तरनिकाय—हिन्दी अनुवाद भाग २, पृ ४५२

९० अनुयोगद्वार सूत्र-२० की टीका।

९१ देखिए विस्तार के साथ ज्ञातासूत्र प्रस्तावना पृ ३७ —देवेन्द्रमुनि

९२ रामायण-३।६।३

९३ दीघनिकाय अट्ठकथा १, पृ २७०।

९४ कर्णदघ्ने जले स्थित्वा, तप कुर्वन् प्रवर्तते।
उन्मज्जक स विज्ञेयस्तापसो लोकपूजित ॥ —अभिधानवाचस्पति

१८ **सम्मज्जक**—अनेक बार उन्मज्जन करके स्नान करने वाले।

१९ **निमज्जक**—स्नान करते समय कुछ क्षणो के लिए जल मे डूबे रहने वाले।

२० **सम्पखाल**—शरीर पर मिट्टी घिस कर स्नान करने वाले।

२१ **दक्खिणकूलग**—गगा के दक्षिण तट पर रहने वाले।

२२. **उत्तरकूलग**—गगा के उत्तर तट पर रहने वाले।

२३ **संखधमक**—शख बजाकर भोजन करने वाले। वे शख इसलिए बजाते थे कि अन्य व्यक्ति भोजन करते समय न आयें।

२४. **कूलधमक**—किनारे पर खड़े होकर उच्च स्वर करते हुए भोजन करने वाले।

२५. **मियलुद्धक**—पशु-पक्षियो का शिकार कर भोजन करने वाले।

२६ **हत्थीतावस**—जो हाथी को मारकर बहुत समय तक उसका भक्षण करते थे। इन तपस्वियो का यह अभिमत था कि एक हाथी को एक वर्ष या छह महीने मे मार कर हम केवल एक ही जीव का वध करते हैं, अन्य जीवो को मारने के पाप से बच जाते है। टीकाकार के अभिमतानुसार हस्तीतापस बौद्ध भिक्षु थे।[९५] ललितविस्तर मे हस्तीव्रत तापसो का उल्लेख है।[९६*] महावग्ग मे भी दुर्भिक्ष के समय हाथी आदि के मास खाने का उल्लेख मिलता है।[९६†]

२७ **उड्डडक**—दण्ड को ऊपर उठाकर चलने वाले। आचाराग चूर्णि[९७] मे उड्डडक, बोडिय, और सरक्ख आदि साधुओ के साथ उसकी परिगणना की है। ये साधु केवल शरीर मात्र परिग्रही थे। पाणिपुट मे ही भोजन किया करते थे।

२८ **दिसापोक्खी**—जल से दिशाओ का सिचन कर पुष्प-फल आदि बटोरने वाले। भगवती सूत्र[९८] मे हस्तिनापुर के शिवराजर्षि का उपाख्यान है। उन्होने दिशा-प्रोक्षक तपस्वियो के निकट दीक्षा ग्रहण की थी। वाराणसी का सोमिल ब्राह्मण तपस्वी भी चार दिशाओ का अर्चक था।[९९] आवश्यकचूर्णि[१००] के अनुसार राजा प्रसन्नचन्द्र अपनी महारानी के साथ दिशा-प्रोक्षको के धर्म मे दीक्षित हुआ था। वसुदेवहिंडी[१०१] और दीघनिकाय[१०२] मे भी दिसापोक्खी तापसो का वर्णन है।

२९ **वक्कवासी**—वल्कल के वस्त्र पहनने वाले।

---

९५ सूत्रकृताग टीका, २।६

९६* ललितविस्तर, पृ २४८

९६† महावग्ग-६।१०।२२ पृ २३५

९७ आचाराग चूर्णि-५, पृ १६९

९८ भगवती सूत्र-११।९

९९ निरयावलिका-३, पृ ३७-४०

१०० आवश्यकचूर्णि, पृ ४५७

१०१ वसुदेवहिंडी, पृ १७

१०२ दीघनिकाय, सिगालोववादसुत्त

३० **अम्बुवासी**—जल मे रहने वाले।

३१ **बिलवासी**—बिलो मे रहने वाले।

३२ **जलवासी**—जल मे निमग्न होकर बैठने वाले।

३३. **वेलवासी**—समुद्र के किनारे रहने वाले।

३४ **रुक्खमूलिया**—वृक्षो के नीचे रहने वाले।

३५ **अम्बुभक्खी**—जल भक्षण करने वाले।

३६ **वाउभक्खी**—वायु पीकर रहने वाले। रामायण[१०३] मे मण्डकरनी नामक तापस का उल्लेख है, जो केवल वायु पर जीवित रहता था। महाभारत[१०४] मे भी वायुभक्षी तापसो के उल्लेख मिलते है।

३७. **सेवालभक्खी**—केवल शैवाल को खाकर जीवन-यापन करने वाले। ललितविस्तर[१०५] मे भी इस सम्बन्ध मे वर्णन मिलता है।

इनके अतिरिक्त भी अनेक प्रकार के तापस थे, जो मूल, कद, छाल, पत्र, पुष्प और बीज का सेवन करते थे। और कितने ही सडे गले हुए मूल, कन्द, छाल, पत्र आदि द्वारा अपना जीवन-यापन करते थे। दीघनिकाय[१०६] आदि मे भी इस प्रकार के वर्णन हैं। इनमे से अनेक तापस पुन-पुन स्नान किया करते थे, जिससे इनका शरीर पीला पड जाता था। ये गगा के किनारे रहते थे और वानप्रस्थाश्रम का पालन करते थे। ये तपस्वीगण एकाकी न रह कर समूह के साथ रहते थे। कोडिन्नदिन्न और सेवालि नाम के कितने ही तापस तो पाँच सौ-पाँच सौ तापसो के साथ रहते थे। ये गले सडे हुए कन्द-मूल, पत्र और शेवाल का भक्षण करते थे। उत्तराध्ययन[१०७] टीका मे वर्णन है कि ये तापसगण अष्टापद की यात्रा करने जाते थे।

वन-वासी साधु तापस कहलाते थे।[१०८] ये जगलो मे आश्रम बनाकर रहते थे। यज्ञ-याग करते, पचाग्नि द्वारा अपने शरीर को कष्ट देते। इनका बहुत सारा समय कन्द-मूल और वन के फलो को एकत्रित करने मे व्यतीत होता था। व्यवहारभाष्य[१०९] मे यह भी वर्णन है कि ये तापस-गण ओखली और खलिहान के सन्निकट पडे हुए धानो को बीनते और उन्हे स्वय पकाकर खाते। कितनी बार एक चम्मच मे आये, उतना ही आहार करते या धान्य-राशि पर वे वस्त्र फेंकते और जो अन्न कण उस वस्त्र पर लग जाते, उन्ही से वे अपने उदर का पोषण करते थे।

प्रव्रजित श्रमण

परिव्राजक श्रमण ब्राह्मण-धर्म के लब्धप्रतिष्ठित पण्डित थे। वशिष्ठ धर्म-सूत्र के अनुसार वे सिर मुण्डन कराते थे। एक वस्त्र या चर्मखण्ड धारण करते थे। गायो द्वारा उखाडी हुई घास मे अपने शरीर को ढँकते थे

---

१०३ रामायण-३-११/१२

१०४ महाभारत, १।९६/४२

१०५ ललितविस्तर, पृ २४८

१०६ दीघनिकाय, १, अम्बडसुत्त, पृ ८८

१०७ उत्तराध्ययन टीका, १० पृ १५४ अ

१०८ निशीथचूर्णि-१३/४४०२ की चूर्णि

१०९ (क) व्यवहारभाष्य—१०/२३-२५
(ख) मूलाचार—५-५४

ग्रौर जमीन पर सोते थे।[११०] ये ग्राचार-शास्त्र ग्रौर दर्शन-शास्त्र पर विचार, चर्चा करने के लिए भारत के विविध अचलो मे परिभ्रमण करते थे। वे षडगो के ज्ञाता होते थे। उन परिव्राजको मे कितने ही परिव्राजको का परिचय इस प्रकार है—

३८ **सखा**—साख्य मत के ग्रनुयायी।

३९ **जोई**—योगी, जो ग्रनुष्ठान पर बल देते थे।

४० **कपिल**—निरीश्वरवादी साख्या, जो ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता नही मानते थे।

४१ **भिउच्च**—भृगु ऋषि के ग्रनुयायी।

४२ **हस**—जो पर्वत की गुफाग्रो मे, रास्तो मे, ग्राश्रमो मे, देवकुलो ग्रौर ग्रारामो मे रह कर केवल भिक्षा के लिए गाँव मे प्रवेश करते थे। षड्दर्शनसमुच्चय[१११] ग्रौर रिलीजन्स ग्रॉव दी हिन्दूज[११२] मे भी इनका उल्लेख आया है।

४३ **परमहस**—जो सरिता के तट पर या सरिता के सगम-प्रदेशो मे रहते ग्रौर जीवन की साध्य वेला मे चीर, कोपीन, कुश ग्रादि का परित्याग कर प्राणो का विसर्जन करते थे।

४४ **बहुउदय**—जो गाँव मे एक रात्रि ग्रौर नगर मे पाँच रात रहते हो।

४५ **कुडिव्वय**—जो घर मे रहते हो तथा क्रोध, लोभ ग्रौर मोह रहित होकर अहकार ग्रादि का परित्याग करने मे प्रयत्नशील हो।

४६ **कन्हपरिव्वायग**—कृष्ण परिव्राजक ग्रर्थात् नारायण के परम भक्त।

ब्राह्मण परिव्राजक

४७ **कण्डु**—ग्रथवा कण्ण।

४८ **करकण्डु**

४९ **अम्बड**—ऋषिभासित, थेरीगाथा[११३] और महाभारत[११४] मे भी ग्रम्बड परिव्राजको के सम्बन्ध मे उल्लेख है।

५० **परासर**—सूत्रकृताग[११५] मे परासर को शीत, उदक ग्रौर बीज रहित फलो ग्रादि के उपभोग से सिद्ध माना गया है। उत्तराध्ययन[११६] की टीका मे द्वीपायन परिव्राजक की कथा है। उसका पूर्व नाम परासर था।

---

११० (क) वशिष्ठ धर्मसूत्र-१०-६।११
(ख) डिक्सनरी ग्रॉव पाली प्रौपर नेम्स, जिल्द २, पृ. १५९ मलालसेकर
(ग) महाभारत-१२।१९०।३

१११ षड्दर्शनसमुच्चय पृ ८

११२ रिलीजन्स ऑव दी हिन्दूज, जिल्द-१, पृ २३१ —लेखक एच एच विलसन

११३ थेरी गाथा-११६

११४ महाभारत-१।११४।३५

११५ सूत्रकृताग-३।४।२।३, पृ ९४-९५

११६ उत्तराध्ययन टीका-२, पृ ३९

५१ **कण्हदीवायण**—कण्हदीवायण जातक[११७] और महाभारत[११८] मे इनका उल्लेख है।

५२ **देवगुप्त**

५३ **नारय**—नारद।

क्षत्रिय परिव्राजक

५४ **सेलई**

५५ **ससिहार** [मसिहर अथवा मसिहार ?]

५६ **णग्गई** [नग्नजित्],

५७ **भग्गई**

५८ **विदेह**

५९ **रायाराय**

६० **रायाराम**

६१ **बल**

ये परिव्राजक गण वेदो और वेदागो मे पूर्ण निष्णात थे। दान और शौच धर्म का उपदेश देते थे। इनका यह अभिमत था--जो पदार्थ अशुचि मे सने हुए है, वे मिट्टी आदि से स्वच्छ हो जाते हैं। वैसे ही हम पवित्र आचार, निरवद्य व्यवहार से, अभिषेक-जल मे अपने को पवित्र बना सकते है एव स्वर्ग प्राप्त कर सकते है। ये परिव्राजक नदी, तालाब, पुष्करणी प्रभृति जलाशयो मे प्रवेश नही करते और न किसी वाहन का ही उपयोग करते। न किसी प्रकार का नृत्य आदि खेल देखते। वनस्पति आदि का उन्मूलन नही करते और न धातुओं के पात्रो का ही उपयोग करते। केवल मिट्टी, लकडी और तुम्बी के पात्रो का उपयोग करते थे। अन्य रग-बिरगे वस्त्रो का उपयोग न कर केवल गेरुए वस्त्र पहनते थे। अन्य किसी भी प्रकार के सुगन्धित लेपो का उपयोग न कर केवल गगा की मिट्टी का उपयोग करते थे। ये निर्मल छाना हुआ और किसी के द्वारा दिया हुआ एक प्रस्थ जितना जल पीने के लिए ग्रहण करते थे।

अम्बड परिव्राजक और उनके सात सौ शिष्यो का उल्लेख प्रस्तुत आगम मे हुआ है। जैन साहित्य के बृहत् इतिहास[११९] मे तथा 'जैन आगम साहित्य मे भारतीय समाज' ग्रन्थो मे अम्बड परिव्राजक के सात शिष्य होना लिखा है पर वह ठीक नही है। मूल शास्त्र मे 'सत्त अतेवासीसयाइ' पाठ है। उसका अर्थ सात सौ अतेवासी होना है, न कि सात। अम्बड परिव्राजक का वर्णन जैन साहित्य मे दो स्थलो पर आया है—औपपातिक मे और भगवती मे। अम्बड परिव्राजक[१२०] नामक एक व्यक्ति का और उल्लेख है, जो आगामी चौबीसी मे तीर्थंकर होगा। औपपातिक मे आये हुए अम्बड महाविदेह मे मुक्त होगे।[१२१] इसलिए दोनो पृथक-पृथक् होने चाहिए।

---

११७ कण्हदीवायण जातक-४, पृ ८३-८७

११८ महाभारत-१।११४।४५

११९ (क) जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग २, पृ २५

(ख) जैन आगम साहित्य मे भारतीय समाज, पृ ४१८ —डा जगदीशचन्द्र जैन

१२० स्थानाग, ९ वॉ सूत्र ६१

१२१ (क) यश्चौपपातिकोपाङ्गे महाविदेहे सेत्स्यतीत्यभिधीयते सोऽन्य इति सम्भाव्यते।

—स्थानाग वृत्ति, पत्र-४३४

(ख) दीघनिकाय के अम्बट्ठसुत्त मे अबट्ठ नाम के एक पडित ब्राह्मण का वर्णन है। निशीथचूर्णि पीठिका मे महावीर अम्बट्ठ को धर्म मे स्थिर करने के लिए राजगृह पधारे थे।

--निशीथ चू पीठिका, पृ २०

भीषण ग्रीष्म ऋतु मे जल प्राप्त होने पर भी उन्हे कोई व्यक्ति देने वाला न होने से सात सौ शिष्यो ने अदत्त ग्रहण नही किया और सथारा कर शरीर का परित्याग किया। अम्बड और उसके शिष्य भगवान् महावीर के प्रति पूर्ण निष्ठावान् थे। अम्बड अवधिज्ञानी भी था। वह औद्देशिक, नैमित्तिक आहार आदि नही लेता था।

आजीवक श्रमण

६२ **दुघरतरिया**—एक घर मे भिक्षा ग्रहण कर उसके पश्चात् दो घरो म भिक्षा न लेकर तृतीय घर मे भिक्षा लेने वाले।

६३ **तिघरतरिया**—एक घर मे भिक्षा ग्रहण कर तीन घर छोड कर भिक्षा लेने वाले।

६४ **सत्तघरतरिया**—एक घर से भिक्षा ग्रहण कर सात घर छोड कर भिक्षा लेन वाले।

६५ **उप्पलबेंटिया**—कमल के डठल खाकर रहने वाले।

६६ **घरसमुदाणिय**—प्रत्येक घर मे भिक्षा ग्रहण करने वाले।

६७ **विज्जुअतरिया**—बिजली गिरने के समय भिक्षा न लेने वाले।

६८ **उट्टियसमण**— किसी बडे मिट्टी के बर्तन मे बैठ कर तप करने वाले।

आजीवक मत का सस्थापक गोशालक था। भगवती सूत्र[१२२] के अनुसार वह महावीर के साथ दीर्घकाल तक रहा था। वह आठ महानिमित्तो का ज्ञाता था[१२३] और उसके श्रमण उग्र तपस्वी थे।[१२४]

अन्य श्रमण

६९ **अत्तुक्कोसिय**—आत्म-प्रशसा करने वाले।

७० **परिवाइय** -पर-निन्दा करने वाले। भगवती [१२५] मे अवर्णवादी को किल्विषक कहा है।

७१ **भूइकम्मिय** ज्वरग्रस्त लोगो का भूति [राख] देकर नीरोग करने वाले।

७२ **भुज्जो भुज्जो कोउयकारक**— बार-बार सौभाग्य वृद्धि के लिए कौतुक, स्नानादि करने वाले।

सात निह्नव

विचार का इतिहास जितना पुराना है उतना ही पुराना है विचार-भेद का इतिहास। विचार व्यक्ति की उपज है। वह सघ मे रूढ होने के बाद सघीय कहलाता है। सुदीर्घकालीन परम्परा मे विचार-भेद होना असम्भव नही है। जैन परम्परा मे भी विचार-भेद हुए है। जो जैन धर्मसघ से सर्वथा पृथक् हो गए, उन श्रमणो का यहाँ उल्लेख नही है। यहाँ केवल उनका उल्लेख है, जिनका किसी एक विषय मे मत-भेद हुआ, जो भगवान महावीर के शासन से पृथक् हुए, पर जिन्होने अन्य धर्म को स्वीकार नही किया। इसलिए वे जैन-शासन के एक विषय के अपलाप करने वाले निह्नव कहलाये। वे सात है। उनमे से दो भगवान् महावीर के कैवल्य-प्राप्ति के बाद हुए और

---

१२२ भगवती सूत्र, शतक १५ वा

१२३ पचकल्प चूर्णि

१२४ (क) स्थानाग—४।३०९
(ख) हिस्ट्री एण्ड डाक्ट्रीन्स आफ द आजीविकाज —ए एल बाशम

१२५ भगवती सूत्र, १।२

शेष पाच निर्वाण के पश्चात् हुए।[126] इनका अस्तित्व-काल श्रमण भगवान् महावीर के कैवल्य प्राप्ति के चौदह वर्ष से निर्वाण के पश्चात पाच सौ चौरासी वर्ष तक का है।[127]

१ **बहुरत**—भगवान् महावीर के कैवल्य प्रप्ति के चौदह वर्ष पश्चान् श्रावस्ती मे बहुरतवाद की उत्पत्ति हुई।[128] इसके प्ररूपक जमाली थे। बहुरतवादी कार्य की निष्पत्ति मे दीर्घकाल की अपेक्षा मानते हैं। वह क्रियमाण को कृत नही मानते, अपितु वस्तु के पूर्ण निष्पन्न होने पर ही उसका अस्तित्व स्वीकार करते हैं।

२. **जीवप्रादेशिक**—भगवान् महावीर के कैवल्य-प्राप्ति के सोलह वर्ष पश्चात् ऋषभपुर[129] मे जीव-प्रादेशिकवाद की उत्पत्ति हुई।[130] इसके प्रवर्तक तिष्यगुप्त थे। जीव के असख्य प्रदेश है, परन्तु जीवप्रादेशिक मतानुमारी जीव के चरम प्रदेश को ही जीव मानते है, शेष प्रदेशो को नही।

३ **अव्यक्तिक**—भगवान् महावीर के परिनिर्वाण के दो सौ चौदह वर्ष पश्चात् श्वेताम्बिका नगरी मे अव्यक्तवाद की उत्पत्ति हुई।[131] इसके प्रवर्तक आचार्य आसाढ के शिष्य थे। अव्यक्तवादी ये शिष्य अनेक थे। अतएव उनके नामो का उल्लेख उपलब्ध नही है। मात्र उनके पूर्वावस्था के गुरु का नामोल्लेख किया गया है। नवागी टीकाकार ने भी इस आशय का सकेत किया है।[132]

४ **सामुच्छेदिक**—भगवान् महावीर के परिनिर्वाण के दो सौ बीस वर्ष के पश्चात् मिथिलापुरी मे समुच्छेदवाद की उत्पत्ति हुई।[133] इनके प्रवर्तक आचार्य अश्वमित्र थे। ये प्रत्येक पदार्थ का सम्पूर्ण विनाश मानते है, एव एकान्त समुच्छेद का निरूपण करते है।

५ **द्वैक्रिय**—श्रमण भगवान् महावीर के परिनिर्वाण के दो सौ अट्ठाईस वर्ष पश्चात् उल्लुकातीर नगर

---

१२६ णाणुप्पत्तीय दुवे, उप्पण्णा णिव्वुए सेसा। —आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा-७८४

१२७ चोद्दस सोलह सवासा, चोद्दस वीसुत्तरा य दोण्णिसया।
अट्ठावीसा य दुवे, पचेव सया उ चोयाला॥
पचलया चुलसीया • • । —आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा-७८३-७८४

१२८ चउदस वासाणि तया जिणेण उप्पाडियस्स नाणस्स।
तो बहुरयाण दिट्ठी सावत्थीए समुप्पन्ना॥ —आवश्यक भाष्य, गाथा-१२५

१२९ ऋषभपुर राजगृहस्याद्याह्वा। —आवश्यकनिर्युक्ति दीपिका, पत्र-१४३

१३० सोलसवासाणि तया जिणेण उप्पाडियस्स नाणस्स।
जीवपएसिअदिट्ठी उसभपुरम्मि समुप्पन्ना॥ —आवश्यकभाष्य गाथा, १२७

१३१ चउदस दो वाससया तइया सिद्धि गयस्स वीरस्स।
अव्वत्तगाण दिट्ठी, सेअबिआए समुप्पन्ना॥ —आवश्यक भाष्य, गाथा-१२९.

१३२ सोऽमव्यक्तमतधर्माचार्यो, न चाय तन्मतप्ररूपकत्वेन किन्तु प्रागवस्थायामिति। —स्थानाग वृत्ति, पत्र ३९१

१३३. वीसा दो वाससया तइया सिद्धि गयस्स वीरस्स।
सामुच्छेइअदिट्ठी, मिहिलपुरीए समुप्पन्ना॥ —आवश्यक भाष्य, गाथा-१३१

मे द्विक्रियावाद की उत्पत्ति हुई ।[134] इसके प्रवर्तक आचार्य गग थे । ये एक ही साथ दो क्रियाओ का अनुवेदन मानते हैं ।

६ **त्रैराशिक**—श्रमण भगवान् महावीर के परिनिर्वाण के पाच सौ चवालीस वर्ष पश्चात् अन्तरजिका नगरी मे त्रैराशिक मत का प्रवर्तन हुआ ।[135] इसके प्रवर्तक आचार्य रोहगुप्त [षडुलूक] थे । उन्होने दो राशि के स्थान पर तीन राशियाँ मानी ।

७ **अबद्धिक**—श्रमण भगवान् महावीर के निर्वाण के पाँच सौ चौरासी वर्ष पश्चात् दशपुर नगर मे अबद्धिक मत का प्रारम्भ हुआ । इसके प्रवर्तक आचार्य गोष्ठामाहिल थे ।[136] इनका यह मन्तव्य था कि कर्म आत्मा का स्पर्श करते है किन्तु उनके साथ एकीभूत नही होते ।

इन सात निह्नवो मे जमाली, रोहगुप्त और गोष्ठामाहिल—ये तीनो अन्त समय तक अलग रहे । शेष चार निह्नव भगवान् महावीर के शासन मे पुन मिल गये ।

इन सभी तापसो, परिव्राजको और श्रमणो के मरण के पश्चात् विभिन्न पर्यायो मे जन्मग्रहण करने के उल्लेख है । ये उल्लेख इस बात के द्योतक है कि कौन साधक कितना अधिक साधना-सम्पन्न है ? जिसकी जितनी अधिक निर्मल साधना है, उतना ही वह अधिक उच्च देवलोक को प्राप्त होता है । कर्मों का पूर्ण क्षय होने पर मुक्ति होती है । इसलिए केवली समुद्घात का भी निरूपण है । केवली समुद्घात मे आत्म-प्रदेश सम्पूर्ण लोक मे फैल जाते है । इसकी तुलना मुण्डक उपनिषद् के 'सर्वगत' से की जा सकती है ।[137]

मुक्त आत्माओ की विग्रहगति नही होती, मुक्त होते समय साकारोपयोग होता है । सिद्धो की सादि अपर्यवसित स्थिति को द्योतित करने के लिए दग्ध बीज का उदाहरण दिया गया है । सिद्ध होने वाले जीव का सहनन, सस्थान, जघन्य-उत्कृष्ट अवगाहना, सिद्धो का निवास-स्थान, सर्वार्थसिद्ध विमान के ऊपरी भाग से ईषत् प्राग्भारा पृथ्वी तल का अन्तर, ईषत् प्राग्भारा पृथ्वी का आयाम, विष्कभ, परिधि, मध्यभाग की मोटाई, उसके १२ नाम, उसका वर्ण, सस्थान, पौद्गलिक रचना, स्पर्श और उसकी अनुपम सुन्दरता का वर्णन किया गया है । ईषत् प्राग्भारा के उपरि तल से लोकान्त का अन्तर और कोश के छठे भाग मे सिद्धो की अवस्थिति आदि बताई गई है ।

अन्त मे बाईस गाथाओ के द्वारा सिद्धो का वर्णन है । ये गाथायें सिद्धो के वर्णन को समझने मे अत्यन्त उपयोगी है । इसमे भील-पुत्र के उदाहरण से सिद्धो के सुख को स्पष्ट किया गया है । यह उदाहरण बहुत ही हृदय-स्पर्शी है ।

इस प्रकार यह आगम अपने आप मे महत्त्वपूर्ण सामग्री लिये हुए है । नगर, चैत्य, राजा और रानियो का सागोपाग वर्णन अन्य आगमो के लिए आधार रूप रहा है । चम्पा नगरी का आलकारिक वर्णन प्राकृत-साहित्य के

---

१३४ अट्ठावीसा दो वाससया तइया सिद्धिगयस्स वीरस्स ।
दो किरियाण दिट्ठी उल्लुगतीरे समुप्पन्ना ॥ —आवश्यक भाष्य, गाथा-१३३

१३५ पच सया चोयाला तइया सिद्धि गयस्स वीरस्स ।
पुरिमतरजियाए तेरासियदिट्ठी उप्पन्ना ॥ —आवश्यक भाष्य, गाथा-१३५

१३६. पचसया चुलसीया तइया सिद्धि गयस्स वीरस्स ।
अबद्धिगाण दिट्ठी दसपुरनयरे समुप्पन्ना ॥ —आवश्यक भाष्य, गाथा-१४१

१३७ मुण्डक उपनिषद्—१।१।६

लिए स्रोत रूप मे रहा है। ऐसा सूक्ष्म और पूर्ण वर्णन संस्कृत-साहित्य में भी कम देखने को मिलता है। संस्कृति और समाज की दृष्टि से तथा तत्काल मे प्रचलित विभिन्न आत्मसाधना-पद्धतियो को समझने की दृष्टि से भी इस आगम का महत्त्व है। इसमे धार्मिक और नैतिक मूल्यो की स्थापना हुई है।

भाषा की दृष्टि से प्रस्तुत आगम उपमा-बहुल, समास-बहुल और विशेषण-बहुल है। इसमे पहले प्रकरण की भाषा कठिन है तो दूसरे प्रकरण की भाषा बहुत ही सरल है। आगम के अन्त मे तो बहुत ही सरल भाषा है।

प्रस्तुत आगम मे आये हुए शब्दो के प्रयोग कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे भी प्राय ज्यो के त्यो मिलते है। उदाहरण के रूप मे प्रस्तुत आगम मे घूसखोर के लिए प्रयुक्त "उक्कोडिय" जिसका संस्कृत रूप "उत्कोचक" है। कौटिल्य-अर्थशास्त्र मे[१३८] भी इसी अर्थ मे आया है।

औपपातिक मे कूणिक राजा के प्रसग मे बताया गया है कि वह महेन्द्र और मलय पर्वत की तरह उन्नत कुल मे समुत्पन्न हुआ था।[१३९] कौटिलीय अर्थशास्त्र में मलय और महेन्द्र पर्वत का वर्णन है। महेन्द्रपर्वत के मोती और मलय पर्वत के चन्दन-वृक्ष बहुत ही श्रेष्ठ होते है।[१४०]

औपपातिक मे 'अर्गला' का नाम 'इन्द्रकील' आया है।[१४१] तो कौटिलीय अर्थशास्त्र मे भी अर्गला के अर्थ मे इन्द्रकील शब्द प्रयुक्त है।[१४२]

इस तरह प्रस्तुत आगम में आये हुए अनेक शब्दो की तुलना कौटिल्य-अर्थशास्त्र मे की जा सकती है। इससे यह स्पष्ट है कि प्रस्तुत आगम की रचना उससे बहुत पहले हुई। जहाँ तक भाषा का प्रश्न है, प्रारम्भ की भाषा कठिन व समासयुक्त है तो बाद की भाषा सरल है। किन्तु विषय के अनुरूप भाषा कठिन और सरल होती है, इसलिए इसे दोनो अध्यायो को अलग-अलग समय की रचना मानना उपयुक्त नही है। हमारे अपने अभिमतानुसार यह सम्पूर्ण आगम एक ही समय की रचना है।

व्याख्या-साहित्य

औपपातिक सूत्र का विषय सरल होने के कारण इस पर निर्युक्ति, भाष्य या चूर्णि साहित्य की सरचना नही की गई, केवल नवागी टीकाकार आचार्य अभयदेव ने इस पर संस्कृत भाषा मे सर्वप्रथम टीका लिखी। यह टीका शब्दार्थ प्रधान है। टीका मे सर्वप्रथम आचार्य ने भगवान् महावीर को नमस्कार किया है तथा औपपातिक का अर्थ करते हुए लिखा है कि उपपात का अर्थ है—देवो और नारको मे जन्म लेना व सिद्धि गमन करना। उपपात सम्बन्धी वर्णन होने से इस आगम का नाम 'औपपातिक' है।

टीका मे नट, नर्तक, जल्ल, मल्ल, मौष्टिक, विडम्बक, कथक, प्लवक, लासक, आख्यायक, प्रभृति अनेक महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक, सामाजिक एव प्रशासन विषयक शास्त्रीय शब्दो का अर्थ स्पष्ट किया गया है। वृत्ति [टीका]

---

१३८ कौटिलीय अर्थशास्त्र, अधिकरण ४, अध्याय ४।१०

१३९ औपपातिक

१४० कौटिलीय अर्थशास्त्र, अधिकरण २, अध्याय ११।२

१४१ औपपातिक

१४२ कौटिलीय अर्थशास्त्र, अधिकरण २, अध्याय ३।२६

मे अनेक पाठान्तर और मतान्तरो का भी सकेत है। वृत्ति के अन्त मे अपने कुल और गुरु का नाम भी निर्दिष्ट किया है। यह भी लिखा है, इस वृत्ति का सशोधन अणहिलपाटक नगर मे द्रोणाचार्य ने किया।[१४३]

प्रस्तुत आगम किस अग का उपाग है? इस प्रश्न पर चिन्तन करते हुए टीका मे आचार्य अभयदेव ने लिखा है कि आचाराग का प्रथम अध्ययन शस्त्रपरिज्ञा है। उसका यह सूत्र है कि मैं कहाँ से आया हूँ और कहाँ जाऊँगा? इस सूत्र मे उपपात की चर्चा है, इसलिए यह आगम आचाराग का ही उपाग है।[१४४]

प्रस्तुत आगम अभयदेववृत्ति के साथ सर्वप्रथम सन् १८७५ में रायबहादुर धनपतसिंह ने कलकत्ता से प्रकाशित किया। उसके बाद १८८० मे आगम सग्रह-कलकत्ता से और १९१६ मे आगमोदय समिति-बम्बई से अभयदेववृत्ति के साथ प्रकट हुआ है। सन् १८८३ मे प्रस्तावना आदि के साथ E Levnann Lepizip, का प्रकाशन हुआ। आचार्य अमोलकऋषिजी ने हिन्दी अनुवाद सहित इसका सस्करण प्रकाशित किया। सन् १९६३ मे मूल हिन्दी अनुवाद के साथ सस्कृति रक्षक, सघ, सैलाना से एक सस्करण प्रकाशित हुआ है। १९५९ मे जैन शास्त्रोद्धार समिति राजकोट से सस्कृत व्याख्या व हिन्दी गुजराती अनुवाद के साथ आचार्य श्री घासीलालजी म ने सस्करण निकाला है। सन् १९३६ मे इसका मात्र मूल पाठ छोटेलाल यति ने जीवन कार्यालय-अजमेर से और पुप्फभिक्खु ने सुत्तागमे के रूप मे छपाया।

प्रस्तुत सस्करण और सम्पादन

इस प्रकार समय-समय पर अनेक सस्करण औपपातिक के प्रकाशित हुए है, किन्तु आधुनिक दृष्टि से शुद्ध मूल पाठ, प्राजल भाषा मे अनुवाद और आवश्यक स्थलो पर टिप्पण आदि के साथ अभिनव सस्करण की अत्यधिक माँग थी। उस माँग की पूर्ति श्रमण सघ के युवाचार्य महामहिम श्री मधुकरमुनिजी ने करने का भगीरथ कार्य अपने हाथ मे लिया और अनेक मूर्धन्य मनीषियो के हार्दिक सहयोग से यह कार्य द्रुतगति से आगे बढ रहा है। प्रश्न-व्याकरण को छोड कर शेष दश अग प्राय. प्रकाशित हो चुके है। भगवती जो विराट्काय आगम है, वह भी अनेक भागो मे प्रकाशित हो रहा है। प्रस्तुत आगम के साथ युवाचार्यश्री ने उपाग साहित्य को प्रकाशित करने का श्रीगणेश किया है। युवाचार्यश्री प्रकृष्ट प्रतिभा के धनी है और साथ ही मेरे परमश्रद्धेय सद्गुरुवर्य उपाध्याय श्रीपुष्करमुनिजी म के अनन्य सहयोगी और साथी है। युवाचार्यश्री के प्रबल प्रयास से यह कार्य प्रगति पर है, यह प्रसन्नता है।

---

१४३ चन्द्रकुल विपुल भूतलयुगप्रवर वर्धमानकल्पतरो।
कुसुमोपमस्य सूरे गुणसौरभभरितभवनस्य ॥१॥
निस्सम्बन्ध विहारस्य, सर्वदा श्रीजिनेश्वराह्वस्य।
शिष्येणाभयदेवाख्यसूरिणेय, कृता वृत्ति ॥२॥
अणहिलपाटक नगरे श्रीमद्द्रोणाख्यसूरिमुख्येन।
पण्डितगुणेन गुणवत्प्रियेण, सशोधिता चेयम् ॥३॥

१४४ इद चोपाङ्ग वर्त्तते, आचारागस्य हि प्रथममध्ययन शस्त्रपरिज्ञा, तस्याद्योद्देशके सूत्रमिदम् 'एवमेगेसि नो नाय भवइ, अत्थि वा मे आया उववाइए, नत्थि वा मे आया उववाइए, के वा अह आसी? के वा इह [अह] च्चुए [इओ चुओ] पेच्चा इह भविस्सामि' इत्यादि, इह च सूत्रे यदौपपातिकत्वमात्मनो निर्दिष्ट तदिह प्रपञ्च्यत इत्यर्थतोऽङ्गस्य समीपभावेनेदमुपाङ्गम्। —औपपातिक अभयदेववृत्ति

प्रस्तुत आगम के सम्पादक डॉ. छगनलालजी शास्त्री हैं, जिन्होने पहले उपासकदशाग का शानदार सम्पादन किया है। औपपातिक सूत्र के सम्पादन मे भी उनकी प्रबल प्रतिभा यत्र-तत्र मुखरित हुई है। अनुवाद मूल विषय को स्पष्ट करने वाला है। जहाँ कही उन्होने विवेचन किया है, उनके गम्भीर पाण्डित्य को प्रदर्शित कर रहा है। तथा सम्पादनकलामर्मज्ञ प शोभाचन्द्रजी भारिल्ल का गहन श्रम भी इसमे उजागर हुआ है।

मुझे पूर्ण विश्वास है—प्रस्तुत आगम जन-जन के अन्तर्मानस मे त्याग-वैराग्य की ज्योति जागृत करेगा। भौतिकवाद की आधी मे स्व-स्वरूप को भूले हुए राहियो का यह सच्चा पथ प्रदर्शन करेगा। आगम मे आये हुए कितने ही तथ्यो पर मैंने सक्षेप मे चिन्तन किया है। जिज्ञासु प्रबुद्ध पाठकवर्ग प्रस्तुत आगम का स्वाध्याय कर विचार-मुक्ताओ को प्राप्त करे, यही मगल मनीषा !

—देवेन्द्रमुनि शास्त्री

जैन स्थानक सिहपोल
जोधपुर (राजस्थान)
दि ४ अगस्त १९८२
रक्षाबन्धन

अनुक्रम

सुयथेरमुणिपणीअं पढम उवंग

उववाइयसुत्तं

श्रुतस्थविरमुनिप्रणीतं प्रथममुपाङ्गम्

औपपातिकसूत्रम्

औपपातिकसूत्र

चम्पा नगरी

१—तेण कालेणं तेणं समएण चंपा नाम नयरी होत्था—रिद्धत्थिमियसमिद्धा, पमुइयजणजाणवया, आइण्णजणमणूसा, हलसयसहस्ससकिट्ठ-विकिट्ठ-लट्ठ-पण्णत्तसेउसीमा, कुक्कुडसंडेयगामपउरा, उच्छुजवसालिकलिया, गो-महिस-गवेलगप्पभूया, आयारवंत-चेइयजुवइविविहसण्णिविट्ठबहुला, उक्कोडियगायगंठिभेयग-भड-तक्कर-खंडरक्खरहिया, खेमा, णिरुवद्दवा, सुभिक्खा, वीसत्थसुहावासा, अणेगकोडिकुडु बियाइण्णणिव्वुयसुहा, णड-णट्टग-जल्ल-मल्ल-मुट्ठिय-वेलंबग-कहग-पवग-लासग-आइक्खग-मंखलंख-तूणइल्ल-तु बवीणिय-अणेगतालायराणुचरिया, आरामुज्जाण-अगड-तलाग-दीहिय-वप्पिणगुणोववेया, नदणवणसन्निभप्पगासा, उव्विद्धविउलगंभीरखायफलिहा, चक्क-गय-भुसु ढि-ओरोह-सयग्घि-जमलकवाड-घणदुप्पवेसा, धणुकुडिलवंकपागारपरिक्खित्ता, कविसीसगवट्टरइयसंठियविरायमाणा, अट्टालय-चरिय-दार-गोपुर-तोरण-समुण्णयसुविभत्तरायमग्गा, छेयायरियरइयदढफलिहइंदकीला, विवणिवणिछित्तसिप्पियाइण्णणिव्वुयसुहा, सिंघाडग-तिग-चउक्क-चच्चर-पणियावण-विविहवत्थुपरिमंडिया, सुरम्मा, नरवइपविइण्णमहिवइपहा, अणेगवरतुरग-मत्तकु जर-रहपहकर-सीय-संदमाणीआइण्णजाण-जुग्गा, विमउलणवणलिणिसोभियजला, पंडुरवरभवणसण्णिमहिया, उत्ताणणयणपेच्छणिज्जा, पासादीया, दरिसणिज्जा, अभिरूवा पडिरूवा ।

१- उस काल—वर्तमान अवसर्पिणी के चौथे आरे के अन्त मे, उस समय—जब आर्य सुधर्मा विद्यमान थे, चम्पा नामक नगरी थी । वह वैभवशाली, सुरक्षित एव समृद्ध थी । वहा के नागरिक और जनपद के अन्य भागो से आये व्यक्ति वहा आमोद-प्रमोद के प्रचुर साधन होने से प्रमुदित रहते थे । लोगो की वहाँ घनी आबादी थी । सैकडो, हजारो हलों से जुती उसकी समीपवर्ती भूमि सहजतया सुन्दर मार्ग-सीमा सी लगती थी । वहाँ मुर्गों और युवा साडो के बहुत से समूह थे । उसके आसपास की भूमि ईख, जौ और धान के पौधो से लहलहाती थी । वहाँ गायो, भैसो, भेडो की प्रचुरता थी । वहाँ सुन्दर शिल्पकलायुक्त चैत्य और युवतियो के विविध सन्निवेशो—पण्य तरुणियो के पाडो—टोलो का बाहुल्य था । वह रिश्वतखोरो, गिरहकटो, बटमारो, चारो, खण्डरक्षको—चुंगी वसूल करने वालो से रहित, सुख-शान्तिमय एव उपद्रवशून्य थी । वहाँ भिक्षुको को भिक्षा सुखपूर्वक प्राप्त होती थी, इसलिए वहाँ निवास करने मे सब सुख मानते थे, आश्वस्त थे । अनेक श्रेणी के कौटुम्बिक—पारिवारिक लोगो की घनी बस्ती होते हुए भी वह शान्तिमय थी । नट—नाटक दिखाने वाले, नर्तक—नाचने वाले, जल्ल—कलाबाज—रस्सी आदि पर चढकर कला दिखाने वाले, मल्ल—पहलवान, मौष्टिक—मुक्केबाज, विडम्बक—विदूषक—मसखरे, कथक—कथा कहने वाले, प्लवक—उछलने या नदी आदि मे तैरने का प्रदर्शन करने वाले, लासक—वीररस की गाथाए या रास गाने वाले,

आख्यायक—शुभ अशुभ बताने वाले, लख—बाम के सिरे पर खेल दिखाने वाले, मख—चित्रपट दिखाकर आजीविका चलाने वाले, तूणइल्ल—तूण नामक तन्तु-वाद्य बजाकर आजीविका कमाने वाले, तु बवीणिक—तु ब-वीणा या पू गी बजाने वाले, तालाचर—ताली बजाकर मनोविनोद करने वाले आदि अनेक जनो से वह सेवित थी। आराम—क्रीडावाटिका, उद्यान—बगीचे, कुए, तालाब, बावडी, जल के छोटे-छोटे बांध—इनसे युक्त थी, नदनवन-सी लगती थी। वह ऊची, विस्तीर्ण और गहरी खाई से युक्त थी, चक्र, गदा, भुसु डि—पत्थर फेकने का एक विशेष अस्त्र—गोफिया, अवरोध—अन्तर-प्राकार—शत्रु सेना को रोकने के लिए परकोटे जैसा भीतरी सुदृढ़ आवरक साधन, शतघ्नी—महायष्टि या महाशिला, जिसके गिराये जाने पर सैकडो व्यक्ति दब-कुचल कर मर जाए और द्वार के छिद्र रहित कपाटयुगल के कारण जहाँ प्रवेश कर पाना दुष्कर था। धनुष जैसे टेढे परकोटे से वह घिरी हुई थी। उस परकोटे पर गोल आकार के बने हुए कपिशीर्षको—कगूरो—भीतर से शत्रु-सैन्य को देखने आदि हेतु निर्मित बन्दर के मस्तक के आकार के छेदो— से वह सुशोभित थी। उसके राजमार्ग, अट्टालक—परकोटे के ऊपर निर्मित आश्रय-स्थानो—गुमटियो, चरिका—परकोटे के मध्य बने हुए आठ हाथ चौडे मार्गों, परकोटे मे बने हुए छोटे द्वारो—बारियो, गोपुरो—नगरद्वारो, तोरणो से सुशोभित और सुविभक्त थे। उसकी अर्गला और इन्द्रकील—गोपुर के किवाडो के आगे जड़े हुए नुकीले भाले जैसी कीले, सुयोग्य शिल्पाचार्यों—निपुण शिल्पियो द्वारा निर्मित थी। विपणि—हाट-मार्ग, वणिक्-क्षेत्र—व्यापार-क्षेत्र, बाजार आदि के कारण तथा बहुत से शिल्पियो, कारीगरो के आवासित होने के कारण वह सुख-सुविधा पूर्ण थी। तिकोने स्थानो, तिराहो, चौराहो, चत्वरो—जहाँ चार से अधिक रास्ते मिलते हो, ऐसे स्थानो, बर्तन आदि की दूकानो तथा अनेक प्रकार की वस्तुओ से परिमडित—सुशोभित और रमणीय थी। राजा की सवारी निकलते रहने के कारण उसके राजमार्गों पर भीड लगी रहती थी। वहाँ अनेक उत्तम घोडे, मदोन्मत्त हाथी, रथसमूह, शिविका—पर्देदार पालखिया, स्यन्दमानिका—पुरुष-प्रमाण पालखिया, यान—गाडिया तथा युग्य—पुरातनकालीन गोल्लदेश मे सुप्रसिद्ध दो हाथ लम्बे चौडे डोली जैसे यान—इनका जमघट लगा रहता था। वहाँ खिले हुए कमलो से शोभित जल—जलाशय थे। सफेदी किए हुए उत्तम भवनो से वह सुशोभित, अत्यधिक सुन्दरता के कारण निर्निमेष नेत्रो से प्रेक्षणीय, चित्त को प्रसन्न करने वाली, दर्शनीय, अभिरूप—मनोज्ञ—मन को अपने मे रमा लेने वाली तथा प्रतिरूप—मन मे बस जाने वाली थी।

पूर्णभद्र चैत्य

२—तीसे णं चंपाए णयरीए बहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसीभाए पुण्णभद्दे नामं चेइए होत्था—चिराईए, पुव्वपुरिसपण्णत्ते पोराणे, सद्दिए, वित्तिए, कित्तिए, णाए, सच्छत्ते, सज्झए, सघण्टे, सपडागे, पडागाइपडागमंडिए, सलोमहत्थे, कयवेयड्डिए, लाउल्लोइयमहिए, गोसीस-सरसरत्तचंदण-दद्दरदिण्ण-पंचंगुलितले, उवचियचंदणकलसे, चंदणघडसुकयतोरणपडिदुवारदेसभाए, आसत्तोसत्तविउलवट्टवग्घारियमल्लदामकलावे, पचवण्णसरससुरभिमुक्कपुप्फपु जोवयारकलिए, कालागुरु-पवरकु दुरुक्क-तुरुक्क-धूव-मघमघंतगंधुद्धुयाभिरामे, सुगंधवरगंधगंधिए, गधवट्टिभूए—

णड-णट्टग-जल्ल-मल्ल-मुट्ठिय-वेलंबग-पवग-कहग-लासग-आइक्खग-लख-मंख-तूणइल्ल-तु ब-वीणिय-भुयग-मागहपरिगए, बहुजणजाणवयस्स विस्सुयकित्तिए, बहुजणस्स आहुस्स आहुणिज्जे, पाहुणिज्जे, अच्चणिज्जे, वंदणिज्जे, नमंसणिज्जे, पूयणिज्जे, सक्कारणिज्जे, सम्माणणिज्जे, कल्लाणं, मंगलं,

देवयं, चेइयं, विणएणं पज्जुवासणिज्जे, दिव्वे, सच्चे, सच्चोवाए, सण्णिहियपाडिहेरे, जागसहस्सभाग-पडिच्छए बहुजणो अच्चेइ आगम्म पुण्णभद्दचेइय पुण्णभद्दचेइयं ।।

२—उस चम्पा नगरी के बाहर उत्तर-पूर्व दिशा भाग मे—ईशान कोण मे पूर्णभद्र नामक चैत्य—यक्षायतन था। वह चिरकाल से चला आ रहा था। पूर्व पुरुष—अतीत मे हुए मनुष्य उसकी प्राचीनता की चर्चा करते रहते थे। वह सुप्रसिद्ध था। वह वित्तिक—वित्तयुक्त-चढावा, भेट आदि के रूप मे प्राप्त सम्पत्ति से युक्त था अथवा वृत्तिक—आश्रित लोगो को उसकी ओर से आर्थिक वृत्ति दी जाती थी। वह कीर्तित—लोगो द्वारा प्रशसित था, न्यायशील था—लौकिक श्रद्धायुक्त पुरुष वहाँ आकर न्याय प्राप्त करते थे अथवा वह ज्ञात—अपने प्रभाव आदि के कारण विख्यात था। वह छत्र, ध्वजा, घण्टा तथा पताका युक्त था। वह छोटी और बडी झण्डियो से सजा था। सफाई के लिए वहाँ रोममय पिच्छियाँ रक्खी थी। वेदिकाएँ बनी हुई थी वहाँ की भूमि गोबर आदि से लिपी थी। उसकी दीवारे खडिया, कलई आदि से पुती थी। उसकी दीवारो पर गोलोचम तथा सरम—आर्द्र लाल चन्दन के, पाँचो अगुलियो और हथेली महित, हाथ की छापे लगी थी। वहाँ चन्दन-कलश—चन्दन से चर्चित मगल-घट रक्खे थे। उमका प्रत्येक द्वार-भाग चन्दन-कलशो और तोरणो से सजा था। जमीन से ऊपर तक के भाग को छूती हुई बडी-बडी, गोल तथा लम्बी अनेक पुष्पमालाएँ वहाँ लटकती थी। पाँचो रगो के सरस—ताजे फूलो के ढेर के ढेर वहाँ चढाये हुए थे, जिनसे वह बडा सुन्दर प्रतीत होता था। काले अगर, उत्तम कुन्दरुक, लोबान तथा धूप की गमगमाती महक से वहाँ का वातावरण बडा मनोज्ञ था, उत्कृष्ट सौरभमय था। सुगन्धित धूएँ की प्रचुरता से वहाँ गोल-गोल धूममय छल्ले से बन रहे थे।

वह चैत्य नट—नाटक दिखानेवाले, नर्तक—नाचनेवाले, जल्ल—कलाबाज—रस्सी आदि पर चढकर कला दिखानेवाले, मल्ल—पहलवान, मौष्टिक—मुक्केबाज, विडम्बक—विदूषक—मसखरे, प्लवक—उछलने या नदी आदि मे तैरने का प्रदर्शन करनेवाले, कथक—कथा कहने वाले, लासक—वीर रस की गाथाएँ या रास गानेवाले, लख—बाँस के सिरे पर खेल दिखानेवाले, मख—चित्रपट दिखाकर आजीविका चलानेवाले, तूणइल्ल—तूण नामक तन्तुवाद्य बजाकर आजीविका चलानेवाले, तुम्बवीणिक—तुम्ब-वीणा या पूगी बजानेवाले, भोजक—भक्ति प्रधान गीत गायक तथा मागध—भाट आदि यशोगायक जनो से युक्त था। अनेकानेक नागरिको तथा जनपदवासियो मे उसकी कीर्ति फैली थी। बहुत से दानशील, उदार पुरुषो के लिए वह आहवनीय—आह्वान करने योग्य, प्राहवणीय—विशिष्ट विधि-विधान पूर्वक आह्वान करने योग्य, अर्चनीय—चन्दन आदि सुगन्धित द्रव्यो से अर्चना करने योग्य, वन्दनीय—स्तुति आदि द्वारा वन्दना करने योग्य, नमस्करणीय—प्रणमन, पूर्वक नमस्कार करने योग्य, पूजनीय—पुष्प आदि द्वारा पूजा करने योग्य, सत्करणीय—वस्त्र आदि द्वारा सत्कार करने योग्य, सम्माननीय—मन से सम्मान देने योग्य, कल्याणमय—कल्याण—अर्थ, प्रयोजन या कामना पूर्ण करने वाला, मंगलमय—अनर्थप्रतिहारक—अवाञ्छित स्थितियाँ मिटानेवाला, दिव्य—दैवी शक्ति युक्त तथा विनयपूर्वक पर्युपासनीय—विशेष रूप से उपासना करने योग्य था। वह दिव्य, सत्य एव सत्योपाय—अपने आराधको की सेवा को सफल करने वाला था। वह अतिशय व अतीन्द्रिय प्रभाव युक्त था, हजारो प्रकार की पूजा-उपासना उसे प्राप्त होती थी। बहुत से लोग वहाँ आते और उस पूर्णभद्र चैत्य की अर्चना-पूजा करते।

विवेचन—इस सन्दर्भ में प्रयुक्त चैत्य शब्द कुछ विवादास्पद है। चैत्य शब्द अनेकार्थवाची है। सुप्रसिद्ध जैनाचार्य पूज्य श्री जयमलजी म० ने चैत्य शब्द के एक सौ बारह अर्थों की गवेषणा की।[1]

१ चैत्य प्रासाद-विज्ञेय १ चेइय हरिरुच्यते २।
चैत्य चैतन्य-नाम स्यात् ३ चेइय च सुधा स्मृता ४॥
चैत्य ज्ञान समाख्यात ५ चेइय मानस्य मानव ६।
चेइय यतिरुत्तम स्यात् ७ चेइय भगमुच्यते ८॥
चैत्य जीवमवाप्नोति ९ चेई भोगस्य रभणम् १०।
चैत्य भोग-निवृत्तिश्च ११ चेई विनयनीचकौ १२॥
चैत्य पूर्णिमाचन्द्र स्यात् १३ चेई गृहस्य रभणम् १४।
चैत्य गृहमव्यावाध १५ चेई च गृहछादनम् १६॥
चैत्य गृहस्तभ चापि १७ चेई नाम वनस्पति १८।
चैत्य पर्वताग्रे वृक्ष १९ चेई वृक्षस्यस्थूलनम् २०॥
चैत्य वृक्षसारश्च २१ चेई चतुष्कोणस्तथा २२।
चैत्य विज्ञान-पुरुष २३ चेई देहश्च कथ्यते २४॥
चैत्य गुणज्ञो ज्ञेय २५ चेई च शिव-शासनम् २६।
चैत्य मस्तक पूण २७ चेई वपुर्हीनकम् २८॥
चेई अश्वमवाप्नोति २९ चेइय खर उच्यते ३०।
चैत्य हस्ती विज्ञेय ३१ चेई च विमुखी विदु ३२॥
चैत्य नृसिह-नाम स्यात् ३३ चेई च शिवा पुन ३४।
चैत्य रभानामोक्त ३५ चेई स्यान्मृदगकम् ३६॥
चैत्य शार्दूलता प्रोक्ता ३७ चेई च इन्द्रवारुणी ३८।
चैत्य पुरदर-नाम ३९ चेई चैतन्यमत्तता ४०॥
चैत्य गृहि-नाम स्यात् ४१ चेई शास्त्र-धारणा ४२।
चैत्य क्लेशहारी च ४३ चेई गाधर्वी-स्त्रिय ४४॥
चैत्य तपस्वी नारी च ४५ चेई पात्रस्य निर्णय ४६।
चैत्य शकुनादि-वार्ता च ४७ चेई कुमारिका विदु ४८॥
चेई तु त्यक्त-रागस्य ४९ चेई धत्तूर कुट्टितम् ५०।
चैत्य शाति-वाणी च ५१ चेई वृद्धा वरांगना ५२॥
चेई ब्रह्माण्डमान च ५३ चेई मयूर कथ्यते ५४।
चैत्य च नारका देवा ५५ चेई च बक उच्यते ५६॥
चेई हास्यमवाप्नोति ५७ चेई निभृष्ट प्रोच्यते ५८।
चैत्य मगल-वार्ता च ५९ चेई च काकिनी पुन ६०॥
चैत्य पुत्रवती नारी ६१ चेई च मीनमेव च ६२।
चैत्य नरेन्द्रराज्ञी च ६३ चेई च मृगवानरौ ६४॥
चैत्य गुणवती नारी ६५ चेई च स्मरमन्दिरे ६६।
चैत्य वर-कन्या नारी ६७ चेई च तरुणी-स्तनौ ६८॥

चैत्य शब्द के सन्दर्भ मे भाषावैज्ञानिको का ऐसा अनुमान है कि किसी मृत व्यक्ति के जलाने के स्थान पर उसकी स्मृति मे एक वृक्ष लगाने की प्राचीनकाल मे परम्परा रही है। भारतवर्ष से बाहर भी ऐसा होता रहा है। चिति या चिता के स्थान पर लगाये जाने के कारण वह वृक्ष 'चैत्य' कहा जाने लगा हो। आगे चलकर यह परम्परा कुछ बदल गई। वृक्ष के स्थान पर स्मारक के रूप मे मकान बनाया जाने लगा। उस मकान मे किसी लौकिक देव या यक्ष आदि की प्रतिमा स्थापित की जाने लगी। यो उसने एक देवस्थान या मन्दिर का रूप ले लिया। वह चैत्य कहा जाने लगा। ऐसा होते-होते चैत्य शब्द सामान्य मन्दिरवाची भी हो गया।

प्रस्तुत सूत्र मे आये हुए चैत्य के वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि जहाँ वह लौकिक दृष्टि से पूजा का स्थान था, अनेक मनौतिया लेकर लोग वहाँ आते थे, वहाँ नागरिको मे आमोद-प्रमोद तथा

चैत्य सुवर्ण-वर्णा, च ६९ चेई मुकुट-सागरो ७०।
चैत्य स्वर्णा जटी चोक्ता ७१ चेई च अन्य-धातुषु ७२॥
चैत्य राजा चक्रवर्ती ७३ चेई च तस्य या स्त्रिय ७४।
चैत्य विख्यात पुरुष ७५ चेई पुष्पमती-स्त्रिय ७६॥
चेई ये मन्दिर राज्ञ ७७ चैत्य वाराह-समत ७८।
चेई च यतयो धूर्ता ७९ चैत्य गरुडपक्षिणि ८०।
चेई च पद्मनागिनी ८१ चेई रक्त-मत्रेऽपि ८२।
चेई चक्षुर्विहीनस्तु ८३ चैत्य युवक पूरुष ८४॥
चैत्य वासुकी नाग ८५ चेई पुष्पी निगद्यते ८६।
चैत्य भाव-शुद्ध स्यात् ८७ चेई क्षुद्रा च घटिका ८८॥
चेई द्रव्यमवाप्नोति ८९ चेई च प्रतिमा तथा ९०।
चेई सुभट योद्धा च ९१ चेई च द्विविधा क्षुधा ९२॥
चैत्य पुरुष-क्षुद्रश्च ९३ चैत्य हार एव च ९४।
चैत्य नरेन्द्राभरण ९५ चेई जटाधरो नर ९६॥
चेई च धर्म-वार्ताया ९७ चेई च विकथा पुन ९८।
चैत्य चक्रपति सूर्य ९९ चेई च विधि-भ्रष्टकम् १००॥
चैत्य राज्ञी शयनस्थान १०१ चेई रामस्य गर्भता १०२।
चैत्य श्रवणे शुभे वार्ता १०३ चेई च इन्द्रजालकम् १०४॥
चैत्य यत्यासन प्रोक्त १०५ चेई च पापमेव च १०६।
चैत्यमुदयकाले च १०७ चैत्य च रजनी पुन १०८॥
चैत्य चन्द्रो द्वितीय स्यात् १०९ चेई च लोकपालके ११०।
चैत्य रत्न महामूल्य १११ चेई अन्यौषधी पुन ११२॥

[इति अलकरणे दीर्घब्रह्माण्डे सुरेश्वरवार्तिके प्रोक्तम् प्रतिमा चेइय शब्दे नाम ९०मो छे। चेइय ज्ञान नाम पाचमो छे। चेइय शब्दे यति = साधु नाम ७मु' छे। पछे यथा योग्य ठामे जे नामे हुवे ते जाणवो। सर्व चैत्य शब्दना आक ५७, अने चेइय शब्दे ५५ सर्व ११२ लिखित पू० भूधरजी तत्शिष्य ऋषि जयमल नागौर मझे स० १८०० चैत सुदी १० दिने]

—जयध्वज, पृष्ठ ५७३-७६

हास-विनोद का भी वह स्थान था, जो वहाँ नर्तकों, कलाबाजो, पहलवानो, मसखरो, कथा कहनेवालों, वाद्य बजानेवालो, मागधों—यशोगायकों आदि की अवस्थिति से प्रकट होता है।

वन-खण्ड

३—से णं पुण्णभद्दे चेइए एक्केणं महया वणसंडेणं सव्वओ समंता परिक्खित्ते। से णं वणसंडे किण्हे, किण्होभासे, नीले, नीलोभासे, हरिए, हरिओभासे, सीए, सीओभासे, णिद्धे, णिद्धोभासे, तिव्वे, तिव्वोभासे, किण्हे, किण्हच्छाए, नीले, नीलच्छाए, हरिए, हरियच्छाए, सीए, सीयच्छाए, णिद्धे, णिद्धच्छाए, तिव्वे, तिव्वच्छाए, घणकडिअकडिच्छाए, रम्मे, महामेहणिकुरंबभूए।

३—वह पूर्णभद्र चैत्य सब ओर से—चारो ओर से एक विशाल वन-खण्ड से घिरा हुआ था। सघनता के कारण वह वन-खण्ड काला, काली आभावाला, (मोर की गर्दन जैसा) नीला, नीली आभावाला तथा (तोते की पूंछ जैसा) हरा, हरी आभावाला था। लताओ, पौधो व वृक्षो की प्रचुरता के कारण वह (वन-खण्ड) स्पर्श मे शीतल, शीतल आभामय, स्निग्ध—चिकना, रुक्षतारहित, स्निग्ध आभामय, तीव्र—सुन्दर वर्ण आदि उत्कृष्ट गुणयुक्त तथा तीव्र आभामय था।

यो वह वन-खण्ड कालापन, काली छाया, नीलापन, नीली छाया, हरापन, हरी छाया, शीतलता, शीतल छाया, स्निग्धता, स्निग्ध छाया, तीव्रता तथा तीव्र छाया लिये हुए था। वृक्षो की शाखाओ के परस्पर गुंथ जाने के कारण वह गहरी, सघन छाया से युक्त था। उसका दृश्य ऐसा रमणीय था, मानो बडे-बडे बादलो की घटाएँ घिरी हो।

पादप

४—ते णं पायवा मूलमंतो कंदमंतो, खंधमंतो, तयामंतो, सालमंतो, पवालमंतो, पत्तमंतो, पुप्फमंतो, फलमंतो, बीयमंतो, अणुपुव्वसुजाय-रुइल-वट्टभावपरिणया, एक्कखंधा, अणेगसाला, अणेगसाहप्पसाहविडिमा, अणेगनरवामसुप्पसारियअग्गेज्झ घणविउलबद्धखंधा, अच्छिद्दपत्ता, अविरलपत्ता, अवाईणपत्ता, अणईअपत्ता, निद्धूयजरढपंडुपत्ता, णवहरियभिसंतपत्तभारंधयारगंभीरदरिसणिज्जा, उवणिग्गयणवतरुणपत्त - पल्लव - कोमल - उज्जलचलंतकिसलय-सुकुमालपवालसोहियवरंकुरग्गसिहरा, णिच्चं कुसुमिया, णिच्चं माइया, णिच्चं लवइया, णिच्चं थवइया, णिच्चं गुलइया, णिच्चं गोच्छिया, णिच्चं जमलिया, णिच्चं जुवलिया, णिच्चं विणमिया, णिच्चं पणमिया, णिच्चं कुसुमिय-माइय-लवइय-थवइय-गुलइय-गोच्छिय-जमलिय-जुवलिय-विणमिय-पणमिय-सुविभत्तपिंडमंजरिवडिंसयधरा, सुय बरहिण-मयणसाल-कोइल-कोभगक-भिंगारग-कोंडलग-जीवंजीवग-णंदीमुह-कविलपिंगलक्खग-कारंड-चक्कवाय-कलहंस-सारस-अणेगसउणगणमिहुणविरइयसद्दुण्णइयमहुरसरणाइए, सुरम्मे, संपिंडियदरिय भमरमहुयरिपहकरपरिलिंत-मत्तछप्पय-कुसुमासवलोलमहुर-गुमगुमंतगुंजंतदेसभाए, अब्भिंतरपुप्फफले, बाहिरपत्तोच्छण्णे, पत्तेहि य पुप्फेहि य ओच्छन्नपडिवलिच्छण्णे साउफले, निरोयए, अकंटए, णाणाविहगुच्छ-गुम्म-मंडवग-रम्मसोहिए, विचित्तसुहकेउभूए, वावी-पुक्खरिणी-दीहियासु य सुनिवेसियरम्मजालहरए पिंडिमणीहारिमं सुगंधिं सुहसुरभिमणहरं च महया गंधद्धणिं मुयंता, णाणाविहगुच्छगुम्ममंडवगघरगसुहसेउकेउबहुला, अणेगरहजाणजुग्गसिवियपविमोयणा, सुरम्मा, पासादीया, दरिसणिज्जा अभिरूवा, पडिरूवा॥

४—उस वन-खण्ड के वृक्ष उत्तम-मूल—जडो के ऊपरी भाग, कन्द—भीतरी भाग, जहाँ से जड़ें फूटती हैं, स्कन्ध—तने, छाल, शाखा, प्रवाल—अंकुरित होते पत्ते, पत्र, पुष्प, फल तथा बीज से

सम्पन्न थे। वे क्रमशः आनुपातिक रूप मे सुन्दर तथा गोलाकार विकसित थे। उनके एक-एक— अविभक्त तना तथा अनेक शाखाएँ थी। उनके मध्य भाग अनेक शाखाओ और प्रशाखाओ का विस्तार लिये हुए थे। उनके सघन, विस्तृत तथा सुघड तने अनेक मनुष्यो द्वारा फैलाई हुई भुजाओ से भी गृहीत नही किये जा सकते थे—घेरे नही जा सकते थे। उनके पत्ते छेदरहित, अविरल—घने—एक दूसरे से मिले हुए, अधोमुख—नीचे की ओर लटकते हुए तथा उपद्रव-रहित—नीरोग थे। उनके पुराने, पीले पत्ते झड गये थे। नये, हरे, चमकीले पत्तो की सघनता से वहाँ अधेरा तथा गम्भीरता दिखाई देती थी।

नवीन, परिपुष्ट पत्तो, कोमल उज्ज्वल तथा हिलते हुए किसलयो—पूरी तरह नही पके हुए पत्तो, प्रवालो—ताम्र वर्ण के नये निकलते पत्तो से उनके उच्च शिखर सुशोभित थे।

उनमे कई वृक्ष ऐसे थे, जो सब ऋतुओ मे फूलो, मंजरियो, पत्तों, फूलो के गुच्छो, गुल्मो—लता-कु जो तथा पत्तो के गुच्छो से युक्त रहते थे। कई ऐसे थे, जो सदा, समश्रेणिक रूप मे—एक कतार मे स्थित थे। कई ऐसे थे, जो सदा युगल रूप मे—दो-दो की जोडी के रूप मे विद्यमान थे। कई ऐसे थे, जो पुष्प, फल आदि के भार से नित्य विनमित—बहुत झुके हुए थे, प्रणमित—विशेष रूप से अभिनत—नमे हुए थे।

यो विविध प्रकार की अपनी-अपनी विशेषताएँ लिये हुए वे वृक्ष अपनी सुन्दर लुम्बियो तथा मजरियो के रूप मे मानो शिरोभूषण—कलगियाँ धारण किये रहते थे। तोते, मोर, मैना, कोयल, कोभगक, भिंगारक, कोण्डलक, चकोर, नन्दिमुख, तीतर, बटेर, बतख, चक्रवाक, कलहस, सारस प्रभृति पक्षियो द्वारा की जाती आवाज के उन्नत एव मधुर स्वरालाप से वे वृक्ष गु जित थे, सुरम्य प्रतीत होते थे। वहाँ स्थित मदमाते भ्रमरो तथा भ्रमरियो या मधुमक्खियो के समूह एवं पुष्परस—मकरन्द के लोभ से अन्यान्य स्थानो से आये हुए विविध जाति के भँवर मस्ती से गुनगुना रहे थे, जिससे वह स्थान गु जायमान हो रहा था।

वे वृक्ष भीतर से फूलो और फलो से आपूर्ण थे तथा बाहर से पत्तो से ढके थे। वे पत्तो और फूलो से सर्वथा लदे थे। उनके फल स्वादिष्ट, नीरोग तथा निष्कण्टक थे। वे तरह-तरह के फूलो के गुच्छो, लता-कु जो तथा मण्डपो द्वारा रमणीय प्रतीत होते थे, शोभित होते थे। वहाँ भिन्न-भिन्न प्रकार की सुन्दर ध्वजाएँ फहराती थी। चौकोर, गोल तथा लम्बी बावडियो मे जाली-झरोखेदार सुन्दर भवन बने थे। दूर-दूर तक जाने वाली सुगन्ध के सचित परमाणुओ के कारण वे वृक्ष अपनी सुन्दर महक से मन को हर लेते थे, अत्यन्त तृप्तिकारक विपुल सुगन्ध छोड़ते थे। वहाँ नानाविध, अनेकानेक पुष्पगुच्छ, लताकु ज, मण्डप, विश्राम-स्थान, सुन्दर मार्ग थे, झण्डे लगे थे। वे वृक्ष अनेक रथो, वाहनो, डोलियो तथा पालखियो के ठहराने के लिए उपयुक्त विस्तीर्ण थे।

इस प्रकार के वृक्ष रमणीय, मनोरम, दर्शनीय, अभिरूप—मन को अपने मे रमा लेने वाले तथा प्रतिरूप—मन मे बस जाने वाले थे।

अशोक-वृक्ष

५—तस्स णं वणसंडस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं महं एक्के असोगवरपायवे पण्णत्ते—कुस-विकुस-विसुद्ध-रुक्खमूले, मूलमंते, कंदमंते, जाव (खंधमंते, तयामंते, सालमंते, पवालमंते, पत्तमंते, पुप्फमंते,

फलमंते, बीयमंते, अणुपुव्वसुजायरुइलवट्टे भावपरिणए, एक्कखंधे, अणेगसाले, अणेगसाहप्पसाहविडिमे, अणेगनरवामसुप्पसारिय-अग्गेज्झघणविउलबद्धखंधे, अच्छिद्दपत्ते, अविरलपत्ते, अवाईणपत्ते,-अणईअपत्ते, निद्धूयजरढपंडुपत्ते, णव-हरिय-भिसंत-पत्तभारंधयारगंभीरदरिसणिज्जे, उवणिग्गय-णव-तरुण-पत्त-पल्लव-कोमलउज्जलचलंत-किसलय-सुकुमालपवाल-सोहियवरकुरग्गसिहरे, णिच्चं कुसुमिए, णिच्चं माइए, णिच्चं लवइए, णिच्चं थवइए, णिच्चं गुलइए, णिच्चं गोच्छिए, णिच्चं जमलिए, णिच्चं जुवलिए, णिच्चं विणमिए, णिच्चं पणमिए, णिच्चं कुसुमिय-माइय-लवइय-थवइय-गुलइय-गोच्छिय-जमलिय-जुवलिय-विणमिय-पणमिय-सुविभत्तपिंडमंजरिवडिंसयधरे, सुय-बरहिण-मयणसाल-कोइल-कोभगक-भिंगारग-कोंडलग-जीवजीवग-णंदीमुह-कविल-पिंगलक्खग - कारंड-चक्कवाय-कलहंस - सारस-अणेगसउणिगणमिहुणविरइयसद्दुण्णइयमहुरसरणाइए, सुरम्मे, संपिंडिय-दरिय-भमर-महुयरिपहकर-परिलिंतमत्तछप्पयकुसुमासवलोलमहुरगुमगुमंतगुंजंतदेसभाए, अब्भिंतर-पुप्फफले, बाहिरपत्तोच्छण्णे, पत्तेहि य पुप्फेहि य ओच्छन्नवलिच्छण्णे, साउफले, निरोयए, अकंटए, णाणाविहगुच्छगुम्ममंडवगरम्म-सोहिए विचित्तसुहकेउभूए वावीपुक्खरिणीदीहियासु य सुनिवेसिय-रम्मजालहरए पिंडिमणीहारिमं सुगंधि सुहसुरभिमणहरं च महया गंधद्धणिं मुयंते, णाणाविहगुच्छ-गुम्म-मंडवग-घरगसुहसेउकेउबहुले, अणेगरह-जाण-जुग्ग-सिविय-परिमोयणे), सुरम्मे, पासादीए, दरिसणिज्जे अभिरूवे, पडिरूवे ।।

५—उस वन-खण्ड के ठीक बीच के भाग मे एक विशाल एव सुन्दर अशोक वृक्ष था । उसकी जडे डाभ तथा दूसरे प्रकार के तृणो से विशुद्ध—रहित थी । (वह वृक्ष उत्तम मूल—जडो के ऊपरी भाग, कन्द—भीतरी भाग, जहाँ से जडे फूटती है, स्कन्ध—तना, छाल, शाखा, प्रवाल—अकुरित होते पत्ते, पत्र, पुष्प, फल तथा बीज सम्पन्न था । वह क्रमश आनुपातिक रूप मे सुन्दर तथा गोलाकार विकसित था । उसके एक—अविभक्त तना तथा अनेक शाखाएँ थी । उसका मध्य भाग अनेक शाखाओ और प्रशाखाओ का विस्तार लिये हुए था । उसका सघन, विस्तृत तथा सुघड तना अनेक मनुष्यो द्वारा फैलाई हुई भुजाओ से भी गृहीत नही किया जा सकता था—घेरा नही जा सकता था । उसके पत्ते छेदरहित, अविरल—घने—एक दूसरे से मिले हुए, अधोमुख—नीचे की ओर लटकते हुए तथा उपद्रव-रहित थे । उसके पुराने, पीले पत्ते झड गये थे । नये, हरे, चमकीले पत्तो की सघनता से वहाँ अधेरा तथा गम्भीरता दिखाई देती थी । नवीन, परिपुष्ट पत्तो, कोमल, उज्ज्वल तथा हिलते हुए किसलयो—पूरी तरह नही पके हुए पत्तो, प्रवालो—ताम्र वर्ण के नये निकलते पत्तो से उसका उच्च शिखर सुशोभित था ।

वह सब ऋतुओ मे फूलो, मजरियो, पत्तो, फूलो के गुच्छो, गुल्मो—लता-कुजो तथा पत्तो के गुच्छो से युक्त रहता था । वह सदा समश्रेणिक तथा युगल-रूप मे- दो-दो के जोड के बीच अवस्थित था । वह पुष्प, फल आदि के भार से सदा विनमित—बहुत झुका हुआ, प्रणमित—विशेष रूप से अभिनत—नमा हुआ था ।

यो विविध प्रकार से अपनी विशेषताएँ लिये हुए वह वृक्ष अपनी सुन्दर लुम्बियो तथा मजरियो के रूप मे मानो शिरोभूषण—कलगियाँ धारण किये रहता था । तोते, मोर, मैना, कोयल, कोभगक, भिंगारक, कोण्डलक, चकोर, नन्दिमुख, तीतर, बटेर, बतख, चक्रवाल, कलहस, सारस प्रभृति पक्षियो द्वारा की जाती आवाज के उन्नत एव मधुर स्वरालाप से वह गुजित था, सुरम्य प्रतीत होता था । वहाँ स्थित मदमाते भ्रमरो तथा भ्रमरियो या मधुमक्खियो के समूह एव पुष्परस—मकरन्द के लोभ

से अन्यान्य स्थानो से आये हुए विविध जाति के भँवरे मस्ती से गुनगुना रहे थे, जिससे वह स्थान गु जायमान हो रहा था।

वह वृक्ष भीतर से फूलो और फलो से आपूर्ण था तथा बाहर से पत्तो से ढँका था। यों वह पत्तो और फलो से सर्वथा लदा था। उसके फल स्वादिष्ट, नीरोग तथा निष्कण्टक थे। वह तरह-तरह के फूलो के गुच्छो, लता-कु जो तथा मण्डपो द्वारा रमणीय प्रतीत होता था, शोभित होता था। वहा भिन्न-भिन्न प्रकार की सुन्दर ध्वजाएँ फहराती थी। चौकोर, गोल तथा लम्बी बावडियो मे जाली-झरोखेदार सुन्दर भवन बने थे। दूर दूर तक जानेवाली सुगन्ध के सचितपरमाणुओ के कारण वह वृक्ष अपनी सुन्दर महक से मन को हर लेता था, अत्यन्त तृप्तिकारक विपुल सुगन्ध छोडता था। वहाँ नानाविध अनेकानेक पुष्पगुच्छ, लता-कु ज, मण्डप, गृह--विश्रामस्थान तथा सुन्दर मार्ग व अनेक ध्वजाएँ विद्यमान थी। अति विशाल होने से उसके नीचे अनेक रथो, यानो, डोलियो और पालखियो के ठहराने के लिए पर्याप्त स्थान था।

इस प्रकार वह अशोक वृक्ष रमणीय, सुखप्रद -चित्त को प्रसन्न करनेवाला, दर्शनीय—देखने योग्य, अभिरूप—मन को अपने मे रमा लेने वाला तथा प्रतिरूप—मनमे बस जाने वाला था।

६—से ण असोगवरपायवे अण्णेहिं बहूहिं तिलएहिं, लउएहिं, छत्तोवेहिं, सिरीसेहिं, सत्तवण्णेहिं, दहिवण्णेहिं, लोद्धेहिं, धवेहिं, चंदणेहिं, अज्जुणेहिं, णीवेहिं, कुडएहिं, कलंबेहिं, सव्वेहिं, फणसेहिं, दालिमेहिं, सालेहिं, तालेहिं, तमालेहिं, पियएहिं, पियगूहिं, पुरोवगेहिं, रायरुक्खेहिं, णंदिरुक्खेहिं, सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते ॥

६—वह उत्तम अशोक वृक्ष तिलक, लकुच, क्षत्रोप, शिरीष, सप्तपर्ण, दधिपर्ण, लोध्र, धव, चन्दन, अर्जुन, नीप, कुटज, कदम्ब, सव्य, पनस, दाडिम, शाल, ताल, तमाल, प्रियक, प्रियगु, पुरोपग, राजवृक्ष, नन्दिवृक्ष—इन अनेक अन्य पादपो से सब ओर से घिरा हुआ था।

७—ते ण तिलया लउया जाव (छत्तोवया, सिरीसा, सत्तवण्णा, दहिवण्णा, लोद्धा, धवा, चंदणा, अज्जुणा, णीवा, कुडया, कलंबा, सव्वा, फणसा, दालिमा, साला, ताला, तमाला, पियया, पियंगुया, पुरोवगा, रायरुक्खा,) णंदिरुक्खा, कुसविकुसविसुद्धरुक्खमूला, मूलमंतो, कंदमंतो, एएसि वण्णओ भाणियव्वो जाव[1] सिवियपरिमोयणा, सुरम्मा, पासादीया, दरिसणिज्जा, अभिरूवा, पडिरूवा ॥

७—उन तिलक, लकुच, (क्षत्रोप, शिरीष, सप्तपर्ण, दधिपर्ण, लोध्र, धव, चन्दन, अर्जुन, नोप, कुटज, कदम्ब, सव्य, पनस, दाडिम, शाल, ताल, तमाल, प्रियक, प्रियगु, पुरोपग, राजवृक्ष) नन्दिवृक्ष—इन सभी पादपो की जडे डाभ तथा दूसरे प्रकार के तृणो से विशुद्ध—रहित थी। उनके मूल, कन्द आदि दशो अग उत्तम कोटि के थे।

यो वे वृक्ष रमणीय, मनोरम, दर्शनीय, अभिरूप—मन को अपने मे रमा लेने वाले तथा प्रतिरूप—मनमे बस जानेवाले थे। उनका वर्णन अशोकवृक्ष के समान जान लेना चाहिए।

---

१ देखें सूत्र-सख्या ५

८—ते णं तिलया जाव[1] नंदिरुक्खा अण्णेहिं बहूहिं पउमलयाहिं, णागलयाहिं, असोअलयाहिं, चंपगलयाहिं, चूयलयाहिं, वणलयाहिं, वासंतियलयाहिं, अइमुत्तयलयाहिं कुंदलयाहिं, सामलयाहिं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ता ।।

८—वे तिलक नन्दिवृक्ष, आदि पादप अन्य बहुत सी पद्मलताओ, नागलताओ, अशोक-लताओं, चम्पकलताओ, सहकारलताओ, पीलुकलताओ, वासन्तीलताओ तथा अतिमुक्तकलताओ से सब ओर से घिरे हुए थे ।

९—ताओ णं पउमलयाओ णिच्चं कुसुमियाओ जाव (णिच्चं माइयाओ, णिच्चं लवइयाओ, णिच्चं थवइयाओ, णिच्चं गुलइयाओ, णिच्च गोच्छियाओ, णिच्च जमलियाओ, णिच्चं जुवलियाओ, णिच्चं विणमियाओ, णिच्च पणमियाओ, णिच्चं कुसुमिय-माइय-लवइय-थवइय-गुलइय-गोच्छिय-जमलिय-जुवलिय-विणमिय-पणमियसुविभत्तपिडमंजरिवडिंसयधराओ,) पासादीयाओ, दरिसणिज्जाओ, अभिरूवाओ, पडिरूवाओ ।

९—वे लताए सब ऋतुओ मे फूलती थी (मजरियो, पत्तो, फूलो के गुच्छो, गुल्मो तथा पत्तो के गुच्छो से युक्त रहती थी । वे सदा समश्रेणिक तथा युगल रूप मे अवस्थित थी । वे पुष्प, फल आदि के भार से सदा विनमित—बहुत झुकी हुई, प्रणमित—विशेष रूप से अभिनत—नमी हुई, थी । यो विविध प्रकार से अपनी विशेषताएँ लिये हुए वे लताएँ अपनी सुन्दर लुम्बियो तथा मजरियो के रूप मे मानो शिरोभूषण—कलगियां धारण किये रहती थी ।) वे रमणीय, मनोरम, दर्शनीय, अभिरूप—मन को अपने में रमा लेने वाली तथा प्रतिरूप—मन मे बस जाने वाली थी ।

शिलापट्टक

१०—तस्स ण असोगवरपायवस्स हेट्ठा ईसिं खंधसमल्लीणे एत्थ णं मह एक्के पुढविसिलापट्टए पण्णत्ते—विक्खंभायामउस्सेहसुप्पमाणे, किण्हे, अंजण-घण-किवाण-कुवलय-हलहरकोसेज्जागास-केस-कज्ज-लंगीखंजण-सिंगभेद-रिट्ठय - जंबूफल-असणग-सण-बंधण-णीलुप्पलपत्तनिकर - अयसिकुसुमप्पगासे, मरगय-मसारकलित्त-णयणकीयरासिवण्णे, णिद्धघणे, अट्ठसिरे आयसयतलोवमे, सुरम्मे, ईहामिय-उसभ-तुरग-णर-मगर-विहग-वालग-किण्णर-रुरु-सरभ-चमर-कुंजर-वणलय-पउमलय-भत्तिचित्ते, आईणग-रूय-बूर-णवणीय-तूलफरिसे, सीहासणसंठिए, पासादीए, दरिसणिज्जे, अभिरूवे, पडिरूवे ।

१०—उस अशोक वृक्ष के नीचे, उसके तने के कुछ पास एक बडा पृथिवी-शिलापट्टक—चबूतरे की ज्यो जमी हुई मिट्टी पर स्थापित शिलापट्टक—था । उसकी लम्बाई, चौड़ाई तथा ऊचाई समुचित प्रमाण मे थी । वह काला था । वह अजन (वृक्षविशेष), बादल, कृपाण, नीले कमल, बलराम के वस्त्र, आकाश, केश, काजल की कोठरी, खजन पक्षी, भैंस के सीग, रिष्टक रत्न, जामुन के फल, बीयक (वनस्पतिविशेष), सन के फूल के डठल, नील कमल के पत्तो की राशि तथा अलसी के फूल के सदृश प्रभा लिये हुए था ।

नील मणि, कसौटी, कमर पर बाँधने के चमडे के पट्टे तथा आँखो की कनीनिका—तारे—इनके पु ज जैसा उसका वर्ण था । वह अत्यन्त स्निग्ध—चिकना था । उसके आठ कोने थे । वह दर्पण

१. देखे सूत्र-सख्या ७

के तल के समान सुरम्य था। भेड़िये, बैल, घोडे, मनुष्य, मगर, पक्षी, साँप, किन्नर, रुरु, अष्टापद चमर, हाथी, वनलता और पद्मलता के चित्र उस पर बने हुए थे। उसका स्पर्श मृगछाला, कपास, बूर, मक्खन तथा आक की रूई के समान कोमल था। वह आकार में सिंहासन जैसा था।

इस प्रकार वह शिलापट्टक मनोरम, दर्शनीय, अभिरूप—मन को अपने में रमा लेने वाला और प्रतिरूप—मन में बस जाने वाला था।

चम्पाधिपति कूणिक

११—तत्थ णं चंपाए णयरीए कूणिए णामं राया परिवसइ—महयाहिमवंत-महंतमलय-मंदर-महिंदसारे, अच्चंतविसुद्धदीहरायकुलवंससुप्पसूए, णिरतरं रायलक्खणविराइयंगमंगे, बहुजणबहुमाण-पूइए, सव्वगुणसमिद्धे, खत्तिए, मुइए, मुद्धाहिसित्ते, माउपिउसुजाए, दयपत्ते, सीमंकरे, सीमंधरे, खेमंकरे, खेमंधरे, मणुस्सिंदे, जणवयपिया, जणवयपाले, जणवयपुरोहिए, सेउकरे, केउकरे, णरपवरे, पुरिसवरे, पुरिससीहे, पुरिसवग्घे, पुरिसासीविसे, पुरिसपुंडरीए, पुरिसवरगंधहत्थी, अड्ढे, दित्ते, वित्ते, विच्छिण्णविउलभवण-सयणासण-जाण-वाहणाइण्णे, बहुधण-बहुजायरूव-रयए, आओगपओगसपउत्ते, विच्छड्डियपउरभत्तपाणे, बहुदासी-दास-गो-महिस-गवेलगप्पभूए, पडिपुण्णजंतकोसकोट्ठागाराउधागारे, बलवं, दुब्बलपच्चामित्ते, ओहयकंटयं, निहयकंटयं, मलियकंटयं, उद्धियकंटयं, अकंटयं, ओहयसत्तुं, निहयसत्तुं, मलियसत्तुं, उद्धियसत्तुं, निज्जियसत्तुं, पराइयसत्तुं, ववगयदुब्भिक्खं, मारिभयविप्पमुक्कं, खेमं, सिवं, सुभिक्खं, पसंतडिंबडमरं रज्जं पसासेमाणे विहरइ।

११—चम्पा नगरी का कूणिक नामक राजा था, जो वहाँ निवास करता था। वह महा-हिमवान् पर्वत के समान महत्ता तथा मलय, मेरु एव महेन्द्र (सज्ञक पर्वतों) के सदृश प्रधानता या विशिष्टता लिये हुए था। वह अत्यन्त विशुद्ध—दोषरहित, चिरकालीन—प्राचीन राजवश मे उत्पन्न हुआ था। उसके अग पूर्णत राजोचित लक्षणो से सुशोभित थे। वह बहुत लोगो द्वारा अति सम्मानित और पूजित था, सर्वगुणसमृद्ध—सब गुणो से शोभित क्षत्रिय था—जनता को आक्रमण तथा सकट से बचाने वाला था। वह सदा मुदित[1]—प्रसन्न रहता था। अपनी पैतृक परम्परा द्वारा, अनुशासनवर्ती अन्यान्य राजाओ द्वारा उसका मूर्द्धाभिषेक—राजाभिषेक या राजतिलक हुआ था। वह उत्तम माता-पिता से उत्पन्न उत्तम पुत्र था।

वह स्वभाव से करुणाशील था। वह मर्यादाओ की स्थापना करने वाला तथा उनका पालन करने वाला था। वह क्षेमकर—सबके लिए अनुकूल स्थितियाँ उत्पन्न करने वाला तथा क्षेमंधर—उन्हे स्थिर बनाये रखने वाला था। वह परम ऐश्वर्य के कारण मनुष्यो मे इन्द्र के समान था। वह अपने राष्ट्र के लिए पितृतुल्य, प्रतिपालक, हितकारक, कल्याणकारक, पथदर्शक तथा आदर्श उपस्थापक था। वह नरप्रवर- वैभव, सेना, शक्ति आदि की अपेक्षा से मनुष्यों मे श्रेष्ठ तथा पुरुषवर—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप चार पुरुषार्थो मे उद्यमशील पुरुषो मे परमार्थ-चिन्तन के कारण श्रेष्ठ था। कठोरता व पराक्रम मे वह सिंहतुल्य, रौद्रता मे बाघ सदृश तथा अपने क्रोध को सफल बनाने के सामर्थ्य मे सर्पतुल्य था। वह पुरुषो मे उत्तम पुण्डरीक—सुखार्थी, सेवाशील जनो के लिए श्वेत कमल

---

१ टीकाकार आचार्य श्री अभयदेवसूरि ने 'मुदित' का एक दूसरा अर्थ निर्दोषमातृक भी किया है। उसे सन्दर्भ मे उन्होने उल्लेख किया है—"मुइओ जो होइ जोणिसुद्धोत्ति।" —औपपातिक सूत्र वृत्ति, पत्र ११

जैसा सुकुमार था। वह पुरुषो मे गन्धहस्ती के समान था—अपने विरोधी राजा रूपी हाथियो का मान-भजक था। वह समृद्ध, दृप्त—दर्प या प्रभावयुक्त तथा वित्त या वृत्त—सुप्रसिद्ध था। उसके यहाँ बडे-बड़े विशाल भवन, सोने-बैठने के आसन तथा रथ, घोडे आदि सवारियाँ, वाहन बडी मात्रा मे थे। उसके पास विपुल सम्पत्ति, सोना तथा चाँदी थी। वह आयोग-प्रयोग—अर्थ लाभ के उपायो का प्रयोक्ता था—धनवृद्धि के सन्दर्भ मे वह अनेक प्रकार से प्रयत्नशील रहता था। उसके यहाँ भोजन कर लिये जाने के बाद बहुत खाद्य-सामग्री बच जाती थी। (जो तदपेक्षी जनो मे बाट दी जाती थी।) उसके यहाँ अनेक दासियाँ, दास, गायें, भैसे तथा भेडे थी। उसके यहाँ यन्त्र, कोष—खजाना, कोष्ठागार—अन्न आदि वस्तुओ का भण्डार तथा शस्त्रागार प्रतिपूर्ण—अति समृद्ध था। उसके पास प्रभूत सेना थी। उसने अपने राज्य के सीमावर्ती राजाओ या पडोसी राजाओ को शक्तिहीन बना दिया था। उसने अपने सगोत्र प्रतिस्पर्द्धियों—प्रतिस्पर्द्धा व विरोध रखने वालो को विनष्ट कर दिया था। उनका धन छीन लिया था, उनका मान भग कर दिया था तथा उन्हे देश से निर्वासित कर दिया था। यो उसका कोई भी सगोत्र विरोधी बच नही पाया था। उसी प्रकार उसने अपने (गोत्रभिन्न) शत्रुओ को विनष्ट कर दिया था, उनकी सम्पत्ति छीन ली थी, उनका मानभग कर दिया था और उन्हें देश से निर्वासित कर दिया था। अपने प्रभावातिशय से उसने उन्हे जीत लिया था, पराजित कर दिया था।

इस प्रकार वह राजा दुर्भिक्ष तथा महामारी के भय से रहित—निरुपद्रव, क्षेममय, कल्याणमय, सुभिक्षयुक्त एव शत्रुकृत विघ्नरहित राज्य का शासन करता था।

राजमहिषी धारिणी

१२—तस्स णं कोणियस्स रण्णो धारिणी णाम देवी होत्था—सुकुमालपाणिपाया, अहीणपडिपुण्णपंचिंदियसरीरा, लक्खण-वंजण-गुणोववेया, माणुम्माणप्पमाणपडिपुण्ण-सुजायसव्वंगसुंदरंगी, ससिसोमाकारकंतपियदंसणा, सुरूवा, करयलपरिमियपसत्थतिवलीवलियमज्झा, कुंडलुल्लिहियगंडलेहा, कोमुइयरयणियरविमलपडिपुण्णसोमवयणा, सिंगारागारचारुवेसा, संगयगय-हसिय-भणिय-विहिय-विलास-सललियसंलाव-णिउणजुत्तोवयारकुसला, पासादीया, दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा कोणिएणं रण्णा भंभसारपुत्तेण सद्धिं अणुरत्ता, अविरत्ता इट्ठे सद्द-फरिस-रस-रूव-गंधे पंचविहे माणुस्सए कामभोए पच्चणुभवमाणी विहरइ॥

१२—राजा कूणिक की रानी का नाम धारिणी था। उसके हाथ-पैर सुकोमल थे। उसके शरीर की पाँचो इन्द्रियाँ अहीन-प्रतिपूर्ण—रचना की दृष्टि से अखण्डित, सम्पूर्ण, अपने अपने विषयो मे सक्षम थी। वह उत्तम लक्षण—सौभाग्यसूचक हाथ की रेखाओ आदि, व्यजन—उत्कर्षसूचक तिल, मस आदि चिह्न तथा गुण—शील, सदाचार, पातिव्रत्य आदि से युक्त थी। दैहिक फैलाव, वजन, ऊँचाई आदि की दृष्टि से वह परिपूर्ण, श्रेष्ठ तथा सर्वांगसुन्दरी थी। उसका आकार-स्वरूप चन्द्र के समान सौम्य तथा दर्शन कमनीय था। वह परम रूपवती थी। उसकी देह का मध्य भाग कमर हथेली के विस्तार जितनी या मुट्ठी द्वारा गृहीत की जा सके, इतना सा विस्तार लिये थी—बहुत पतली थी, पेट पर पड़ने वाली प्रशस्त—उत्तम तीन रेखाओ से युक्त थी। उसके कपोलो की रेखाएँ कुण्डलों से उद्दीप्त—सुशोभित थी। उसका मुख शरत्पूर्णिमा के चन्द्र के सदृश निर्मल, परिपूर्ण

तथा सौम्य था। उसकी सुन्दर वेशभूषा ऐसी थी, मानो शृंगार-रस का आवास-स्थान हो। उसकी चाल, हँसी, बोली, कृति एव दैहिक चेष्टाएँ सगत—समुचित थी। लालित्यपूर्ण आलाप-सलाप मे वह चतुर थी। समुचित लोक-व्यवहार मे वह कुशल थी। वह मनोरम, दर्शनीय, अभिरूप तथा प्रतिरूप थी।

कूणिक का दरबार

१३—तस्स णं कोणियस्स रण्णो एक्के पुरिसे विउलकयवित्तिए भगवओ पवित्तिवाउए भगवओ तद्देवसिय पवित्ति णिवेदेइ ।।

१३—राजा कूणिक के यहाँ पर्याप्त वेतन पर भगवान् महावीर के कार्यकलाप को सूचित करने वाला एक वार्ता-निवेदक पुरुष नियुक्त था, जो भगवान् के प्रतिदिन के विहारक्रम आदि प्रवृत्तियों के सम्बन्ध मे राजा को निवेदन करता था।

१४- तस्स ण पुरिसस्स बहवे अण्णे पुरिसा दिण्णभतिभत्तवेयणा भगवओ पवित्तिवाउया भगवओ तद्देवसिय पवित्ति णिवेदेंति ।।

१४—उसने अन्य अनेक व्यक्तियो को भोजन तथा वेतन पर नियुक्त कर रखा था, जो भगवान् की प्रतिदिन की प्रवृत्तियो के सम्बन्ध मे उसे सूचना करते रहते थे।

१५ -तेणं कालेणं तेणं समएणं कोणिए राया भभसारपुत्ते बाहिरियाए उवट्ठाणसालाए अणेग-गणणायग-दंडणायग-राईसर-तलवर-माडबिय-कोडुबिय-मंति-महामंति-गणग - दोवारिय-अमच्च - चेड-पीढमद्द-नगरनिगम-सेट्ठि-सेणावइ-सत्थवाह-दूय-संधिवाल-सद्धिं संपरिवुडे विहरइ ।

१५—एक समय की बात है, भभसार का पुत्र कूणिक अनेक गणनायक —विशिष्ट जनसमूहो के अधिनेता, दण्डनायक— तन्त्रपाल— उच्च आरक्षि अधिकारी, राजा—माडलिक नरपति, ईश्वर—ऐश्वर्यशाली एव प्रभावशाली पुरुष, तलवर—राज्यसम्मानित विशिष्ट नागरिक, माडविक—जागीर-दार, भूस्वामी, कौटुम्बिक—बडे परिवारो के प्रमुख, मन्त्री, महामन्त्री—मन्त्रिमण्डल के प्रधान, गणक—ज्योतिषी, द्वारपाल, अमात्य - राज्याधिष्ठायक - राज्य-कार्यों मे परामर्शक, सेवक, पीठमर्द-परिपार्श्विक—राजसभा मे आसन्नसेवारत पुरुष, नागरिक, व्यापारी, सेठ[1], सेनापति—राजा की चतुरगिणी —रथ, हाथी, घोडे तथा पैदल सेना के अधिनायक, सार्थवाह—दूसरे देशो मे व्यापार करने वाले व्यवसायी, दूत—दूसरो तथा राजा के आदेश-सन्देश पहुँचाने वाले, सन्धिपाल—राज्य की सीमाओ के रक्षक—इन विशिष्ट जनो से सपरिवृत—चारो ओर से घिरा हुआ बहिर्वर्ती राजसभा भवन मे अवस्थित था।

भगवान् महावीर : पदार्पण

१६—तेणं कालेणं तेण समएणं समणे भगव महावीरे आइगरे, तित्थगरे, सहसंबुद्धे, पुरिसुत्तमे,

---

१ टीकाकार आचार्य अभयदेवसूरि के अनुसार "श्रेष्ठिन —श्रीदेवताऽध्यासितसौवर्णपट्टविभूषितोत्तमाङ्गा" अर्थात् लक्ष्मी के चिह्न से अंकित स्वर्णपट्ट मे जिनका मस्तक सुशोभित रहता था, वे श्रेष्ठी कहे जाते थे। यह सम्मान सभवत उन्हे राज्य से प्राप्त होता था। -औपपातिक सूत्र वृत्ति, पत्र १४

पुरिससीहे, पुरिसवरपुंडरीए, पुरिसवरगंधहत्थी, अभयदए, चक्खुदए, मग्गदए, सरणदए, जीवदए, दीवो, ताणं, सरणं, गई, पइट्ठा, धम्मवरचाउरंतचक्कवट्टी, अप्पडिहयवरनाणदंसणधरे, वियट्टच्छउमे, जिणे, जाणए, तिण्णे, तारए, मुत्ते, मोयए, बुद्धे, बोहए, सव्वण्णू, सव्वदरिसी, सिवमयलमरुयमणंतमक्खयमव्वाबाहमपुणरावत्तगं सिद्धिगइणामधेज्जं ठाणं संपाविउकामे, अरहा, जिणे, केवली, सत्तहत्थुस्सेहे, समचउरंससंठाणसंठिए, वज्जरिसहनारायसंघयणे, अणुलोमवाउवेगे कंकग्गहणी कवोयपरिणामे, सउणिपोसपिट्ठंतरोरुपरिणए, पउमुप्पलगंधसरिसनिस्साससुरभिवयणे, छवी, निरायंक-उत्तमपसत्थ-अइसेयनिरुवमपले, जल्ल-मल्ल-कलंक-सेय-रय-दोसवज्जियसरीरनिरुवलेवे, छायाउज्जोइयंगमंगे, घणनिचियसुबद्ध-लक्खणुण्णयकूडागारनिभपिंडियग्गसिरए, सामलिबोंड-घणनिचियच्छोडियमिउविसयपसत्थसुहुमलक्खणसुगंधसुन्दर-भुयमोयग-भिंग-नील-कज्जल - पहट्ठभमरगणणिद्धनिकुरंबनिचियकुंचियपयाहिणावत्तमुद्धसिरए, दालिमपुप्फप्पगासतवणिज्जसरिसनिम्मलसुणिद्धकेसंतकेसभूमी, छत्तागारुत्तिमंगदेसे णिव्वण-सम-लट्ठ-मट्ठ-चंदद्धसमणिडाले, उडुवइपडिपुण्णसोमवयणे, अल्लीणपमाणजुत्तसवणे, सुस्सवणे, पीण-मंसल-कवोलदेसभाए, आणामियचावरुइल-किण्हब्भराइतणुकसिणणिद्धभमुहे, अवदालियपुंडरीयणयणे, कोआसियधवलपत्तलच्छे, गरुलाययउज्जुतुंगणासे, उवचियसिलप्पवाल-बिंबफलसण्णिभाहरोट्ठे, पंडुर-ससिसयलविमलणिम्मलसंख-गोक्खीरफेण-कुंद-दगरय-मुणालिया-धवलदंतसेढी, अखंडदंते, अप्फुडियदंते, अविरलदंते, सुणिद्धदंते, सुजायदंते, एगदंतसेढी विव अणेगदंते, हुयवहणिद्धंतधोयतत्ततवणिज्जरत्ततलतालुजीहे, अवट्ठियसुविभत्तचित्तमंसू, मंसल-संठिय-पसत्थ-सद्दूलविउलहणुए, चउरंगुलसुप्पमाणकंबुवरसरिसग्गीवे, वरमहिस-वराह-सीह-सद्दूल-उसभ-नागवर-पडिपुण्णविउलक्खंधे, जुगसन्निभपीण-रइयपीवरपउट्ठ-सुसंठिय-सुसिलिट्ठ-विसिट्ठ - घण-थिर-सुबद्धसंधिपुरवर-फलिहवट्टियभुए-भुयगीसरविउलभोगआयाणपलिहउच्छूढदीहबाहू, रत्ततलोवइय-मउय-मंसल-सुजाय-लक्खणपसत्थ-अच्छिद्दजालपाणी, पीवरकोमल-वरंगुली, आयंबतंबतलिणसुइरुइलणिद्धणखे, चंदपाणिलेहे, सूरपाणिलेहे, चक्कपाणिलेहे, दिसासोत्थियपाणिलेहे, चंद-सूर-संख-चक्क-दिसासोत्थियपाणिलेहे, कणगसिलायलुज्जल-पसत्थ-समतल-उवचिय-विच्छिण्णपिहुलवच्छे, सिरिवच्छंकियवच्छे, अकरंडुयकणगरुययनिम्मलसुजायनिरुवहयदेहधारी, अट्ठसहस्सपडिपुण्णवरपुरिसलक्खणधरे, सण्णयपासे, संगयपासे, सुंदरपासे, सुजायपासे, मियमाइयपीणरइयपासे, उज्जुय-समसहिय-जच्च-तणु-कसिण-णिद्ध-आइज्ज-लडह-रमणिज्जरोमराई, झस-विहग-सुजायपीणकुच्छी, झसोयरे, सुइकरणे पउमवियडणाभे, गंगावत्तगपयाहिणावत्त-तरंगभंगुर-रविकिरण-तरुण-बोहियअकोसायंत-पउमगंभीरवियडणाभे, साहयसोणंद-मुसलदप्पणणिकरियवरकणगच्छरुसरिसवरवइरवलियमज्झे, पमुइयवरतुरग-सीहवरवट्टियकडी, वरतुरगसुजायसुगुज्झदेसे, आइण्णहउव्वणिरुवलेवे, वरवारणतुल्लविक्कमविलसियगई, गयससणसुजायसन्निभोरू, समुग्गणिमग्गगूढजाणू, एणीकुरुविंदावत्तवट्टाणुपुव्वजंघे, संठियसुसिलिट्ठगूढगुप्फे, सुप्पइट्ठियकुम्मचारुचलणे, अणुपुव्व-सुसंहयंगुलीए, उण्णयतणुतंबणिद्धणक्खे, रत्तुप्पलपत्तमउयसुकुमालकोमलतले, अट्ठसहस्सवरपुरिसलक्खणधरे, नग-नगर-मगर-सागर-चक्क-कवरंग-मंगलंकियचलणे, विसिट्ठरूवे, हुयवहनिद्धूमजलियतडितडियतरुणरविकिरणसरिसतेए, अणासवे, अममे, अकिंचणे, छिन्नसोए, निरुवलेवे, ववगयपेम-राग-दोस-मोह, निग्गंथस्स पवयणस्स देसए, सत्थनायगे, पइट्ठावए, समणगपई, समणगविंदपरियट्टिए, चउत्तीसबुद्धवयणाइसेसपत्ते, पणतीससच्चवयणाइसेसपत्ते, आगासगएणं चक्केणं, आगासगएणं छत्तेणं, आगासियाहिं चामराहिं, आगासफलियामएणं सपायवीढेणं सीहासणेणं, धम्मज्झएणं पुरओ पकड्ढिज्जमाणेणं, चउद्दसहिं समणसाहस्सीहिं, छत्तीसाए अज्जियासाहस्सीहिं सद्धिं संपरिवुडे पुव्वाणुपुव्विं

चरमाणे, गामाणुग्गामं दूइज्जमाणे, सुहसुहेणं विहरमाणे चंपाए नयरीए बहिया उवणगरग्गामं उवागए चंपं नगरिं पुण्णभद्दं चेइयं समोसरिउकामे।

१६—उस समय श्रमण—घोर तप या साधना रूप श्रम में निरत, भगवान्—आध्यात्मिक ऐश्वर्यसम्पन्न, महावीर—उपद्रवो तथा विघ्नो के बीच साधना-पथ पर वीरतापूर्वक अविचल भाव से गतिमान्, आदिकर—अपने युग मे धर्म के आद्य प्रवर्तक, तीर्थंकर—साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध धर्म-तीर्थ—धर्मसघ के प्रतिष्ठापक, स्वय-सबुद्ध—स्वय बिना किसी अन्य निमित्त के बोध-प्राप्त, पुरुषोत्तम—पुरुषो मे उत्तम, पुरुषसिंह—आत्म-शौर्य मे पुरुषो मे सिंह-सदृश, पुरुषवर-पु डरीक—मनुष्यो में रहते हुए कमल की तरह निर्लेप—आसक्तिशून्य, पुरुषवर-गन्धहस्ती—पुरुषो मे उत्तम गन्धहस्ती के सदृश—जिस प्रकार गन्ध-हस्ती के पहुचते ही सामान्य हाथी भाग जाते हैं, उसी प्रकार किसी क्षेत्र मे जिनके प्रवेश करते ही दुर्भिक्ष, महामारी आदि अनिष्ट दूर हो जाते थे, अर्थात् अतिशय तथा प्रभावपूर्ण उत्तम व्यक्तित्व के धनी, अभयप्रदायक—सभी प्राणियो के लिए अभयप्रद-सपूर्णत अहिसक होने के कारण किसी के लिए भय उत्पन्न नही करने वाले, चक्षु-प्रदायक-आन्तरिक नेत्र—सद्ज्ञान देने वाले, मार्ग-प्रदायक—सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप साधना-पथ के उद्बोधक, शरणप्रद—जिज्ञासु तथा मुमुक्षु जनो के लिए आश्रयभूत, जीवनप्रद—आध्यामिक जीवन के सबल, दीपक के सदृश समस्त वस्तुओ के प्रकाशक अथवा ससार-सागर मे भटकते जनो के लिए द्वीप के समान आश्रयस्थान, प्राणियो के लिए आध्यात्मिक उद्बोधन के नाते शरण, गति एव आधारभूत, चार अन्त-सीमा युक्त पृथ्वी के अधिपति के समान धार्मिक जगत् के चक्रवर्ती, प्रतिघात—बाधा या आवरण रहित उत्तम ज्ञान, दर्शन आदि के धारक, व्यावृत्तछद्मा—अज्ञान आदि आवरण रूप छद्म से अतीत, जिन—राग आदि के जेता, ज्ञायक—राग आदि भावात्मक सम्बन्धो के ज्ञाता अथवा ज्ञापक—राग आदि को जीतने का पथ बताने वाले, तीर्ण—ससार-सागर को पार कर जाने वाले, तारक—ससार-सागर से पार उतारने वाले, मुक्त—बाहरी और भीतरी ग्रन्थियो से छूटे हुए, मोचक—दूसरो को छुडाने वाले, बुद्ध—बोद्धव्य—जानने योग्य का बोध प्राप्त किये हुए, बोधक—औरो के लिए बोधप्रद, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, शिव—कल्याणमय, अचल—स्थिर, निरुपद्रव, अन्तरहित, क्षयरहित, बाधारहित, अपुनरावर्तन—जहाँ से फिर जन्म-मरण रूप ससार में आगमन नही होता, ऐसी सिद्ध-गति—सिद्धावस्था नामक स्थिति पाने के लिए सप्रवृत्त, अर्हत्—पूजनीय, रागादिविजेता, जिन, केवली—केवलज्ञानयुक्त, सात हाथ की दैहिक ऊँचाई से युक्त, समचौरस सस्थान-संस्थित, वज्र-ऋषभ-नाराच-सहनन—अस्थिबन्ध युक्त, देह के अन्तर्वर्ती पवन के उचित वेग-गतिशीलता से युक्त, कक पक्षी की तरह निर्दोष गुदाशय युक्त, कबूतर की तरह पाचन शक्ति युक्त, उनका अपान-स्थान उसी तरह निर्लेप था, जैसे पक्षी का, पीठ और पेट के नीचे के दोनो पार्श्व तथा जघाए सुपरिणित-सुन्दर-सुगठित थी, उनका मुख पद्म—कमल अथवा पद्मनामक सुगन्धित द्रव्य तथा उत्पल—नील कमल या उत्पलकुष्ट नामक सुगन्धित द्रव्य जैसे सुरभिमय नि श्वास से युक्त था, छवि—उत्तम छविमान्—उत्तम त्वचा युक्त, नीरोग, उत्तम, प्रशस्त, अत्यन्त श्वेत मास युक्त, जल्ल—कठिनाई से छूटने वाला मैल, मल्ल—आसानी से छूटने वाला मैल, कलक—दाग, धब्बे, स्वेद—पसीना तथा रज-दोष—मिट्टी लगने से विकृति—वर्जित शरीर युक्त, अतएव निरुपलेप—अत्यन्त स्वच्छ, दीप्ति से उद्योतित प्रत्येक अगयुक्त, अत्यधिक सघन, सुबद्ध स्नायुबंध सहित, उत्तम लक्षणमय पर्वत के शिखर के समान उन्नत उनका मस्तक था, बारीक रेशो से भरे सेमल के फल फटने से

निकलते हुए रेशो जैसे कोमल विशद, प्रशस्त, सूक्ष्म, श्लक्ष्ण—मुलायम, सुरभित, सुन्दर, भुजमोचक, नीलम, भीग, नील, कज्जल, प्रहृष्ट—सुपुष्ट भ्रमरवृन्द जैसे चमकीले काले, घने, घु घराले, छल्लेदार केश उनके मस्तक पर थे, जिस त्वचा पर उनके बाल उगे हुए थे, वह अनार के फूल तथा सोने के समान दीप्तिमय, लाल, निर्मल और चिकनी थी, उनका उत्तमांग—मस्तक का ऊपरी भाग सघन, भरा हुआ और छत्राकार था, उनका ललाट निर्व्रण-फोडे-फुन्सी आदि के घाव—चिह्न से रहित, समतल तथा सुन्दर एव अर्द्ध चन्द्र के सदृश भव्य था, उनका मुख पूर्ण चन्द्र के समान सौम्य था, उनके कान मुख के साथ सुन्दर रूप मे सयुक्त और प्रमाणोपेत—समुचित आकृति के थे, इसलिए वे बडे सुहावने लगते थे, उनके कपोल मासल और परिपुष्ट थे, उनकी भौहे कुछ खीचे हुए धनुष के समान सुन्दर—टेढी, काले बादल की रेखा के समान कृश—पतली, काली एव स्निग्ध थी, उनके नयन खिले हुए पु डरीक-सफेद कमल के समान थे, उनकी आँखे पद्म—कमल की तरह विकसित, धवल तथा पत्रल—बरौनी युक्त थी, उनकी नासिका गरुड की तरह—गरुड की चोच की तरह लम्बी, सीधी और उन्नत थी, सस्कारित या सुघटित मू गे की पट्टी-जैसे या बिम्ब फल के सदृश उनके होठ थे, उनके दांतो की श्रेणी निष्कलक चन्द्रमा के टुकडे, निर्मल से भी निर्मल शख, गाय के दूध, फेन, कु द के फूल, जलकण और कमल-नाल के समान सफेद थी, दाँत अखड, परिपूर्ण, अस्फुटित—सुदृढ, टूट फूट रहित, अविरल—परस्पर सटे हुए, सुस्निग्ध—चिकने—आभामय, सुजात—सुन्दराकार थे, अनेक दाँत एक दन्तश्रेणी की तरह प्रतीत होते थे, जिह्वा और तालु अग्नि मे तपाये हुए और जल से धोये हुए स्वर्ण के समान लाल थे, उनकी दाढी-मू छ अवस्थित—कभी नही बढने वाली, सुविभक्त बहुत हलकी-सी तथा अद्भुत सुन्दरता लिए हुए थी, ठुड्डी मासल—सुपुष्ट, सुगठित, प्रशस्त तथा चीते की तरह विपुल—विस्तीर्ण थी, ग्रीवा—गर्दन चार अगुल प्रमाण—चार अगुल चौडी तथा उत्तम शख के समान त्रिबलियुक्त एव उन्नत थी, उनके कन्धे प्रबल भैसे, सूअर, सिह, चीते, साड तथा उत्तम हाथी के कन्धो जैसे परिपूर्ण एव विस्तीर्ण थे, उनकी भुजाए युग—गाडी के जुए अथवा यूप—यज्ञ स्तम्भ—यज्ञ के खू टे की तरह गोल और लम्बी, सुदृढ, देखने मे आनन्दप्रद, सुपुष्ट कलाइयो से युक्त, सुश्लिष्ट—सुसगत, विशिष्ट, घन—ठोस, स्थिर, स्नायुओ से यथावत् रूप मे सुबद्ध तथा नगर की अर्गला—आगल के समान गोलाई लिए हुए थी, इच्छित वस्तु प्राप्त करने के लिए नागराज के फैले हुए विशाल शरीर की तरह उनके दीर्घ बाहु थे, उनके पाणि—कलाई से नीचे के हाथ के भाग उन्नत, कोमल, मासल तथा सुगठित थे, शुभ लक्षणो से युक्त थे, अगुलियाँ मिलाने पर उनमें छिद्र दिखाई नही देते थे, उनके तल—हथेलियाँ ललाई लिए हुए, पतली, उजली, रुचिर—देखने मे रुचिकर, स्निग्ध सुकोमल थी, उनकी हथेली मे चन्द्र, सूर्य, शख, चक्र, दक्षिणावर्त स्वस्तिक की शुभ रेखाए थी, उनका वक्षस्थल—सीना स्वर्ण-शिला के तल के समान उज्ज्वल, प्रशस्त समतल, उपचित—मासल, विस्तीर्ण चौडा, पृथुल—(विशाल) था, उस पर श्रीवत्स—स्वस्तिक का चिह्न था, देह की मासलता या परिपुष्टता के कारण रीढ की हड्डी नही दिखाई देती थी, उनका शरीर स्वर्ण के समान कान्तिमान्, निर्मल, सुन्दर, निरुपहत—रोग-दोष-वर्जित था, उसमे उत्तम पुरुष के १००८ लक्षण पूर्णतया विद्यमान थे, उनकी देह के पार्श्व भाग—पसवाडे नीचे की ओर क्रमश: संकडे, देह के प्रमाण के अनुरूप, सुन्दर, सुनिष्पन्न, अत्यन्त समुचित परिमाण मे मासलता लिए हुए मनोहर थे, उनके वक्ष और उदर पर सीधे, समान, संहित—एक दूसरे से मिले हुए, उत्कृष्ट कोटि के, सूक्ष्म—हलके, काले, चिकने उपादेय—उत्तम, लावण्यमय, रमणीय बालो की पक्ति थी, उनके

कुक्षिप्रदेश—उदर के नीचे के दोनो पार्श्व मत्स्य और पक्षी के समान सुजात—सुनिष्पन्न—सुन्दर रूप मे अवस्थित तथा पीन—परिपुष्ट थे, उनका उदर मत्स्य जैसा था, उनके उदर का कारण—आन्त्र समूह शुचि-स्वच्छ—निर्मल था, उनकी नाभि कमल की तरह विकट—गूढ, गगा के भवर की तरह गोल, दाहिनी ओर चक्कर काटती हुई तरगो की तरह घुमावदार, सुन्दर, चमकते हुए सूर्य की किरणो से विकसित होते कमल के समान खिली हुई थी तथा उनकी देह का मध्यभाग त्रिकाष्ठिका, मूसल व दर्पण के हत्थे के मध्य-भाग के समान, तलवार की मूठ के समान तथा उत्तम वज्र के समान गोल और पतला था, प्रमुदित—रोग-शोकादि, रहित—स्वस्थ, उत्तम घोडे तथा उत्तम सिंह की कमर के समान उनकी कमर गोल घेराव लिए थी, उत्तम घोडे के सुनिष्पन्न गुप्ताग की तरह उनका गुह्य भाग था, उत्तम जाति के अश्व की तरह उनका शरीर 'मलमूत्र' विसर्जन की अपेक्षा से निर्लेप था, श्रेष्ठ हाथी के तुल्य पराक्रम और गम्भीरता लिए उनकी चाल थी, हाथी की सू ड की तरह उनकी जघाए सुगठित थी, उनके घुटने डिब्बे के ढक्कन की तरह निगूढ थे—मासलता के कारण अनुन्नत—बाहर नही निकले हुए थे, उनकी पिण्डलियाँ हरिणी की पिण्डलियो, कुरुविन्द घास तथा कते हुए सूत की गेंढी की तरह क्रमश. उतार सहित गोल थी, उनके टखने सुन्दर, सुगठित और निगूढ थे, उनके चरण—पैर सुप्रतिष्ठित—सुन्दर रचनायुक्त तथा कछुए की तरह उठे हुए होने से मनोज्ञ प्रतीत होते थे, उनके पैरो की अगुलियाँ क्रमश आनुपातिक रूप में छोटी-बडी एव सुसहत—सुन्दर रूप में एक दूसरे से सटी हुई थी, पैरो के नख उन्नत, पतले, ताबे की तरह लाल, स्निग्ध—चिकने थे, उनकी पगथलियाँ लाल कमल के पत्ते के समान मृदुल, सुकुमार तथा कोमल थी, उनके शरीर मे उत्तम पुरुषो के १००८ लक्षण प्रकट थे, उनके चरण पर्वत, नगर, मगर, सागर तथा चक्र रूप उत्तम चिह्नो और स्वस्तिक आदि मगल-चिह्नो से अकित थे, उनका रूप विशिष्ट—असाधारण था, उनका तेज निर्धूम अग्नि की ज्वाला, विस्तीर्ण विद्युत् तथा अभिनव सूर्य की किरणो के समान था, वे प्राणातिपात आदि आस्रव-रहित, ममता-रहित थे, अकिचन थे, भव-प्रवाह को उच्छिन्न कर चुके थे—जन्म मरण से अतीत हो चुके थे, निरुपलेप—द्रव्य-दृष्टि से निर्मल देहधारी तथा भाव-दृष्टि से कर्मबन्ध के हेतु रूप उपलेप से रहित थे, प्रेम, राग, द्वेष और मोह का नाश कर चुके थे, निर्ग्रन्थ-प्रवचन के उपदेष्टा, धर्म-शासन के नायक—शास्ता, प्रतिष्ठापक तथा श्रमण-पति थे, श्रमण वृन्द से घिरे हुए थे, जिनेश्वरो के चौतीस बुद्ध-अतिशयो से तथा पैंतीस सत्य-वचनातिशयो से युक्त थे, आकाशगत चक्र, छत्र, आकाशगत चवर, आकाश के समान स्वच्छ स्फटिक से बने पाद-पीठ सहित सिहासन, धर्मध्वज—ये उनके आगे चल रहे थे, चौदह हजार साधु तथा छत्तीस हजार साध्वियो से सपरिवृत—घिरे हुए थे, आगे से आगे चलते हुए, एक गाँव से दूसरे गाँव होते हुए सुखपूर्वक विहार करते हुए चम्पा के बाहरी उपनगर मे पहुँचे, जहाँ से उन्हे चम्पा मे पूर्णभद्र चैत्य मे पधारना था।

प्रवृत्ति-व्यापृत द्वारा सूचना

१७—तए णं से पवित्तिवाउए इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे हट्ठतुट्ठचित्तमाणंदिए, पीइमणे, परमसोमणस्सिए, हरिसवसविसप्पमाणहियए, ण्हाए, कयबलिकम्मे, कयकोउय-मगल-पायच्छित्ते, सुद्धप्पावेसाइं मंगलाइं वत्थाइं पवरपरिहिए, अप्पमहग्घाभरणालंकियसरीरे सयाओ गिहाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता चंपाए णयरीए मज्झंमज्झेणं जेणेव कोणियस्स रण्णो गिहे, जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला, जेणेव कूणिए राया भंभसारपुत्ते, तेणेव उवागच्छइ, तेणेव उवागच्छित्ता करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु जएणं विजएणं वद्धावेइ, वद्धावित्ता एवं वयासी—

१७—प्रवृत्ति-निवेदक को जब यह (भगवान् महावीर के पदार्पण की) बात मालूम हुई, वह हर्षित एव परितुष्ट हुआ। उसने अपने मन मे आनन्द तथा प्रीति—प्रसन्नता का अनुभव किया। सौम्य मनोभाव व हर्षातिरेक से उसका हृदय खिल उठा। उसने स्नान किया, नित्यनैमित्तिक कृत्य किये, कौतुक—देहसज्जा की दृष्टि से नेत्रो मे अंजन आजा, ललाट पर तिलक लगाया, प्रायश्चित्त—दुःस्वप्नादि दोषनिवारण हेतु चन्दन, कु कुम, दही, अक्षत, आदि से मगल-विधान किया, शुद्ध, प्रवेश्य—राजसभा में प्रवेशोचित—उत्तम वस्त्र भलीभाँति पहने, थोडे से—सख्या मे कम पर बहुमूल्य आभूषणों से शरीर को अलकृत किया। यो (सजकर) वह अपने घर से निकला। (घर से) निकलकर वह चम्पा नगरी के बीच जहाँ राजा कूणिक का महल था, जहाँ बहिर्वर्ती राजसभा-भवन था, जहाँ भंभसार का पुत्र राजा कूणिक था, वहाँ आया। (वहाँ) आकर उसने हाथ जोडते हुए, उन्हे सिर के चारों ओर घुमाते हुए, अजलि बाधे "आपकी जय हो, विजय हो" इन शब्दो मे वर्धापित किया। तत्पश्चात् इस प्रकार बोला—

१८—जस्स णं देवाणुप्पिया दसणं कंखति, जस्स ण देवाणुप्पिया दसण पीहति, जस्स ण देवाणुप्पिया दंसणं पत्थति, जस्स णं देवाणुप्पिया दसणं अभिलसति, जस्स ण देवाणुप्पिया णामगोयस्स वि सवणयाए हट्ठतुट्ठ जाव (चित्तमाणंदिया, पीइमणा, परम-सोमणस्सिया) हरिसवसविसप्पमाणहियया भवति, से णं समणे भगवं महावीरे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे, गामाणुग्गाम दूइज्जमाणे चपाए णयरीए उवणगरग्गामं उवागए, चंपं णगरिं पुण्णभद्द चेइय समोसरिउकामे। त एव देवाणुप्पियाण पियट्ठयाए पियं णिवेदेमि, पियं ते भवउ॥

१८—देवानुप्रिय (सौम्यचेता राजन्)! जिनके दर्शन की आप काक्षा करते हैं—प्राप्त होने पर छोडना नही चाहते, स्पृहा करते हैं—दर्शन न हुए हो तो करने की इच्छा लिये रहते हैं, प्रार्थना करते है—दर्शन हो, सुहृज्जनो से वैसे उपाय जानने की अपेक्षा रखते है, अभिलाषा करते है—जिनके दर्शन हेतु अभिमुख होने की कामना करते है, जिनके नाम (महावीर, ज्ञातपुत्र, सन्मति आदि) तथा गोत्र (कश्यप) के श्रवणमात्र से हर्षित एव परितुष्ट होते हैं, मन मे आनन्द तथा प्रसन्नता का अनुभव करते हैं, सौम्य मनोभाव व हर्षातिरेक से हृदय खिल उठता है, वे श्रमण भगवान् महावीर अनुक्रम से विहार करते हुए, एक गाव से दूसरे गाँव होते हुए चम्पा नगरी के उपनगर मे पधारे है। अब पूर्णभद्र चैत्य मे पधारेगे। देवानुप्रिय! आपके प्रीत्यर्थ—प्रसन्नता हेतु यह प्रिय समाचार मै आपको निवेदित कर रहा हूँ। यह आपके लिए प्रियकर हो।

१९—तए णं से कूणिए राया भंभसारपुत्ते तस्स पवित्तिवाउयस्स अतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठ जाव[1] हियए, वियसियवरकमलणयणवयणे, पयलियवरकडग-तुडिय-केऊर-मउड-कुंडल-हार-विरायंतरइयवच्छे, पालबपलंबमाणघोलंतभूसणधरे ससभम तुरिय, चवलं नरिंदे सीहासणाओ अब्भुट्ठेइ, अब्भुट्ठित्ता पायपीढाओ पच्चोरुहइ, पच्चोरुहित्ता, पाउयाओ ओमुयइ, ओमुइत्ता अवहट्टु पच रायक-कुहाइं, तं जहा—१. खग्गं, २. छत्तं, ३ उप्फेसं, ४ वाहणाओ, ५. वालवीयणं, एगसाडिय उत्तरासग करेइ, करेत्ता आयंते, चोक्खे, परमसुइभूए, अजलिमउलियहत्थे तित्थगराभिमुहे सत्तट्ठ, पयाइं अणुगच्छइ, सत्तट्ठपयाइ अणुगच्छित्ता वामं जाणुं अचेइ, वाम जाणुं अंचेत्ता दाहिणं

१. देखें सूत्र-सख्या १८

जाणु धरणितलंसि साहट्टु तिक्खुत्तो मुद्धाणं धरणितलंसि निवेसेइ, निवेसित्ता ईसिं पच्चुण्णमइ, पच्चुण्णमित्ता कडगतुडियथंभियाओ भुयाओ पडिसाहरइ, पडिसाहरित्ता करयल जाव (—परिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलि) कट्टु एवं वयासी।

१९—भभसार का पुत्र राजा कूणिक वार्तानिवेदक से यह सुनकर, उसे हृदयगम कर हर्षित एवं परितुष्ट हुआ। उत्तम कमल के समान उसका मुख तथा नेत्र खिल उठे। हर्षातिरेकजनित संस्फूर्तिवश राजा के हाथो के उत्तम कडे, बाहुरक्षिका—भुजाओ को सुस्थिर बनाये रखने वाली आभरणात्मक पट्टी, केयूर—भुजबन्ध, मुकुट, कुण्डल तथा वक्ष स्थल पर शोभित हार सहसा कम्पित हो उठे—हिल उठे।

राजा के गले मे लम्बी माला लटक रही थी, आभूषण झूल रहे थे। राजा आदरपूर्वक शीघ्र सिहासन से उठा। (सिहासन से) उठकर, पादपीठ (पैर रखने के पीढे) पर पैर रखकर नीचे उतरा। नीचे उतर कर पादुकाएँ उतारी। फिर खड्ग, छत्र, मुकुट, वाहन, चवर—इन पाच राजचिह्नो को अलग किया। जल से आचमन किया, स्वच्छ तथा परम शुचिभूत अति स्वच्छ व शुद्ध हुआ। कमल की फली की तरह हाथो को सपुटित किया—हाथ जोडे। जिस ओर तीर्थंकर भगवान् महावीर विराजित थे, उस ओर सात, आठ कदम सामने गया। वैसा कर अपने बाये घुटने को आकुचित—सकुचित किया—सिकोडा, दाहिने घुटने को भूमि पर टिकाया, तीन बार अपना मस्तक जमीन से लगाया। फिर वह कुछ ऊपर उठा, ककण तथा बाहुरक्षिका से सुस्थिर भुजाओ को उठाया, हाथ जोडे, अजलि (जुडे हुए हाथो) को मस्तक के चारो ओर घुमाकर बोला।

कूणिक द्वारा भगवान् का परोक्ष वन्दन

२०—णमोऽत्थु ण अरिहताण, भगवताण, आइगराण, तित्थगराण, सयंसंबुद्धाणं, पुरिसुत्तमाण, पुरिससीहाण, पुरिसवरपुंडरीयाण पुरिसवरगधहत्थीण, लोगुत्तमाणं लोगनाहाण, लोगहियाणं लोगपईवाण, लोगपज्जोयगराण, अभयदयाण, चक्खुदयाण, मग्गदयाणं, सरणदयाणं, जीवदयाण, बोहिदयाणं धम्मदयाण, धम्मदेसयाण, धम्मनायगाण, धम्मसारहीण धम्मवरचाउरंतचक्कवट्टीणं, दीवो, ताण, सरण, गई, पइट्ठा, अप्पडिहयवरनाणदसणधराण, वियट्टछउमाण, जिणाण, जावयाणं, तिण्णाणं, तारयाणं, बुद्धाण, बोहयाणं, मुत्ताणं, मोयगाणं, सव्वण्णूण, सव्वदरिसीण, सिवमयलमरुयमणंतमक्खयमव्वाबाहमपुणरावत्तग, सिद्धिगइणामधेज्ज ठाण सपत्ताण।

नमोऽत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स, आदिगरस्स, तित्थगरस्स जाव[1] संपाविउकामस्स, मम धम्मायरियस्स धम्मोवदेसगस्स। वदामि ण भगवत तत्थगयं इहगए, पासउ मे भगवं तत्थगए इहगयं ति कट्टु वदइ णमसइ, वदित्ता णमंसित्ता सीहासणवरगए, पुरत्थाभिमुहे निसीयइ, निसीइत्ता तस्स पवित्तिवाउयस्स अट्ठुत्तर सयसहस्स पीइदाण दलयइ, दलइत्ता सक्कारेइ, सम्माणेइ, सक्कारित्ता, सम्माणित्ता एवं वयासी—

२०—अर्हन्--इन्द्र आदि द्वारा पूजित अथवा कर्मशत्रुओ के नाशक, भगवान्—आध्यात्मिक ऐश्वर्य सम्पन्न, आदिकर—अपने युग मे धर्म के आद्य प्रवर्तक, तीर्थंकर—साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका

१ इस सूत्र मे आये भगवान् के सभी विशेषण षष्ठी एकवचनान्त होकर यहाँ लगेंगे।

रूप चतुर्विध धर्मतीर्थ—धर्मसघ के प्रवर्तक, स्वयसंबुद्ध—स्वय बोधप्राप्त, पुरुषोत्तम—पुरुषो मे उत्तम, पुरुषसिंह—आत्मशौर्य मे पुरुषो में सिंहसदृश, पुरुषवरपुण्डरीक—सर्व प्रकार की मलिनता से रहित होने के कारण पुरुषो मे श्रेष्ठ श्वेत कमल के समान अथवा मनुष्यो मे रहते हुए कमल की तरह निर्लेप, पुरुषवर-गन्धहस्ती— उत्तम गन्धहस्ती के सदृश—जिस प्रकार गन्धहस्ती के पहुँचते ही सामान्य हाथी भाग जाते है, उस प्रकार किसी क्षेत्र मे जिनके प्रवेश करते ही दुर्भिक्ष, महामारी आदि अनिष्ट दूर हो जाते थे, अर्थात् अतिशय तथा प्रभावपूर्ण उत्तम व्यक्तित्व के धनी, लोकोत्तम—लोक के सभी प्राणियो मे उत्तम, लोकनाथ—लोक के सभी भव्य प्राणियो के स्वामी—उन्हें सम्यक्दर्शन एव सन्मार्ग प्राप्त कराकर उनका योग-क्षेम[1] साधने वाले, लोकहितकर—लोक का कल्याण करने वाले, लोकप्रदीप—ज्ञान रूपी दीपक द्वारा लोक का अज्ञान दूर करने वाले अथवा लोकप्रतीप—लोकप्रवाह के प्रतिकूलगामी—अध्यात्मपथ पर गतिशील, लोकप्रद्योतकर—लोक, अलोक, जीव, अजीव आदि का स्वरूप प्रकाशित करने वाले अथवा लोक मे धर्म का उद्योत फैलाने वाले, अभयदायक—सभी प्राणियो के लिए अभयप्रद—सम्पूर्णत अहिंसक होने के कारण किसी के लिए भय उत्पन्न नही करने वाले, चक्षुदायक—आन्तरिक नेत्र—सद्ज्ञान देने वाले, मार्गदायक—सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप साधनापथ के उद्बोधक, शरणदायक—जिज्ञासु तथा मुमुक्षु जनो के लिए आश्रयभूत, जीवनदायक—आध्यात्मिक जीवन के सबल, बोधिदायक—सम्यक् बोध देने वाले, धर्मदायक—सम्यक् चारित्र रूप धर्म के दाता, धर्मदेशक—धर्मदेशना देने वाले, धर्मनायक, धर्मसारथि—धर्मरूपी रथ के चालक, धर्मवरचातुरन्त-चक्रवर्ती—चार अन्त—सीमायुक्त पृथ्वी के अधिपति के समान धार्मिक जगत् के चक्रवर्ती, दीप—दीपक सदृश समस्त वस्तुओ के प्रकाशक अथवा द्वीप—ससार समुद्र मे डूबते हुए जीवो के लिए द्वीप के समान बचाव के आधार, त्राण—कर्मकदर्थित भव्य प्राणियो के रक्षक, शरण—आश्रय, गति एव प्रतिष्ठास्वरूप, प्रतिघात, बाधा या आवरणरहित उत्तम ज्ञान, दर्शन के धारक, व्यावृत्तछद्मा—अज्ञान आदि आवरण रूप छद्म से अतीत, जिन—राग आदि के जेता, ज्ञायक—राग आदि भावात्मक सम्बन्धो के ज्ञाता अथवा ज्ञापक—राग आदि जीतने का पथ बताने वाले, तीर्ण—ससार-सागर को पार कर जाने वाले, तारक—दूसरो को ससार-सागर से पार उतारने वाले, बुद्ध—बोद्धव्य—जानने योग्य का बोध प्राप्त किये हुए, बोधक—औरो के लिए बोधप्रद, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, शिव—कल्याणमय, अचल—स्थिर, निरुपद्रव, अन्तरहित, क्षयरहित, बाधारहित, अपुनरावर्तन—जहाँ से फिर जन्म-मरण रूप ससार मे आगमन नही होता, ऐसी सिद्धि-गति—सिद्धावस्था को प्राप्त किये हुए—सिद्धो को नमस्कार हो।

आदिकर, तीर्थंकर, सिद्धावस्था पाने के इच्छुक (तदर्थ समुद्यत), मेरे धर्माचार्य, धर्मोपदेशक श्रमण भगवान् महावीर को मेरा नमस्कार हो। यहाँ स्थित मै, वहाँ स्थित भगवान् को वन्दन करता हूँ। वहाँ स्थित भगवान् यहाँ स्थित मुझको देखते हैं।

इस प्रकार राजा कूणिक भगवान् को वन्दन करता है, नमस्कार करता है। वन्दन-नमस्कार कर पूर्व की ओर मुँह किये अपने उत्तम सिंहासन पर बैठा। (बैठकर) एक लाख आठ हजार मुद्राएँ वार्तानिवेदक को प्रीतिदान—तुष्टिदान या पारितोषिक के रूप से दी। उत्तम वस्त्र आदि द्वारा

---

१ अप्राप्तस्य प्रापण योग —जो प्राप्त नही है, उसका प्राप्त होना योग कहा जाता है। प्राप्तस्य रक्षण क्षेम'—प्राप्त की रक्षा करना क्षेम है।

उसका सत्कार किया, आदरपूर्ण वचनो से सम्मान किया। यो सत्कार तथा सम्मान कर उसने कहा—

२१—जया णं देवाणुप्पिया ! समणे भगवं महावीरे इहमागच्छेज्जा, इह समोसरिज्जा, इहेव चंपाए णयरीए बहिया पुण्णभद्दे चेइए अहापडिरूवं ओग्गहं ओगिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरेज्ज, तया णं मम एयमट्ठं निवेदिज्जासित्ति कट्टु विसज्जिए।

२१—देवानुप्रिय ! जब श्रमण भगवान् महावीर यहाँ पधारे, समवसृत हो, यहाँ चम्पानगरी के बाहर पूर्णभद्र चैत्य मे यथाप्रतिरूप—समुचित—साधुचर्या के अनुरूप आवास-स्थान ग्रहण कर सयम एवं तप से आत्मा को भावित करते हुए विराजित हो, मुझे यह समाचार निवेदित करना। यो कहकर राजा ने वार्तानिवेदक को वहाँ से विदा किया।

भगवान् का चम्पा में आगमन

२२—तए णं समणे भगवं महावीरे कल्लं पाउप्पभायाए रयणीए, फुल्लुप्पलकमलकोमलुम्मिलियंमि अहपण्डुरे पहाए, रत्तासोगप्पगास-किंसुय-सुयमुह-गुंजद्धरागसरिसे, कमलागरसंडबोहए उट्ठियम्मि, सूरे सहस्सरस्सिम्मि दिणयरे तेयसा जलंते, जेणेव चंपा णयरी, जेणेव पुण्णभद्दे चेइए, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता अहापडिरूवं ओग्गहं ओगिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ।

२२—तत्पश्चात् अगले दिन रात बीत जाने पर, प्रभात हो जाने पर, नीले तथा अन्य कमलो के सुहावने रूप मे खिल जाने पर, उज्ज्वल प्रभायुक्त एव लाल अशोक, किंशुक—पलाश, तोते की चोंच, घुंघची के आधे भाग के सदृश लालिमा लिये हुए, कमलवन को उद्बोधित—विकसित करने वाले, सहस्रकिरणयुक्त, दिन के प्रादुर्भावक सूर्य के उदित होने पर, अपने तेज से उद्दीप्त होने पर श्रमण भगवान् महावीर, जहाँ चम्पा नगरी थी, जहाँ पूर्णभद्र चैत्य था, वहाँ पधारे। पधार कर यथाप्रतिरूप—समुचित—साधुचर्या के अनुरूप आवास-स्थान ग्रहण कर सयम एव तप से आत्मा को भावित करते हुए विराजे।

भगवान् के अन्तेवासी

२३—तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी बहवे समणा भगवंतो अप्पेगइया उग्गपव्वइया, भोगपव्वइया, राइण्ण-णायकोरव्वखत्तियपव्वइया, भडा, जोहा, सेणावई पसत्थारो, सेट्ठी, इब्भा, अण्णे य बहवे एवमाइणो उत्तमजाइकुलरूवविणयविण्णाणवण्णलावण्णविक्कमपहाणसोभग्गकंतिजुत्ता, बहुधणधण्णणिचयपरियालफिडिया, णरवइगुणाइरेगा, इच्छियभोगा, सुहसंपललिया किंपागफलोवमं च मुणिय विसयसोक्खं जलबुब्बुयसमाणं, कुसग्गजलबिन्दुचंचलं जीवियं य णाऊण अद्धुवमिणं रयमिव पडग्गलग्गं संविधुणित्ताणं चइत्ता हिरण्णं जाव (चिच्चा सुवण्णं, चिच्चा धणं—एवं धण्णं बलं वाहणं कोसं कोट्ठागारं रज्जं रट्ठं पुरं अन्तेउरं चिच्चा, विउलधण-कणग-रयण-मणि-मोत्तिय-संख-सिल-प्पवाल-रत्तरयणमाइयं संतसारसावतेज्जं विच्छड्डइत्ता, विगोवइत्ता, दाणं च दाइयाणं परिभाइत्ता, मुंडा भवित्ता अगाराओ अणगारियं) पव्वइया, अप्पेगइया अद्धमासपरियाया, अप्पेगइया मासपरियाया—एवं दुमास-तिमास जाव (चउमास-पंचमास-छमास-सत्तमास-अट्ठमास-

नवमास-दसमास-) एक्कारस-मास परियाया, अप्पेगइया वासपरियाया, दुवासपरियाया तिवास परियाया अप्पेगइया अणेगवासपरियाया संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा विहरंति ।।

२३—तब श्रमण भगवान् महावीर के अन्तेवासी—शिष्य बहुत से श्रमण सयम तथा तप से आत्मा को भावित करते हुए विचरते थे । उनमे अनेक ऐसे थे, जो उग्र—आरक्षक अधिकारी, भोग—राजा के मंत्रीमडल के सदस्य, राजन्य—राजा के परामर्शमंडल के सदस्य, ज्ञात—ज्ञातवशीय या नागवशीय, कुरुवशीय, क्षत्रिय—क्षत्रिय वश के राजकर्मचारी, सुभट, योद्धा—युद्धोपजीवी—सैनिक, सेनापति, प्रशास्ता—प्रशासन-अधिकारी, सेठ, इभ्य—हाथी ढक जाय एतत्प्रमाण धनराशि युक्त—अत्यन्त धनिक—इन इन वर्गों मे से दीक्षित हुए थे । और भी बहुत से उत्तम जाति—उत्तम मातृपक्ष, उत्तम कुल—पितृपक्ष, सुन्दररूप, विनय, विज्ञान—विशिष्ट ज्ञान, वर्ण—दैहिक आभा, लावण्य-आकार की स्पृहणीयता, विक्रम—पराक्रम, सौभाग्य तथा कान्ति से सुशोभित, विपुल धन-धान्य के सग्रह और पारिवारिक सुख-समृद्धि से युक्त, राजा से प्राप्त अतिशय वैभव सुख आदि से युक्त इच्छित भोगप्राप्त तथा सुख से लालित-पालित थे, जिन्होने सासारिक भोगो के सुख को किपाक फल के सदृश असार, जीवन को जल मे बुलबुले तथा कुश के सिरे पर स्थित जल की बू द की तरह चचल जानकर सांसारिक अध्रु व—अस्थिर पदार्थों को वस्त्र पर लगी हुई रज के समान झाड कर,—हिरण्य—रौप्य या रूपा, सुवर्ण—घडे हुए सोने के आभूषण, धन—गाये आदि, धान्य, बल—चतुरगिणी सेना, वाहन, कोश—खजाना, कोष्ठागार—धान्य-भण्डार, राज्य, राष्ट्र, पुर—नगर, अन्त पुर, प्रचुर धन, कनक—बिना घडा हुआ सुवर्ण, रत्न, मणि, मुक्ता, शख, मू गे, लाल रत्न—मानिक आदि बहुमूल्य सम्पत्ति का परित्याग कर वितरण द्वारा सुप्रकाशित कर, दान योग्य व्यक्तियो को प्रदान कर, मु डित होकर अगार—गृह जीवन से, अनगार—श्रमण जीवन मे दीक्षित हुए । कइयो को दीक्षित हुए आधा महीना, कइयो को एक महीना, दो महीने (तीन महीने, चार महीने, पॉच महीने, छह महीने, सात महीने, आठ महीने, नौ महीने, दश महीने) और ग्यारह महीने हुए थे, कइयो को एक वर्ष, कइयो को दो वर्ष, कइयो को तीन वर्ष तथा कइयो को अनेक वर्ष हुए थे ।

ज्ञानी, शक्तिधर, तपस्वी

२४—तेणं कालेण तेणं समएण समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी बहवे निग्गंथा भगवंतो अप्पेगइया आभिणिबोहियणाणी जाव (सुयणाणी, ओहिणाणी, मणपज्जवणाणी,) केवल-णाणी । अप्पेगइया मणबलिया, वयबलिया कायबलिया । अप्पेगइया मणेणं सावाणुग्गहसमत्था एव—वएणं काएण । अप्पेगइया खेलोसहिपत्ता, एवं जल्लोसहिपत्ता, विप्पोसहिपत्ता, आमोसहिपत्ता, सव्वो-सहिपत्ता । अप्पेगइया कोट्ठबुद्धी एवं बीयबुद्धी, पडबुद्धी । अप्पेगइया पयाणुसारी, अप्पेगइया संभिन्न-सोया अप्पेगइया खीरासवा, महुआसवा अप्पेगइया सप्पिआसवा अप्पेगइया अक्खीणमहाणसिया एवं उज्जुमई अप्पेगइया विउलमई, विउव्वणिड्ढिपत्ता, चारणा, विज्जाहरा, आगासाइवाईणो । अप्पेगइया कणगावलितवोकम्मं पडिवण्णा, एवं एगावलिं खुड्डागसीहनिक्कीलियं तवोकम्मं पडिवण्णा, अप्पेगइया महालयं सीहनिक्कीलियं तवोकम्मं पडिवण्णा, भद्दपडिमं, महाभद्दपडिमं सव्वओभद्दपडिमं, आयंबिल-वद्धमाणं तवोकम्मं पडिवण्णा, मासियं भिक्खुपडिमं एवं दोमासियं पडिमं, तिमासियं पडिमं जाव (चउमासियं पडिमं, पचमासियं पडिमं, छमासियं पडिमं,) सत्तमासियं भिक्खुपडिमं पडिवण्णा, पढमं सत्तराइंदियं भिक्खुपडिमं पडिवण्णा जाव (बीयं सत्तराइंदियं भिक्खुपडिमं पडिवण्णा,) तच्चं

सत्तराइंदियंभिक्खुपडिमं पडिवण्णा, अहोराइंदियं भिक्खुपडिमं पडिवण्णा, एक्कराइंदियं भिक्खुपडिमं पडिवण्णा, सत्तसत्तमियं भिक्खुपडिमं, अट्ठअट्ठमियं भिक्खुपडिमं, णवणवमियं भिक्खुपडिमं, दसदसमियं भिक्खुपडिमं, खुड्डियं मोयपडिमं पडिवण्णा, महल्लियं मोयपडिमं पडिवण्णा, जवमज्झं चंदपडिमं पडिवण्णा, वइरमज्झं चंदपडिमं पडिवण्णा संजमेण, तवसा अप्पाणं भावेमाणा विहरंति ॥

२४—उस समय श्रमण भगवान् महावीर के अन्तेवासी बहुत से निर्ग्रन्थ सयम तथा तप से आत्मा को भावित करते हुए विचरण करते थे।

उनमे कई मतिज्ञानी (श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी, मन पर्यवज्ञानी) तथा केवलज्ञानी थे। अर्थात् कई मति तथा श्रुत, कई मति, श्रुत तथा अवधि, या मति, श्रुत एव मन पर्यव, कई मति, श्रुत, अवधि तथा मन:पर्यव—यो दो, तीन, चार ज्ञानो के धारक एव कई केवलज्ञान के धारक थे।

कई मनोबली—मनोबल या मन-स्थिरता के धारक, वचनबली—प्रतिज्ञात आशय के निर्वाहक या परपक्ष को क्षुभित करने मे सक्षम वचन-शक्ति के धारक तथा कायबली—भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी आदि प्रतिकूल शारीरिक स्थितियो को अग्लान भाव से सहने मे समर्थ थे। अर्थात् कइयो में मनोबल, वचनबल तथा कायबल—तीनो का वैशिष्ट्य था, कइयो मे वचनबल तथा कायबल—दो का वैशिष्ट्य था और कइयो मे कायबल का वैशिष्ट्य था)।

कई मन से शाप—अपकार तथा अनुग्रह—उपकार करने का सामर्थ्य रखते थे, कई वचन द्वारा अपकार एव उपकार करने मे सक्षम थे तथा कई शरीर द्वारा अपकार व उपकार करने मे समर्थ थे।

कई खेलौषधिप्राप्त—खखार से रोग मिटाने की शक्ति से युक्त थे। कई शरीर के मैल, मूत्रबिन्दु, विष्ठा तथा हाथ आदि के स्पर्श से रोग मिटा देने की विशेष शक्ति प्राप्त किये हुए थे। कई ऐसे थे, जिनके बाल, नाखून, रोम, मल आदि सभी औषधिरूप थे—वे इन से रोग मिटा देने की क्षमता लिये हुए थे। (ये लब्धिजन्य विशेषताएँ थी)।

कई कोष्ठबुद्धि—कुशूल या कोठार मे भरे हुए सुरक्षित अन्न की तरह प्राप्त सूत्रार्थ को अपने मे ज्यो का त्यों धारण किये रहने की बुद्धिवाले थे। कई बीजबुद्धि—विशाल वृक्ष को उत्पन्न करने वाले बीज की तरह विस्तीर्ण, विविध अर्थ प्रस्तुत करनेवाली बुद्धि से युक्त थे। कई पटबुद्धि—विशिष्ट वक्तृत्व रूपी वनस्पति से प्रस्फुटित विविध, प्रचुर सूत्रार्थ रूपी पुष्पो और फलो को सगृहीत करने में समर्थ बुद्धि लिये हुए थे। कई पदानुसारी—सूत्र के एक अवयव या पद के ज्ञात होने पर उसके अनुरूप सैकडो पदो का अनुसरण करने की बुद्धि—लिये हुए थे।

कई सभिन्नश्रोता—बहुत प्रकार के भिन्न-भिन्न शब्दो को, जो अलग-अलग बोले जा रहे हो, एक साथ सुनकर स्वायत्त करने की क्षमता लिये हुए थे। अथवा जिनकी सभी इन्द्रियाँ शब्द ग्रहण में समक्ष थी—कानो के अतिरिक्त जिनकी दूसरी इन्द्रियो में भी शब्दग्राहिता की विशेषता थी।

कई क्षीरास्रव—दूध के समान मधुर, श्रोताओ के श्रवणेन्द्रिय और मन को सुहावने लगने वाले वचन बोलते थे। कई मध्वास्रव ऐसे थे, जिनके वचन मधु—शहद के समान सर्वदोषोपशामक तथा आह्लादजनक थे। कई सर्पि-आस्रव—थे, जो अपने वचनो द्वारा घृत की तरह स्निग्धता उत्पन्न करने वाले थे।

कई अक्षीणमहानसिक—ऐसे थे, जो जिस घर से भिक्षा ले आएं, उस घर की बची हुई भोज्य सामग्री जब तक भिक्षा देनेवाला स्वय भोजन न कर ले, तब तक लाख मनुष्यो को भोजन करा देने पर भी समाप्त नही होती।

कई ऋजुमति[1] तथा कई विपुलमति[2] मन.पर्यवज्ञान के धारक थे।

कई विकुर्वणा—भिन्न-भिन्न रूप बना-लेने की शक्ति से युक्त थे। कई चारण—गति-सम्बन्धो विशिष्ट क्षमता लिये हुए थे। कई विद्याधरप्रज्ञप्ति आदि विद्याओ के धारक थे। कई आकाशाति-पाती—आकाशगामिनी शक्ति-सम्पन्न थे अथवा आकाश से हिरण्य आदि इष्ट तथा अनिष्ट पदार्थों की वर्षा कराने का जिनमे सामर्थ्य था अथवा आकाशातिवादी—आकाश आदि अमूर्त पदार्थों को सिद्ध करने में जो समर्थ थे।

कई कनकावली तप करते थे। कई एकावली तप करने वाले थे। कई लघुसिंहनिष्क्रीडित तप करने वाले थे तथा कई महासिंहनिष्क्रीडित तप करने मे सलग्न थे। कई भद्रप्रतिमा, महाभद्र-प्रतिमा, सर्वतोभद्रप्रतिमा तथा आयबिल वर्द्धमान तप करते थे।

कई एकमासिक भिक्षुप्रतिमा, इसी प्रकार (द्वैमासिक भिक्षुप्रतिमा, त्रैमासिक भिक्षुप्रतिमा, चातुर्मासिक भिक्षुप्रतिमा, पाञ्चमासिक भिक्षुप्रतिमा, षाण्मासिक भिक्षुप्रतिमा, तथा) साप्तमासिक भिक्षुप्रतिमा ग्रहण किये हुए थे। कई प्रथम सप्तरात्रिन्दिवा—सात रात दिन की भिक्षुप्रतिमा, (कई द्वितीय सप्तरात्रिन्दिवा भिक्षुप्रतिमा) तथा कई तृतीय सप्तरात्रिन्दिवा भिक्षुप्रतिमा के धारक थे। कई एक रातदिन को भिक्षुप्रतिमा ग्रहण किये हुए थे। कई सप्तसप्तमिका—सात-सात दिनो की सात इकाइयो या सप्ताहो की भिक्षुप्रतिमा के धारक थे। कई अष्टअष्टमिका—आठ-आठ दिनो की आठ इकाइयो की भिक्षुप्रतिमा के धारक थे। कई नवनवमिका—नौ-नौ दिनो की नौ इकाइयो की भिक्षु-प्रतिमा के धारक थे। कई दशदशमिका—दश-दश दिनो की दश इकाइयो की भिक्षुप्रतिमा के धारक थे। कई लघुमोकप्रतिमा, कई यवमध्यचन्द्रप्रतिमा तथा कई वज्रमध्यचन्द्रप्रतिमा के धारक थे।

विवेचन—तपश्चर्या के बारह भेदो[3] मे पहला अनशन है। अनशन का अर्थ तीन[4] या चार[5] आहारो का त्याग करना है। चारो आहारो का त्याग कर देने पर कुछ नही लिया जा सकता। तीन आहारो के त्याग मे केवल प्रासुक पानी लिया जा सकता है। इसकी अवधि कम से कम एक दिन (दिन-रात) है, अधिक से अधिक छह मास है। समाधिमरणकालीन अनशन जीवनपर्यन्त होता है।

तपश्चर्या से सचित कर्म निर्जीर्ण होते हैं—कटते है। ज्यो-ज्यों कर्मों का निर्जरण होता जाता

---

१ समनस्क जीवो के मन को अर्थात् मन की चिन्तन के अनुरूप होने वाली पर्यायो को सामान्य रूप से जिसके द्वारा जाना जाता है, वह ऋजुमति मन पर्यवज्ञान कहा जाता है।

२ समनस्क जीवो के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि अपेक्षाओ से सविशेष रूप मे मन अर्थात् मानसिक चिन्तन के अनुरूप होने वाली पर्यायो को जिसके द्वारा जाना जाता है, उसे विपुलमति मन पर्यवज्ञान कहा जाता है।

३ अनशन, अवमौदर्य—ऊनोदरी, वृत्तिपरिसख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन, कायक्लेश, प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग तथा ध्यान। —तत्त्वार्थसूत्र ९ १९-२०

४ अशन, खाद्य, स्वाद्य।

५ अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य।

है, ज्यो-ज्यो आत्मा उज्जवल होती जाती है। अनशनमूलक तपस्या करने वाला साधक, आहार के अभाव मे जो शारीरिक कष्ट होता है, उसे आत्मबल तथा दृढतापूर्वक सहन करता है। वह पादार्थिक जीवन से हटता हुआ आध्यात्मिक जीवन का सक्षात्कार करने को प्रयत्नशील रहता है।

अनशन के लिए उपवास शब्द का प्रयोग बडा महत्त्वपूर्ण है। 'उप' उपसर्ग 'समीप' के अर्थ मे है तथा वास का अर्थ निवास है। यो उपवास का अर्थ आत्मा के समीप निवास करना होता है। कहने का अभिप्राय यह है कि साधक अशन—भोजन से, जो जीवन की दैनन्दिन आवश्यकताओ मे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, विरत होने का अभ्यास इसलिए करता है कि वह दैहिकता से आत्मिकता या बहिर्मुखता से अन्तर्मुखता की ओर गतिशील हो सके, आत्मा का शुद्ध स्वरूप, जिसे अधिगत करना, जीवन का परम साध्य है, साधने मे स्फूर्ति अर्जित कर सके। अतएव उपवास का जहाँ निषेध-मूलक अर्थ भोजन का त्याग है, वहाँ विधिमूलक तात्पर्य आत्मा के—अपने आपके समीप अवस्थित होने या आत्मानुभूति करने से जुडा है।

जैनधर्म मे अनशनमूलक तपश्चरण का बडा क्रमबद्ध विकास हुआ। तितिक्षु एव मुमुक्षु साधको का उस ओर सदा से झुकाव रहा। प्रस्तुत सूत्र मे भगवान् महावीर के अन्तेवासी उन श्रमणो की चर्चा है, जो विविध प्रकार से इस तप कर्म मे अभिरत थे। यहाँ सकेतित कनकावली, एकावली, लघुसिहनिष्क्रीडित, महासिहनिष्क्रीडित आदि तपोभेदो का विश्लेषण पाठको के लिए ज्ञानवर्धक सिद्ध होगा।

रत्नावली

अन्तकृद्दशाग सूत्र के अष्टम वर्ग मे विभिन्न तपो का वर्णन है। अष्टम वर्ग के प्रथम अध्ययन मे राजा कूणिक की छोटी माता, महाराज श्रेणिक की पत्नी काली की चर्चा है। काली ने भगवान् महावीर से श्रमण-दीक्षा ग्रहण की। उसने आर्याप्रमुखा श्रीचन्दनबाला की आज्ञा से रत्नावली तप करना स्वीकार किया। रत्नावली का अर्थ रत्नो का हार है। एक हार की तरह तपश्चरण की यह एक विशेष परिकल्पना है, जो बडी मनोज्ञ है। वहाँ रत्नावली तप के अन्तर्गत सम्पन्न किये जाने वाले उपवास-क्रम आदि का विशद वर्णन है।[1]

---

१ तए ण सा काली अज्जा अण्णया कयाइ जेणेव अज्जचदणा अज्जा, तेणेव उवागया, उवागच्छित्ता एव वयासी इच्छामि ण अज्जाओ ! तुब्भेहि अब्भणुण्णाया समाणी रयणावलिं तव उवसपज्जित्ता ण विहरित्तए।

अहासुह देवाणुप्पिए ! मा पडिबध करेहि।

तए ण सा काली अज्जा अज्जचदणाए अब्भणुण्णाया समाणी रयणावलि तव उवसपज्जित्ता ण विहरइ, त जहा—

चउत्थ	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।	अट्ठम	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
छट्ठ	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।	दसम	करेई, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
अट्ठम	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।	दुवालसम	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
अट्ठछट्ठाइ	करेइ, करेता सव्वकामगुणिय पारेइ।	चोद्दसम	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
चउत्थ	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।	सोलसम	करेई, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
छट्ठ	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।	अट्ठारसम	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।

अष्टम वर्ग के द्वितीय अध्ययन में महाराज श्रेणिक की एक दूसरी रानी सुकाली का वर्णन है। उसने भी श्रमण भगवान् महावीर से दीक्षा ग्रहण की। उसने आर्याप्रमुखा चन्दनबाला की आज्ञा से कनकावली तप करना स्वीकार किया। रत्नावली और कनकावली तप मे थोड़ा सा अन्तर है। अत. यहाँ रत्नावली तप से कनकावली तप मे जो विशेषता है, उसकी चर्चा कर दी गई है।[1]

कनकावली का अर्थ सोने का हार है। रत्नो के हार से सोने का हार कुछ अधिक भारी होता है। इसी आधार पर रत्नावली की अपेक्षा कनकावली कुछ भारी तप है।

कनकावली

वीसइम	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।	सोलसम	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
बावीसइम	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।	चोद्दसम	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
चउवीसइम	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।	बारसम	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
छब्वीसइम	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।	दसम	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
अट्ठावीसइम	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।	अट्ठम	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
तीसइम	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।	छट्ठ	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
बत्तीसइम	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।	चउत्थ	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
चोत्तीसइम	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।	अट्ठछट्ठाइ	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
चोत्तीस छट्ठाइ	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।	अट्ठम	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
चोत्तीसइम	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।	छट्ठ	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
बत्तीसइम	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।	चउत्थ	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
तीसइम	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।	अट्ठम	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
अट्ठावीसइम	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।	छट्ठ	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
छब्वीसइम	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।	चउत्थ	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
चउवीसइम	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।	अट्ठछट्ठाइ	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
बावीसइम	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।	अट्ठम	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
वीसइम	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।	छट्ठ	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
अट्ठारसम	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।	चउत्थ	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।

एव खलु एसा रयणावलीए तवोकम्मस्स पढमा परिवाडी एगेण सवच्छरेण तिहि मासेहि बावीसाए य अहोरत्तेहि अहासुत्त जाव (अहाअत्थ, अहातच्च, अहामग्ग, अहाकप्प, सम्म काएण फासिया, पालिया, सोहिया, तीरिया, किट्टिया) आराहिया भवइ। —अन्तकृद्दशासूत्र १४७, १४८

१. तए ण सुकाली अज्जा अण्णया कयाइ जेणेव अज्जचदणा अज्जा जाव (तेणेव उवागया, उवागच्छित्ता एव वयासी) इच्छामि ण अज्जाओ! तुब्भेहि अब्भणुण्णाया समाणी कणगावली-तवोकम्म उवसपज्जित्ता ण विहरित्तए। एव जहा रयणावली तहा कणगावली वि, नवर—तिसु ठाणेसु अट्ठमाइ करेइ, जहि रयणावलीए छट्ठाइ।

एक्काए परिवाडीए सवच्छरो पच मासा बारस य अहोरत्ता। चउण्ह पच वरिसा नव मासा अट्ठारस दिवसा। सेस तहेव। —अन्तकृद्दशा सूत्र, पृष्ठ १५४

अन्तकृद्दशाग सूत्र के अनुसार कनकावली तप का स्वरूप इस प्रकार है—

साधक सबसे पहले एक (दिन का) उपवास, तत्पश्चात् क्रमशः दो दिन का उपवास—एक बेला, तीन दिन का उपवास—एक तेला, फिर एक साथ आठ तेले, फिर उपवास, बेला, तेला, चार दिन, पाच दिन, छह दिन, सात दिन, आठ दिन, नौ दिन, दश दिन, ग्यारह दिन, बारह दिन, तेरह दिन, चवदह दिन, पन्द्रह दिन, तथा सोलह दिन का उपवास करे। तदनन्तर एक साथ चोतीस तेले करे। फिर सोलह दिन, पन्द्रह दिन, चवदह दिन, तेरह दिन, बारह दिन, ग्यारह दिन, दश दिन, नौ दिन, आठ दिन, सात दिन, छह दिन, पाच दिन, चार दिन का उपवास, तेला, बेला तथा उपवास करे। चोतीस तेलो से पहले किये गये तपश्चरण के समक्ष तप क्रम यह है। तत्पश्चात् आठ तेले करे। ये भी इनसे पूर्व किये गये आठ तेलो के समकक्ष हो जाते है। उसके बाद एक तेला, एक बेला और एक उपवास करे। आठ-आठ तेलो का युगल हार के दो फूलो जंसा तथा मध्यवर्ती चोतीस तेलो का क्रम बीच के पान जैसा है।

इस प्रकार कनकावली तप के एक क्रम या परिपाटी मे- -

१+२+३+३+३+३+३+३+३+३+३+१+२+३+४+५+६+७+८+९ +१०+११+१२+१३+१४+१५+१६+३+३+३+३+३+३+३+३+३+३+३+३ +३ +३+१६+१५+१४+१३+१२+११+१०+९+८+७+६+५+४+३+२+१+३+३ +३+३+३+३+३+३+३+२+१=४३४ दिन अनशन या उपवास तथा ८८ दिन पारणा= यो कुल ५२२ दिन=एक वर्ष पाच महीने तथा बारह दिन लगते हैं।

पूरे तप मे चार परिपाटियाँ सम्पन्न की जाती है। पहली परिपाटी के अन्तर्गत पारणे मे विगय—दूध, दही, घृत आदि लिये जा सकते हैं। दूसरी परिपाटी के अन्तर्गत पारणो मे दूध, दही, घृत आदि विगय नही लिये जा सकते। तीसरी परिपाटी के अन्तर्गत, जिनका लेप न लगे, वैसे निर्लेप पदार्थ—स्निग्धता आदि से सर्वथा वर्जित खाद्य वस्तुएँ पारणो मे ली जा सकती है। चौथी परिपाटी के अन्तर्गत पारणे मे आयबिल—किसी एक प्रकार का अन्न—भू जा हुआ या रोटी आदि के रूप मे पकाया हुआ पानी मे भिगोकर लिया जाता है।

कनकावली तप की चारो परिपाटियो मे ५२२+५२२+५२२+५२२=२०८८ दिन—पाच वर्ष नौ महीने व अठारह दिन लगते है।

एकावली

मोतियो या दूसरे मनको की लड एकावली कही जाती है। इसे प्रतीक रूप मे मानकर एकावली तप की परिकल्पना है। वह इस प्रकार है—

साधक एकावली तप के अन्तर्गत क्रमश उपवास, बेला, तेला, तदनन्तर आठ उपवास, फिर उपवास, बेला, तेला, चार, पाँच, छह, सात, आठ, नौ, दश, ग्यारह, बारह, तेरह, चवदह, पन्द्रह तथा सोलह दिन के उपवास करे। वैसा कर निरन्तर चोतीस उपवास करे। फिर सोलह, पन्द्रह, चवदह, तेरह, बारह, ग्यारह, दश, नौ, आठ, सात, छह, पाँच, चार दिन के उपवास, तेला, बेला, उपवास, आठ उपवास, तेला, बेला तथा उपवास करे।

कनकावली की ज्यो इसमे दो फूलो के स्थान पर आठ-आठ तेलो के बदले आठ-आठ उपवास है तथा मध्यवर्ती पान के स्थान पर चोंतीस तेलो के बदले चोंतीस उपवास हैं। यो एक लड़े हार के रूप में यह तप है।

एकावली तप के एक क्रम या परिपाटी मे १+२+३+१+१+१+१+१+१+१+१ +१+२+३ +४+५+६+७ +८+९+१०+११+१२+१३+१४+१५+१६+१+१+ १+१+१+१ +१+१+१+ १+१+१+१+१+ १+१+१+१+१+१+१+१+१+ १+१+१+१+१+१+१+१+१+१+१+१६+१५+१४+१३+१२+११+१०+९+ ८+७+६+५+४+३+२+१+१+१+१+१+१+१+१+१+३+२+१=३३४ दिन उपवास तथा ८८ दिन पारणा=यो कुल ४२२ दिन=एक वर्ष दो महिने तथा दो दिन लगते हैं।

पूरा तप चार परिपाटियों मे निष्पन्न होता है। चारों परिपाटियो मे पारणे का रूप कनकावली जैसा ही है।

एकावली तप की चारो परिपाटियो मे ४२२+४२२+४२२+४२२=१६८८ दिन=चार वर्ष आठ महीने तथा आठ दिन लगते हैं।

लघुसिंहनिष्क्रीडित

सिंह की गति या क्रीडा के आधार पर इस तप की परिकल्पना है। सिंह जब चलता है तो एक कदम पीछे देखता जाता है। उसका यह स्वभाव है, अपनी जागरूकता है। इसे प्रतीक मानकर इस तप के अन्तर्गत साधक जब उपवासक्रम मे आगे बढता है तो एक-एक बढाव मे वह पीछे भी मुडता जाता है अर्थात् अपने बढ़ाव के पिछले एक क्रम की आवृत्ति कर जाता है।

यह तप दो प्रकार का है—लघुसिंहनिष्क्रीडित तप तथा महासिंहनिष्क्रीडित तप। छोटे सिंह की गति कुछ कम होती है, बडे सिंह की अधिक। इसी आधार पर लघुसिंहनिष्क्रीडित तप मे उपवास-सीमा नौ दिन तक की है तथा महासिंहनिष्क्रीडित तप मे सोलह दिन तक की।

अन्तकृद्दशांग सूत्र के अष्टम वर्ग के तृतीय अध्ययन मे (महाराज श्रेणिक की पत्नी, राजा कूणिक की छोटी माता) आर्या महाकाली द्वारा लघुसिंहनिष्क्रीडित तप किये जाने का वर्णन है।[1]

---

१ एवं—महाकाली वि, नवर—खुड्डागं सीहनिक्कीलियं तवोकम्म उवसंपज्जित्ता णं विहरइ, तं जहा—

चउत्थं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	चोद्दसमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
छट्ठं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	दुवालसमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
चउत्थं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	सोलसमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
अट्ठमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	चोद्दसमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
छट्ठं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	अट्ठारसमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
दसमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	सोलसमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
अट्ठमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	वीसइमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
दुवालसमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	अट्ठारसमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
दसमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	वीसइमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।

इसमे साधक क्रमशः उपवास, बेला, उपवास, तेला, बेला, चार दिन का उपवास, तेला, पाँच दिन का उपवास, चार दिन का उपवास, छह दिन का उपवास, पाँच दिन का उपवास, सात दिन का उपवास, छह दिन का उपवास, आठ दिन का उपवास, सात दिन का उपवास, नौ दिन का उपवास तथा आठ दिन का उपवास करे। तदनन्तर वापिस नौ दिन के उपवास से एक दिन के उपवास तक का क्रम अपनाए।

नौ दिन से उपवास तक का क्रम इस प्रकार रहेगा—

नौ दिन का उपवास, सात दिन का उपवास, आठ दिन का उपवास, छह दिन का उपवास, सात दिन का उपवास, पाँच दिन का उपवास, छह दिन का उपवास, चार दिन का उपवास, पाँच दिन का उपवास, तीन दिन का उपवास, चार दिन का उपवास, दो दिन का उपवास, तीन दिन का उपवास—तेला, एक दिन का उपवास, बेला तथा उपवास करे।

यो उतार, चढाव के दो क्रम बनते है—

लघुसिंहनिष्क्रीडित की एक परिपाटी मे १+२+१+३+२+४+३+५+४+६+५+७+६+८+७+९+८+९+७+८+६+७+५+६+४+५+३+४+२+३+१+२+१=१५४ दिन अनशन या उपवास तथा ३३ दिन पारणा—यो कुल १८७ दिन=छह महीने तथा सात दिन होते है।

चार परिपाटियो मे १८७+१८७+१८७+१८७=कुल दिन ७४८=दो वर्ष अट्ठाईस दिन लगते हैं।

महासिंहनिष्क्रीडित

अन्तकृद्दशाग सूत्र अष्टमवर्ग के चतुर्थ अध्ययन मे (महाराज श्रेणिक की पत्नी) आर्या कृष्णा द्वारा महासिंहनिष्क्रीडित तप करने का वर्णन है, जहाँ लघुसिंहनिष्क्रीडित तथा महासिंहनिष्क्रीडित के भेद का उल्लेख[1] है।

सोलसम	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।	अट्ठम	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
अट्ठारसम	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।	दसम	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
चोद्दसम	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।	छट्ठ	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
सोलसम	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।	अट्ठम	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
बारसम	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।	चउत्थ	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
चोद्दसम	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।	छट्ठ	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
दसम	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।	चउत्थ	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
बारसम	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।		

तहेव चत्तारि परिवाडीओ। एक्काए परिवाडीए छम्मासा सत्त य दिवसा। चउण्ह दो वरिसा अट्ठावीसा या दिवसा जाव सिद्धा। —अन्तकृद्दशासूत्र पृष्ठ १५६

१ एव—कण्हा वि, नवर—महालय सीहणिक्कीलिय तवोकम्म जहेव खुड्डाग, नवर—चोत्तीसइम जाव नेयव्व। तहेव ओसारेयव्व। एक्काए वरिम, छम्मासा अट्ठारस य दिवसा। चउण्ह छव्वरिसा दो मासा बारस य अहोरत्ता। सेस जहा कालीए जाव सिद्धा। —अन्तकृद्दशासूत्र, पृष्ठ १५९

महासिंहनिष्क्रीडित तप:क्रम इस प्रकार है—

साधक क्रमश उपवास, बेला, उपवास, तेला, बेला, चार दिन का उपवास, तेला, पाँच दिन का उपवास, चार दिन का उपवास, छह दिन का उपवास, पाँच दिन का उपवास, सात दिन का उपवास, छह दिन का उपवास, आठ दिन का उपवास, सात दिन का उपवास, नौ दिन का उपवास, आठ दिन का उपवास, दश दिन का उपवास, नौ दिन का उपवास, ग्यारह दिन का उपवास, दश दिन का उपवास, बारह दिन का उपवास, ग्यारह दिन का उपवास, तेरह दिन का उपवास, बारह दिन का उपवास, चवदह दिन का उपवास, तेरह दिन का उपवास, पन्द्रह दिन का उपवास. चवदह दिन का उपवास, सोलह दिन का उपवास, पन्द्रह दिन का उपवास करे।

तत्पश्चात् इसी क्रम को उलटा करे अर्थात् सोलह दिन के उपवास से प्रारम्भ कर एक दिन के उपवास पर समाप्त करे। यह क्रम इस प्रकार होगा—

सोलह दिन का उपवास, चवदह दिन का उपवास, पन्द्रह दिन का उपवास, तेरह दिन का उपवास, चवदह दिन का उपवास, बारह दिन का उपवास, तेरह दिन का उपवास, ग्यारह दिन का उपवास, बारह दिन का उपवास, दश दिन का उपवास, ग्यारह दिन का उपवास, नौ दिन का उपवास, दश दिन का उपवास, आठ दिन का उपवास, छह दिन का उपवास, सात दिन का उपवास, पाँच दिन का उपवास, छह दिन का उपवास, चार दिन का उपवास, पाँच दिन का उपवास, तेला, चार दिन का उपवास, बेला, उपवास, बेला तथा उपवास करे।

इस तप की एक परिपाटी मे १+२+१+३+२+४+३+५+४+६+५+७+६+८+७+९+८+१०+९+११+१०+१२+११+१३+१२+१४+१३+१५+१४+१६+१५+१६+१४+१५+१३+१४+१२+१३+११+१२+१०+११+९+१०+८+९+७+८+६+७+५+६+४+५+३+४+२+३+१+२+१=४९७ दिन उपवास+६१ दिन पारणा=कुल ५५८ दिन=एक वर्ष छह महीने तथा अठारह दिन लगते हैं।

महासिंहनिष्क्रीडित तप की चारो परिपाटियो मे ५५८+५५८+५५८+५५८=२२३२ दिन=छह वर्ष दो महीने और बारह दिन लगते है।

भद्र प्रतिमा

यह प्रतिमा कायोत्सर्ग से सम्बद्ध है। कायोत्सर्ग निर्जरा के बारह भेदो मे अतिम है। यह काय तथा उत्सर्ग—इन दो शब्दो से बना है। काय का अर्थ शरीर तथा उत्सर्ग का अर्थ त्याग है। शरीर को सर्वथा छोडा जा सके, यह तो सभव नही है पर भावात्मक दृष्टि से शरीर से अपने को पृथक् मानना, शरीर की प्रवृत्ति, हलन-चलन आदि क्रियाए छोड देना, यो नि स्पन्द, असंसक्त, आत्मोन्मुख स्थिति पाने हेतु यत्नशील होना कायोत्सर्ग है। कायोत्सर्ग मे साधक अपने आपको देह से एक प्रकार से पृथक् कर लेता है, देह को शिथिल कर देता है, तनावमुक्त होता है, आत्मरमण में संस्थित होने का प्रयत्न करता है।

इस प्रतिमा मे पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, तथा उत्तर दिशा में मुख कर क्रमश· प्रत्येक दिशा में चार पहर तक कायोत्सर्ग करने का विधान है। यो इस प्रतिमा का सोलह पहर या दो दिन-रात का कालमान है।

महाभद्र प्रतिमा

इस प्रतिमा मे पूर्व, दक्षिण, पश्चिम तथा उत्तर दिशा मे मुख कर क्रमश· प्रत्येक दिशा मे एक एक अहोरात्र—दिन-रात तक कायोत्सर्ग करने का विधान है। यों इस प्रतिमा का चार दिन-रात का कालमान है।

सर्वतोभद्र प्रतिमा

पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य, ईशान, ऊर्ध्व एवं अध —क्रमश इन दश दिशाओ की ओर मुख कर प्रत्येक दिशा में एक एक दिन-रात कायोत्सर्ग करने का इस प्रतिमा मे विधान है। यो इसे साधने मे दश दिन-रात का समय लगता है।

इस प्रतिमा के अन्तर्गत एक दूसरी विधि भी बतलाई गई है। तदनुसार इसके लघुसर्वतोभद्र प्रतिमा तथा महासर्वतोभद्र प्रतिमा--ये दो भेद किये गये हैं।

लघुसर्वतोभद्र प्रतिमा

अन्तकृद्दशाग सूत्र अष्टम वर्ग के छठे अध्ययन मे महाराज श्रेणिक की पत्नी, राजा कूणिक की छोटी माता महाकृष्णा द्वारा, जो भगवान् महावीर के श्रमण-सघ मे दीक्षित थी, लघुसर्वतोभद्र तप किये जाने का उल्लेख[१] है।

---

१ एव महाकण्हा वि नवर —खुड्डाग सव्वओभद्द पडिम उवसपज्जित्ता ण विहरइ—

चउत्थ	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।	अट्ठम	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
छट्ठ	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।	दसम	करेई करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
अट्ट	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।	छट्ठ	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
दसम	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।	अट्ठम	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
दुवालसम	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।	दसम	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
अट्ठम	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।	दुवालसम	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
दसम	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।	चउत्थ	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
दुवालसम	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।	दसम	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
चउत्थ	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।	दुवालसम	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
छट्ठ	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।	चउत्थ	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
दुवालसम	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।	छट्ठ	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
चउत्थ	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।	अट्ठम	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
छट्ठ	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।		

एव खलु एय खुड्डागसव्वओभद्दस्स तवोकम्मस्स पढम परिवाडि तिहि मासेहि दसहि य दिवसेहि अहासुत्त जाव आराहेत्ता दोच्चाए परिवाडीए चउत्थ करेइ, करेत्ता विगइवज्ज पारेइ, पारेत्ता जहा रयणावलीए तहा एत्थ वि चत्तारि परिवाडीओ। पारणा तहेव। चउण्ह कालो सवच्छरो मासो दस य दिवसा। सेस तहेव जाव सिद्धा।

—अन्तकृद्दशासूत्र, पृष्ठ १६५

इस प्रतिमा मे पहले उपवास फिर क्रमश बेला, तेला, चार दिन का उपवास, पाच दिन का उपवास, तेला, चार दिन का उपवास, पाच दिन का उपवास, एक दिन का उपवास, बेला, पाच दिन का उपवास, एक दिन का उपवास, बेला, तेला, चार दिन का उपवास, बेला, तेला, चार दिन का उपवास, पाच दिन का उपवास, एक दिन का उपवास, चार दिन का उपवास, पाँच दिन का उपवास, एक दिन का उपवास बेला तथा तेला—यह इस प्रतिमा का तप क्रम है।

इस तपस्या की प्रक्रिया समझने हेतु पच्चीस कोष्ठको का एक यन्त्र बनाया जाता है।

पहली पक्ति के कोष्ठक के आदि मे १ तथा अन्त मे पाँच को स्थापित किया जाता है। शेष कोष्ठको को २, ३, ४ से भर दिया जाता है। दूसरी पक्ति मे प्रथम पक्ति के मध्य के अक ३ को लेकर कोष्ठक भरे जाते है। ५ अतिम अक है। उसके बाद आदिम अक १ से कोष्ठक भरे जाने प्रारम्भ किये जाते है अर्थात् १ व २ से भर दिये जाते हैं। तीसरी पक्ति के कोष्ठक दूसरी पक्ति के बीच के अक ५ से भरने शुरू किये जाते हैं। बाकी के कोष्ठक आदिम अक १, २, ३ तथा ४ से भरे जाते है। चौथी पक्ति का प्रथम कोष्ठक तीसरी पक्ति के बीच के अक २ से भरा जाना शुरू किया जाता है। ५ तक पहुँचने के बाद फिर १ से भरती होती है। पाँचवी पक्ति का प्रथम कोष्ठक चौथी पक्ति के बीच के अक ४ से भरा जाना प्रारम्भ किया जाता है। पाँच तक पहुचने के बाद फिर बाकी अक १ से शुरू कर भरे जाते है।

इस यन्त्र के भरने मे विशेषत यह बात ध्यान मे रखने की है—प्रत्येक पक्ति के प्रथम कोष्ठक का भराव पिछली पक्ति के मध्य के कोष्ठक के अक से शुरू किया जाना चाहिए।

इस यन्त्र की प्रत्येक पक्ति का योग एक समान—पन्द्रह होता है।

—यन्त्र—

१	२	३	४	५
३	४	५	१	२
५	१	२	३	४
२	३	४	५	१
४	५	१	२	३

यह यन्त्र ऊपर उल्लिखित लघुसर्वतोभद्र प्रतिमा के तप क्रम का सूचक है।

इस तपस्या मे १+२+३+४+५+३+४+५+१+२+५+१+२+३+४+२+३+४+५+१+४+५+१+२+३=तप ७५ दिन+पारणा २५ दिन=१०० दिन=तीन महीने और दश दिन लगते हैं।

विगयसहित, विगयवर्जित, लेपवर्जित तथा आयम्बिल पूर्वक पारणे के आधार पर कनकावली की तरह इस तप की चार परिपाटियाँ हैं। चारो परिपाटियो में १००+१००+१००+१००=४०० दिन=एक वर्ष एक महीना और दश दिन लगते है।

महासर्वतोभद्र प्रतिमा

अन्तकृद्दशाग सूत्र अष्टम वर्ग के सातवे अध्ययन मे आर्या वीरकृष्णा द्वारा महासर्वतोभद्र प्रतिमा तप किये जाने का उल्लेख[1] है।

---

१ एव वीरकण्हा वि, नवर—महालय सव्वओभद्द तवोकम्म उवसपज्जित्ता ण विहरइ, त जहा—

चउत्थ करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
छट्ठ करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
अट्ठम करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
दसम करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
दुवालसम करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
चोद्दसम करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
सोलसम करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
दसम करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
दुवालसम करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
चोद्दसम करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
सोलसम करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
चउत्थ करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
छट्ठ करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
अट्ठम करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
सोलसम करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
चउत्थ करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
छट्ठ करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
अट्ठम करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
दसम करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
दुवालसम करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
चोद्दसम करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
अट्ठम करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
दसम करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
दुवालसम करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
चोद्दसम करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
सोलसम करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
चउत्थ करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
छट्ठ करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
चोद्दसम करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
सोलसम करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
चउत्थ करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
छट्ठ करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
अट्ठम करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
दसम करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
दुवालसम करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
छट्ठ करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
अट्ठम करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
दसम करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
दुवालसम करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
चोद्दसम करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
सोलसम करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
चउत्थ करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
दुवालसम करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
चोद्दसम करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
सोलसम करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
चउत्थ करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
छट्ठ करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
अट्ठम करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।
दसम करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणिय पारेइ।

एक्काए कालो अट्ठ मासा पच य दिवसा। चउण्ह दो वासा अट्ठ मासा वीस य दिवसा। सेस तहेव जाव सिद्धा।

—अन्तकृद्दशासूत्र, पृष्ठ १६७

जहाँ लघुसर्वतोभद्र प्रतिमा मे एक उपवास से लेकर पाँच दिन तक उपवास किये जाते हैं, वहाँ महासर्वतोभद्र प्रतिमा मे एक उपवास से लेकर सात दिन तक के उपवास किये जाते हैं।

इस तपस्या की विधि या प्रक्रिया सूचक यन्त्र निम्नाकित है, जो लघुसर्वतोभद्रप्रतिमा तप से सम्बद्ध यन्त्र की सरणि पर स्थापित है—

१	२	३	४	५	६	७
४	५	६	७	१	२	३
७	१	२	३	४	५	६
३	४	५	६	७	१	२
६	७	१	२	३	४	५
२	३	४	५	६	७	१
५	६	७	१	२	३	४

इस यन्त्र की प्रत्येक पंक्ति का योग अट्ठाईस है।

इस तपस्या मे १+२+३+४+५+६+७+४+५+६+७+१+२+३+७+१+२ ३+४+५+६+३+४+५+६+७+१+२+६+७+१+२+३+४+५+२+३+४+५ +६+७+१+५+६+७+१+२+३+४=तप दिन १९६+पारणा दिन ४९=कुल दिन २४५=आठ महीने तथा पाँच दिन लगते है।

इसकी चारो परिपाटियो मे २४५+२४५+२४५+२४५=९८० दिन=दो वर्ष आठ महीने तथा बीस दिन लगते हैं।

आयम्बिल वर्द्धमान

अन्तकृद्दशाग सूत्र के अष्टम वर्ग के दशवे अध्ययन मे आर्या महासेनकृष्णा द्वारा आयम्बिल

वर्द्धमान तप किये जाने का वर्णन है।[1]

इस तप में आयम्बिल (जिसमे एक दिन मे एक बार भुना हुआ या पकाया हुआ एक अन्न पानी के साथ—पानी मे भिगोकर खाया जाए) के साथ उपवास का एक विशेष क्रम रहता है। आयम्बिलो की क्रमश बढती-हुई सख्या के साथ उपवास चलता रहता है। एक आयम्बिल, एक उपवास, दो आयम्बिल, एक उपवास, तीन आयम्बिल, एक उपवास, चार आयम्बिल एक उपवास—यो उत्तरोत्तर बढते-बढते सौ आयम्बिलो तक यह क्रम चलता है।

इस तप मे १+२+३+४+५+६+७+८+९+१०+११+१२+१३+१४+१५+१६+१७+१८+१९+२०+२१+२२+२३+२४+२५+२६+२७+२८+२९+३०+३१+३२+३३+३४+३५+३६+३७+३८+३९+४०+४१+४२+४३+४४+४५+४६+४७+४८+४९+५०+५१+५२+५३+५४+५५+५६+५७+५८+५९+६०+६१+६२+६३+६४+६५+६६+६७+६८+६९+७०+७१+७२+७३+७४+७५+७६+७७+७८+७९+८०+८१+८२+८३+८४+८५+८६+८७+८८+८९+९०+९१+९२+९३+९४+९५+९६+९७+९८+९९+१००+=५०५०आयम्बिल+१००उपवास=५१५० दिन =चवदह वर्ष तीन महीने बीस दिन लगते हैं।

वृत्तिकार आचार्य अभयदेवसूरि ने प्रस्तुत आगम की वृत्ति मे इस तप का जो क्रम दिया है, उसके अनुसार पहले एक उपवास, फिर एक आयम्बिल, फिर उपवास, दो आयम्बिल, उपवास, तीन आयम्बिल, उपवास, चार आयम्बिल—यो सौ तक क्रम चलता[2] है। अर्थात् उन्होने इस तप का प्रारभ उपवास से माना है पर जैसा ऊपर उल्लेख किया गया है, अन्तकृद्दशाग सूत्र मे आयम्बिल पूर्वक उपवास का क्रम है। वही प्रचलित है तथा आगमोक्त होने से मान्य भी।

---

१ एव महासेणकण्हा वि, नवर—आयबिल-वड्ढमाण तवोकम्म उवसपज्जित्ता ण विहरइ, त जहा—
आयबिल करेइ, करेत्ता चउत्थ करेइ।
बे आयबिलाइ करेइ, करेत्ता चउत्थ करेइ।
तिण्णि आयबिलाइ करेइ, करेत्ता चउत्थ करेइ।
चत्तारि आयबिलाइ करेइ, करेत्ता चउत्थ करेइ।
पच आयबिलाइ करेइ, करेत्ता चउत्थ करेइ।
छ आयबिलाइ करेइ, करेत्ता चउत्थ करेइ।
एव एक्कुत्तरियाए वड्ढीए आयबिलाइ वड्ढति चउत्थतरियाइ जाव आयबिलसय करेइ, करेत्ता चउत्थ करेइ।

तए ण सा महासेणकण्हा अज्जा आयबिलवड्ढमाण तवोकम्म चोद्दसहि वासेहिं तिहि य मासेहिं वीसहि य अहोरत्तेहिं 'अहासुत्त जाव आराहेत्ता' जेणेव अज्जचदणा अज्जा, तेणेव उवागया, उवागच्छित्ता वदइ, नमसइ, वदित्ता, नमसित्ता बहूहि चउत्थ-छटठट्ठम-दसम-दुवालसेहि मास-द्धमासखमणेहिं विविहेहि तवोकम्मेहि अप्पाण भावेमाजी विहरइ। —अन्तकृद्दशासूत्र, पृष्ठ १७५

२ 'आयबिल वद्धमाण' ति यत्र चतुर्थ कृत्वा आयामाम्ल क्रियते, पुनश्चतुर्थ, पुनर्द्वे आयामाम्ले, पुनश्चतुर्थं, पुनस्त्रीणि आयामाम्लानि, एव यावच्चतुर्थं शत चायामाम्लाना क्रियन इति।

—औपपातिकसूत्र वृत्ति, पत्र ३१

भिक्षु प्रतिमा

भिक्षुओ की तितिक्षा, त्याग तथा उत्कृष्ट साधना का एक विशेष क्रम प्रतिमाओ के रूप मे व्याख्यात हुआ है। वृत्तिकार आचार्य अभयदेवसूरि ने स्थानाग[1] सूत्र की वृत्ति मे प्रतिमा का अर्थ प्रतिपत्ति, प्रतिज्ञा तथा अभिग्रह किया है। भिक्षु एक विशेष प्रतिज्ञा, सकल्प या निश्चय लेकर साधना की एक विशेष पद्धति स्वीकार करता है।

प्रतिमा शब्द प्रतीक या प्रतिबिब का भी वाचक है। वह क्रम एक विशेष साधन का प्रतीक होता है या उसमे एक विशेष साधना प्रतिबिम्बित होती है, इसी अभिप्राय से वहाँ अर्थ-सगति है।

प्रतिमा का अर्थ मापदण्ड भी है। साधक जहाँ किसी एक अनुष्ठान के उत्कृष्ट परिपालन मे लग जाता है, वहाँ वह अनुष्ठान या आचार उसका मुख्य ध्येय हो जाता है। उसका परिपालन एक आदर्श, उदाहरण या मापदण्ड का रूप ले लेता है अर्थात् वह अपनी साधना द्वारा एक ऐसी स्थिति उत्पन्न करता है, जिसे अन्य लोग उस आचार का प्रतिमान स्वीकार करते हैं।

समवायाग[2] सूत्र मे साधु के लिए १२ प्रतिमाओ का निर्देश है। भगवती[3] सूत्र मे १२ प्रतिमाओ की चर्चा है। स्कन्दक अनगार ने भगवान् की अनुज्ञा से उनकी आराधना की।

दशाश्रुतस्कन्ध की सातवी दशा मे १२ भिक्षु-प्रतिमाओ का विस्तार से वर्णन है। तितिक्षा, वैराग्य, आत्मनिष्ठा, अनासक्ति आदि की दृष्टि से वह वर्णन बडा उपादेय एव महत्त्वपूर्ण है, उसका साराश इस प्रकार है—

पहली प्रतिमा (एकमासिक प्रतिमा) मे प्रतिपन्न साधु शरीर की शुश्रूषा तथा ममता का त्यागकर विचरण करता है। व्यन्तर-देव, अनार्य-जन, सिह, सर्प आदि के उपसर्ग— कष्ट उत्पन्न होने पर वह शरीर के ममत्व का त्याग किए स्थिरतापूर्वक उन्हे सहन करता है। कोई दुर्वचन कहे तो उन्हे क्षमा-भाव से वह सहता है। वह एक दत्ति आहार ग्रहण करता है। दत्ति का तात्पर्य यह है कि दाता द्वारा भिक्षा देते समय एक बार मे साधु के पात्र मे जितना आहार पड जाय, वह एक दत्ति कहा जाता है। पानी आदि तरल पदार्थों के लिये ऐसा है, देते समय जितने तक उनकी धार खण्डित न हो, वह एक दत्ति है। कइयो ने दत्ति का अर्थ कवल भी किया है।

प्रतिमाप्रतिपन्न भिक्षु, भगवान् ने जिन जिन कुलो मे से आहार-पानी लेने की आज्ञा दी है, उनसे बयालीस दोषवर्जित आहार लेता है। वह आहार लेते समय ध्यान रखता है कि कुटुम्ब के सभी व्यक्ति भोजन कर चुके हो, श्रमण, ब्राह्मण, अतिथि, कृपण—भूखे, प्यासे को दे दिया गया हो, गृहस्थ अकेला भोजन करने बैठा हो। ऐसी स्थितियो मे वह भोजन स्वीकार करता है। दो, तीन, चार, पाच आदमी भोजन करने बैठे हो, तो वहाँ वह भिक्षा नही ले सकता। गर्भवती स्त्री के खाने के लिए जो भोजन बना हो, उसके खाये बिना वह आहार नही ले सकता। बालक के लिए जो भोजन हो,

---

१ स्थानागसूत्र वृत्ति, ६१/१८४

२ समवायागसूत्र, स्थान १२/१

३ भगवतीसूत्र, २/१/५८-६१

उसके खाये बिना उसमे से भिक्षा लेना उसके लिए कल्पनीय—स्वीकरणीय नही है। शिशु को स्तन-पान कराती माता शिशु को छोडकर यदि भिक्षा दे तो वह नही लेता। वह दोनो पांव घर के अन्दर रख कर दे या घर के बाहर रख कर दे तो वह आहार ग्रहण नही करता। देने वाले का एक पांव घर की देहली के अन्दर तथा एक पाँव घर की देहली के बाहर हो, तो प्रतिमाधारी साधु के लिए वह आहार कल्पनीय है। प्रतिमाधारी साधु के भिक्षा ग्रहण करने के तीन काल है—आदिकाल, मध्यकाल तथा अन्तिमकाल। इनमे से मध्यम काल मे भिक्षार्थ जाने वाला प्रथम तथा अन्तिम काल मे नही जाता है।

एकमासिक प्रतिमा-प्रतिपन्न साधु छह प्रकार से भिक्षा ग्रहण करता है, यथा—परिपूर्ण पेटी या सन्दूक के आकार के चार कोनो के चार घरो से, आधी पेटी या सन्दूक के आकार के दो कोनो के घरो से, गोमूत्रिका के आकार के घरो से—एक घर एक तरफ का, एक घर सामने का, फिर एक घर दूसरी तरफ का—यो स्थित घरो से, पतग-वीथिका—पतिगे के आकार के फुटकर घरो से, शखावर्त—शख के आकार के घरो से—एक घर ऊपर का, एक घर नीचे का, फिर एक घर ऊपर का, फिर एक घर नीचे का—ऐसे घरो से गत प्रत्यागत—सीधे पक्तिबद्ध घरो से भिक्षा ग्रहण करता है।

प्रतिमाप्रतिपन्न भिक्षु उस स्थान के एक ही रात्रि प्रवास कर विहार कर जाए, जहाँ उसे कोई पहचानने वाला हो। जहाँ कोई पहचानता नही हो, वहाँ वह एक रात, दो रात प्रवास कर विहार कर जाए। एक, दो रात से वह अधिक रहता है तो उसे दीक्षा-क्षेप या परिहार का प्रायश्चित्त लेना होता है।

प्रतिमाप्रतिपन्न साधु के लिए चार प्रयोजनो से भाषा बोलना कल्पनीय है—१—आहार आदि लेने के लिए, २—शास्त्र तथा मार्ग पूछने के लिए, ३—स्थान आदि की आज्ञा लेने के लिए, ४—प्रश्नो का उत्तर देने के लिए।

प्रतिमाधारी साधु जिस स्थान मे रहता हो, वहाँ कोई आग लगा दे तो उसे अपना शरीर बचाने हेतु उस स्थान से निकलना, अन्य स्थान मे प्रवेश करना नही कल्पता। यदि कोई मनुष्य उस मुनि को आग से निकालने आए, बाह पकड कर खीचे तो उस प्रतिमाधारी मुनि को उस गृहस्थ को पकडकर रखना, उसको रोके रखना नही कल्पता किन्तु ईर्यासमिति पूर्वक बाहर जाना कल्पता है। प्रतिमाधारी साधु की पगथली मे कीला, काँटा, तृण, ककड आदि घस जाय तो उसे उनको अपने पैर से निकालना नही कल्पता, ईर्यासमिति- जागरूकता पूर्वक विहार करना कल्पता है। उसकी आँख मे मच्छर आदि पड जाए, बीज, रज, धूल आदि के कण पड जाए तो उन्हे निकालना, आँखो को साफ करना उसे नही कल्पता।

प्रतिमाधारी साधु बाहर जाकर आया हो या विहार करके आया हो, उसके पैर सचित्त धूल से भरे हो तो उसे उन पैरो से गृहस्थ के घर मे आहार-पानी ग्रहण करने प्रवेश करना नही कलतता।

प्रतिमाधारी साधु को घोडा, हाथी, बैल, भैस, सूअर, कुत्ता, बाघ आदि क्रूर प्राणी अथवा दुष्ट स्वभाव के मनुष्य, जो सामने आ रहे हो, देखकर वापिस लौटना या पांव भी इधर उधर करना नही कल्पता।

यदि सामने आता जीव अदुष्ट हो, कदाचित् वह साधु को देख कर भयभीत होता हो, भागता हो तो साधु को अपने स्थान से मात्र चार हाथ जमीन पीछे सरक जाना कल्पनीय है।

प्रतिमाधारी साधु को छाया से धूप मे, धूप से छाया मे जाना नही कल्पता किन्तु जिस स्थान मे जहाँ वह स्थित है, शीत, ताप आदि जो भी परिषह उत्पन्न हो, उन्हे वह समभाव से सहन करे।

एकमासिक भिक्षु प्रतिमा का यह विधिक्रम है। जैसा सूचित किया गया है, एक महीने तक प्रतिमाधारी भिक्षु को एक दिन मे एक दत्ति आहार तथा एक दत्ति पानी पर रहना होता है।

दूसरी प्रतिमा मे प्रथम प्रतिमा के सब नियमो का पालन किया जाता है। जहाँ पहली प्रतिमा मे एक दत्ति अन्न तथा एक दत्ति पानी का विधान है, दूसरी प्रतिमा मे दो दत्ति अन्न तथा दो दत्ति पानी का नियम है। पहली प्रतिमा को सम्पूर्ण कर साधक दूसरी प्रतिमा मे आता है। एक मास पहली प्रतिमा का तथा एक मास दूसरी प्रतिमा का यो -दूसरी प्रतिमा के सम्पन्न होने तक दो मास हो जाते है। आगे सातवी प्रतिमा तक यही क्रम रहता है। पहली प्रतिमा मे बताये सब नियमो का पालन करना होता है। केवल अन्न तथा पानी की दत्तियो की सात तक वृद्धि होती जाती है।

आठवी प्रतिमा का समय सात दिन-रात का है। इसमे प्रतिमाधारी एकान्तर चौविहार उपवास करता है। गाँव नगर या राजधानी से बाहर निवास करता है। उत्तानक—चित लेटता है। पार्श्वशायी—एक पार्श्व या एक पासू से लेटता है या निषद्योपगत—पालथी लगाकर कायोत्सर्ग मे बैठा रहता है।

इसे प्रथम सप्त-रात्रिदिवा-भिक्षु-प्रतिमा भी कहा जाता है।

नौवी प्रतिमा या द्वितीय सप्त-रात्रिदिवा भिक्षुप्रतिमा मे भी सात दिन-रात तक पूर्ववत् तप करना होता है। साधक उत्कटुक—घुटने खडे किए हुए हो, मस्तक दोनो घुटनो के बीच मे हो, ऐसी स्थिति लिए हुए पजो के बल बैठे।

लगडशायी—बाकी लकडी को लगड कहा जाता है। लगड की तरह कुब्ज होकर या झुककर मस्तक व पैरो की एडी को जमीन से लगाकर पीठ से जमीन को स्पर्श न करते हुए अथवा मस्तक एव पैरो को ऊपर रख कर तथा पीठ को जमीन पर टेक कर सोए।

दण्डायतिका—डण्डे की तरह लबा होकर अर्थात् पैर फैलाकर बैठे या लेटे, गाँव आदि से बाहर रहे।

दशवी भिक्षु-प्रतिमा या तृतीय सप्त-रात्रिदिवा भिक्षु-प्रतिमा का समय भी पहले की तरह सात दिन-रात का है। साधक पूर्ववत् गाँव, नगर आदि से बाहर रहे। गोदुहासन—गाय दुहने की स्थिति मे बैठे या वीरासन—कुर्सी के ऊपर बैठे हुए मनुष्य के नीचे से कुर्सी निकाल लेने पर जैसी स्थिति होती है, साधक उस आसन से बैठे या आम्रकुब्जासन—आम के फल की तरह किसी खूटी आदि का सहारा लेकर सारे शरीर को अधर रख कर रहे।

अहोरात्रि भिक्षु-प्रतिमा

इस प्रतिमा मे चौविहार बेला करे, गाँव से बाहर रहे। प्रलम्बभुज हो—दोनो हाथो को लटकाते हुए स्थिर रखे।

एकरात्रिक भिक्षु-प्रतिमा

इस प्रतिमा मे चौविहार तेला करे। साधक जिन मुद्रा मे—दोनो पैरों के बीच चार अगुल का अन्तर रखते हुए, सम-अवस्था मे खडा रहे। प्रलम्बभुज हो—हाथ लटकते हुए स्थिर हो। नेत्र निर्निमेष हो—झपके नही। किसी एक पुद्गल पर दृष्टि लगाये, कुछ झुके हुए शरीर से अवस्थित हो आराधना करे।

सप्तसप्तमिका भिक्षु-प्रतिमा

इसका कालमान ४९ दिन का है, जो सात-सात दिन के सात सप्तकों या वर्गों में बँटा हुआ है। पहले सप्तक मे पहले दिन एक दत्ति अन्न, एक दत्ति पानी, दूसरे दिन दो दत्ति अन्न, दो दत्ति पानी, यो बढाते हुए सातवे दिन सात दत्ति अन्न, सात दत्ति पानी ग्रहण करने का विधान है। शेष छह सप्तको में इसी की पुनरावृत्ति करनी होती है।

इसका एक दूसरे प्रकार का भी विधान है। पहले सप्तक मे प्रतिदिन एक दत्ति अन्न, एक दत्ति पानी, दूसरे सप्तक मे प्रतिदिन दो दत्ति अन्न, दो दत्ति पानी। यो क्रमश बढाते हुए सातवे सप्तक मे सात दत्ति अन्न तथा सात दत्ति पानी ग्रहण करने का विधान है।

अष्टमअष्टमिका, नवमनवमिका, दशमदशमिका प्रतिमाए भी इसी प्रकार है। अष्टम-अष्टमिका मे आठ-आठ दिन के आठ अष्टक या वर्ग करने होते है, नवमनवमिका मे नौ-नौ दिन के नौ नवक या वर्ग करने होते है, दशमदशमिका मे दश-दश दिन के दश दशक या वर्ग करने होते है, अन्न तथा पानी की दत्तियो मे पूर्वोक्त रीति से आठ तक, नौ तक तथा दश तक वृद्धि की जाती है। इनका क्रमश ६४ दिन, ८१ दिन तथा १०० दिन का कालमान है।

लघुमोक-प्रतिमा

यह प्रस्रवण सम्बन्धी अभिग्रह है। द्रव्यत· नियमानुकूल हो तो प्रस्रवण की दिन मे अप्रतिष्ठापना, क्षेत्रत गाँव आदि से बाहर, कालत दिन मे या रात मे, शीतकाल मे या ग्रीष्मकाल मे। यदि भोजन करके यह प्रतिमा साधी जाती है तो छह दिन के उपवास से समाप्त होती है। बिना खाये साधी जाती है तो सात दिन से पूर्ण होती है।

महामोक-प्रतिमा की भी यही विधि है। केवल इतना सा अन्तर है, यदि वह भोजन करके स्वीकार की जाती है तो सात दिन के उपवास से सम्पन्न होती है। यदि बिना भोजन किए स्वीकार की जाती है तो आठ दिन के उपवास से पूर्ण होती है।

यवमध्यचन्द्र-प्रतिमा

शुक्लपक्ष की प्रतिपदा से शुरू होकर चन्द्रमा की कला की वृद्धि-हानि के आधार पर दत्तियो की वृद्धि-हानि करते हुए इसकी आराधना की जाती है। दोनो पक्षो के पन्द्रह पन्द्रह दिन मिलाकर इसकी आराधना मे एक महीना लगता है। शुक्लपक्ष में बढती हुई दत्तियों की सख्या तथा कृष्णपक्ष मे घटती हुई दत्तियो की सख्या, मध्य मे दोनो ओर से भारी व मोटी होती है। इसलिए इसके मध्य भाग को जौ से उपमित किया गया। जौ का दाना बीच मे मोटा होता है।

इसका विश्लेषण यों है—

शुक्लपक्ष की प्रतिपदा को एक दत्ति अन्न, एक दत्ति पानी, द्वितीया को दो दत्ति अन्न तथा दो दत्ति पानी, इस प्रकार उत्तरोत्तर बढाते हुए पूर्णिमा को पन्द्रह दत्ति अन्न, पन्द्रह दत्ति पानी, कृष्णपक्ष की प्रतिपदा को चवदह दत्ति अन्न तथा चवदह दत्ति पानी, फिर क्रमशः एक एक घटाते हुए कृष्णपक्ष की चतुर्दशी को एक दत्ति अन्न, एक दत्ति पानी तथा अमावस्या को उपवास—यह साधनाक्रम है।

वज्रमध्यचन्द्र-प्रतिमा

कृष्णपक्ष की प्रतिपदा के दिन इसे प्रारम्भ किया जाता है। चन्द्रमा की कला की हानि-वृद्धि के आधार पर दत्तियो को हानि-वृद्धि से यह प्रतिमा सम्पन्न होती है। प्रारम्भ मे कृष्णपक्ष की प्रतिपदा को १५ दत्ति अन्न और १५ दत्ति पानी ग्रहण करने का विधान है, जो आगे उत्तरोत्तर घटता जाता है, अमावस्या को एक दत्ति रह जाता है। शुक्लपक्ष की प्रतिपदा को दो दत्ति अन्न, दो दत्ति पानी लिया जाता है। उत्तरोत्तर बढते हुए शुक्लपक्ष की चतुर्दशी को पन्द्रह पन्द्रह दत्ति हो जाता है और पूर्णमासी को पूर्ण उपवास रहता है। यो इसका बीच का भाग दत्तियो की सख्या की अपेक्षा से पतला या हलका रहता है। वज्र का भाग भी पतला होता है इसलिए इसे वज्र के मध्यभाग से उपमित किया गया है।

स्थविरों के गुण

२५—तेण कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी बहवे थेरा भगवंतो जाइसंपण्णा कुलसंपण्णा बलसंपण्णा रूवसंपण्णा विणयसंपण्णा णाणसंपण्णा दंसणसंपण्णा चरित्तसंपण्णा लज्जासंपण्णा लाघवसंपण्णा ओयंसी तेयंसी वच्चंसी जसंसी, जियकोहा जियमाणा जियमाया जियलोभा जिइंदिया जियणिद्दा जियपरीसहा जीवियास-मरणभयविप्पमुक्का, वयप्पहाणा गुणप्पहाणा करणप्पहाणा चरणप्पहाणा णिग्गहप्पहाणा निच्छयप्पहाणा अज्जवप्पहाणा मद्दवप्पहाणा लाघवप्पहाणा खंतिप्पहाणा मुत्तिप्पहाणा विज्जाप्पहाणा मंतप्पहाणा वेयप्पहाणा बंभप्पहाणा नयप्पहाणा नियमप्पहाणा सच्चप्पहाणा सोयप्पहाणा चारुवण्णा लज्जातवस्सीजिइंदिया सोही अणियाणा अप्पोसुया अबहिल्लेसा अप्पडिलेस्सा सुसामण्णरया दंता इणमेव णिग्गथं पावयणं पुरओकाउं विहरंति।

२५—तब श्रमण भगवान् महावीर के अन्तेवासी बहुत से स्थविर—ज्ञान तथा चारित्र मे वृद्ध—वृद्धि-प्राप्त, भगवान्, जाति-सम्पन्न—उत्तम, निर्मल मातृपक्षयुक्त, कुलसम्पन्न—उत्तम, निर्मल पितृपक्षयुक्त, बल-सम्पन्न—उत्तम दैहिक शक्तियुक्त, रूप-सम्पन्न—रूपवान्—सर्वांगसुन्दर, विनय-सम्पन्न, ज्ञान-सम्पन्न, दर्शन-सम्पन्न, चारित्र-सम्पन्न, लज्जा-सम्पन्न, लाघव-सम्पन्न—हलके—भौतिक पदार्थों तथा कषाय आदि के भार से रहित, ओजस्वी तेजस्वी, वचस्वी—प्रशस्तभाषी अथवा वर्चस्वी—वर्चस् या प्रभावयुक्त, यशस्वी, क्रोधजयी, मानजयी, मायाजयी, लोभजयी, इन्द्रियजयी, निद्राजयी, परिषहजयी—कष्टविजेता, जीवन की इच्छा और मृत्यु के भय से रहित, व्रतप्रधान, गुणप्रधान—सयम आदि गुणो की विशेषता से युक्त, करणप्रधान—आहार-विशुद्धि आदि की विशेषता सहित, चारित्रप्रधान—उत्तमचारित्र सम्पन्न—दशविध यतिधर्म से युक्त, निग्रहप्रधान—राग आदि शत्रुओ के निरोधक, निश्चयप्रधान—सत्य तत्त्व के निश्चित विश्वासी या

कर्म-फल की निश्चितता मे आश्वस्त, आर्जवप्रधान—सरलतायुक्त, मार्दवप्रधान—मृदुलायुक्त, लाघव-प्रधान—आत्मलीनता के कारण किसी भी प्रकार के भार से रहित या स्फूर्तिशील, क्रियादक्ष, क्षान्ति-प्रधान—क्षमाशील, गुप्तिप्रधान—मानसिक, वाचिक तथा कायिक प्रवृत्तियो के गोपक—विवेकपूर्वक उनका उपयोग करने वाले, मुक्तिप्रधान—कामनाओ से छूटे हुए या मुक्तता की ओर अग्रसर, विद्या-प्रधान—ज्ञान की विविध शाखाओ के पारगामी, मन्त्रप्रधान—सत् मन्त्र, चिन्तना या विचारणायुक्त, वेदप्रधान—वेद आदि लौकिक, लोकोत्तर शास्त्रो के ज्ञाता, ब्रह्मचर्यप्रधान, नयप्रधान—नैगम आदि नयो के ज्ञाता, नियमप्रधान—नियमो के पालक, सत्यप्रधान, शौचप्रधान—आत्मिक शुचिता या पवित्रतायुक्त, चारुवर्ण—सुन्दर वर्णयुक्त अथवा उत्तम कीर्तियुक्त, लज्जा—सयम की विराधना मे हृदय-सकोच वाले तथा तपश्री—तप की आभा या तप के तेज द्वारा जितेन्द्रिय, शोधि-शुद्ध या अकलुषित-हृदय, अनिदान—निदानरहित—स्वर्ग तथा अन्यान्य वैभव, समृद्धि, सुख आदि की कामना बिना धर्माराधना मे सलग्न, अल्पौत्सुक्य—भौगिक उत्सुकता रहित थे । अपनी मनोवृत्तियो को सयम से बाहर नही जाने देते थे । अनुपम (उच्च) मनोवृत्तियुक्त थे, श्रमण-जीवन के सम्यक् निर्वाह मे सलग्न थे, दान्त—इन्द्रिय, मन आदि का दमन करने वाले थे, वीतराग प्रभु द्वारा प्रतिपादित प्रवचन—धर्मानुशासन, तत्त्वानुशासन को आगे रखकर—प्रमाणभूत मानकर विचरण करते थे ।

२६—तेसि णं भगवताण आयावाया वि विदिता भवंति, परवाया वि विदिता भवंति, आयावाय जमइत्ता नलवणमिव मत्तमातंगा, अच्छिद्दपसिणवागरणा, रयणकरंडगसमाणा, कुत्तियावणभूया, परवाइपमद्दणा, दुवालसंगिणो, समत्तगणिपिडगधरा, सव्वक्खरसण्णिवाइणो, सव्वभासाणुगामिणो, अजिणा जिणसकासा, जिणा इव अवितहं वागरमाणा संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा विहरंति ।

२६—वे स्थविर भगवान् आत्मवाद—अपने सिद्धातो के विविध वादो—पक्षो के वेत्ता—जानकार थे । वे दूसरो के सिद्धान्तो के भी वेत्ता थे ।

कमलवन मे क्रीडा आदि हेतु पुन पुन· विचरण करते हाथी की ज्यो वे अपने सिद्धान्तो के पुन पुन अभ्यास या आवृत्ति के कारण उनसे सुपरिचित थे । वे अछिद्र—अव्याहत—अखण्डित—निरन्तर प्रश्नोत्तर करते रहने मे सक्षम थे । वे रत्नो की पिटारी के सदृश ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि दिव्य रत्नो से आपूर्ण थे ।

कुत्रिक—स्वर्गलोक, मर्त्यलोक, पाताललोक मे प्राप्त होनेवाली वस्तुओ की हाट के सदृश वे अपने लब्धि-वैशिष्ट्य के कारण सभी अभीप्सित—इच्छित अर्थ या प्रयोजन सपादित करने मे समर्थ थे । परवादिप्रमर्दन—दूसरो के वादो या सिद्धातो का युक्तिपूर्वक प्रमर्दन—सर्वथा खण्डन करने मे सक्षम थे । आचाराग, सूत्रकृतांग आदि बारह अगो के ज्ञाता थे । समस्त गणि-पिटक—आचार्य का पिटक—पेटी—प्रकीर्णक, श्रुतादेश, श्रुतनिर्युक्ति आदि समस्त जिन-प्रवचन के धारक, अक्षरो के सभी प्रकार के सयोग के जानकार, सब भाषाओ के अनुगामी—ज्ञाता थे । वे जिन—सर्वज्ञ न होते हुए भी सर्वज्ञ सदृश थे । वे सर्वज्ञो की तरह अवितथ—यथार्थ, वास्तविक या सत्य प्ररूपणा करते हुए, सयम तथा तप से आत्मा को भावित करते हुए विचरते थे ।

गुणसम्पन्न अनगार

२७—तेणं कालेणं तेणं समएण समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी बहवे अणगारा भगवंतो इरियासमिया, भासासमिया, एसणासमिया, आयाणभंड-मत्तनिक्खेवणासमिया, उच्चार-पासवण-खेल-

सिंघाण-जल्ल-पारिट्ठावणियासमिया, मणगुत्ता, वयगुत्ता, कायगुत्ता, गुत्ता, गुत्तिंदिया, गुत्तबंभयारी, अममा, अकिंचणा, छिण्णगंथा,[1] छिण्णसोया, निरुवलेवा, कंसपाईव मुक्कतोया, संख इव निरंगणा, जीवो विव अप्पडिहयगई, जच्चकणगं पिव जायरूवा, आदरिसफलगा इव पागडभावा, कुम्मो इव गुत्तिंदिया, पुक्खरपत्तं व निरुवलेवा, गगणमिव निरालंबणा, अणिलो इव निरालया, चंदो एव सोमलेसा, सूरो इव दित्ततेया, सागरो इव गंभीरा, विहग इव सव्वओ विप्पमुक्का, मंदरो इव अप्पकंपा, सारयसलिलं इव सुद्धहियया, खग्गिविसाणं इव एगजाया, भारंडपक्खी व अप्पमत्ता, कुंजरो इव सोंडीरा, वसभो इव जायत्थामा, सीहो इव दुद्धरिसा, वसुंधरा इव सव्वफासविसहा, सुहुयहुयासणो इव तेयसा जलंता।

२७—उस काल, उस समय श्रमण भगवान् महावीर के अन्तेवासी बहुत से अनगार भगवान्—साधु थे। वे ईर्या—गमन, हलन-चलन आदि क्रिया, भाषा, आहार आदि की गवेषणा, याचना, पात्र आदि के उठाने, इधर-उधर रखने आदि तथा मल, मूत्र, खखार, नाक आदि का मैल त्यागने में समित—सम्यक् प्रवृत्त—यतनाशील थे। वे मनोगुप्त, वचोगुप्त, कायगुप्त,—मन, वचन तथा शरीर की क्रियाओ का गोपायन—सयम करने वाले, गुप्त—शब्द आदि विषयो मे रागरहित—अन्तर्मुख, गुप्तेन्द्रिय—इन्द्रियो को उनके विषय-व्यापार मे लगाने की उत्सुकता से रहित, गुप्त ब्रह्मचारी—नियमोपनियमपूर्वक ब्रह्मचर्य का सरक्षण—परिपालन करनेवाले, अमम—ममत्वरहित, अकिञ्चन—परिग्रहरहित, छिन्नग्रन्थ—ससार से जोडने वाले पदार्थों से विमुक्त, छिन्नस्रोत—लोक-प्रवाह मे नही बहने वाले, निरुपलेप—कर्मबन्ध के लेप से रहित, कासे के पात्र मे जैसे पानी नही लगता, उसी प्रकार स्नेह, आसक्ति आदि के लगाव से रहित, शख के समान निरंगण—राग आदि की रञ्जनात्मकता से शून्य—शख जैसे सम्मुखीन रग से अप्रभावित रहता है, उसी प्रकार सम्मुखीन क्रोध, द्वेष, राग, प्रेम, प्रशसा, निन्दा आदि से अप्रभावित, जीव के समान अप्रतिहत—प्रतिघात या निरोधरहित गतियुक्त, जात्य—उत्तम जाति के, विशोधित—अन्य कुधातुओ से अमिश्रित शुद्ध स्वर्ण के समान जातरूप—प्राप्त निर्मल चारित्र्य मे उत्कृष्ट भाव से स्थित—निर्दोष चारित्र्य के प्रतिपालक, दर्पणपट्ट के सदृश—प्रकटभाव—प्रवचना, छलना व कपटरहित शुद्धभावयुक्त, कछुए की तरह गुप्तेन्द्रिय-इन्द्रियो को विषयो से खीच कर निवृत्ति-भाव मे सस्थित रखने वाले, कमलपत्र,के समान निर्लेप, आकाश के सदृश निरालम्ब—निरपेक्ष, वायु की तरह निरालय—गृहरहित, चन्द्रमा के समान सौम्य लेश्यायुक्त—सौम्य, सुकोमल-भाव-सवलित, सूर्य के समान दीप्ततेज—दैहिक तथा आत्मिक तेजयुक्त, समुद्र के समान गम्भीर, पक्षी की तरह सर्वथा विप्रमुक्त—मुक्तपरिकर, अनियतवास—परिवार, परिजन आदि से मुक्त तथा निश्चित निवासरहित, मेरु पर्वत के समान अप्रकम्प—अनुकूल, प्रतिकूल स्थितियो मे, परिषहो मे अविचल, शरद् ऋतु के जल के समान शुद्ध हृदययुक्त, गेडे के सीग के समान एकजात—राग आदि विभावो से रहित, एकमात्र आत्मनिष्ठ, भारण्ड[2] पक्षी के समान अप्रमत्त—प्रमादरहित, जागरूक, हाथी के सदृश शौण्डोर—कषाय आदि को जीतने मे शक्तिशाली, बलोन्नत,

---

१ टीका के अनुसार 'अगथा' पाठ है, जिसका अर्थ है—अपरिग्रह।

२ ऐसी मान्यता है, भारण्ड पक्षी के एक शरीर, दो सिर तथा तीन पैर होते है। उसकी दोनो ग्रीवाए अलग-अलग होती है। यो वह दो पक्षियो का समन्वित रूप लिये होता है। उसे अपनी जीवन-निर्वाह हेतु खानपान आदि क्रियाओ मे अत्यन्त प्रमादरहित या जागरूक रहना होता है।

वृषभ के समान धैर्यशील—सुस्थिर, सिंह के समान दुर्धर्ष— परिषहों, कष्टों से अपराजेय, पृथ्वी के समान सभी शीत, उष्ण, अनुकूल, प्रतिकूल स्पर्शों को समभाव से सहने में सक्षम तथा घृत द्वारा भली भाँति हुत—हवन की हुई अग्नि के समान तेज से जाज्वल्यमान—ज्ञान तथा तप के तेज से दीप्तिमान् थे।

२८—नत्थि ण तेसि णं भगवंताण कत्थइ पडिबधे भवइ। से य पडिबंधे चउव्विहे पण्णत्ते; तं जहा—दव्वओ, खेत्तओ, कालओ, भावओ। दव्वओ णं सचित्ताचित्तमीसिएसु दव्वेसु। खेत्तओ—गामे वा णयरे वा रण्णे वा खेत्ते वा खले वा घरे वा अगणे वा। कालओ—समए वा, आवलियाए वा, जाव (आणापाणुए वा थोवे वा लवे वा मुहुत्ते वा अहोरत्ते वा पक्खे वा मासे वा) अयणे वा, अण्णयरे वा दीहकालसजोगे। भावओ—कोहे वा माणे वा मायाए वा लोहे वा भए वा हासे वा। एव तेसि ण भवइ।

२८—उन पूजनीय साधुओं के किसी प्रकार का प्रतिबन्ध—रुकावट या आसक्ति का हेतु नहीं था।

प्रतिबन्ध चार प्रकार का कहा गया है—द्रव्य की अपेक्षा से, क्षेत्र की अपेक्षा से, काल की अपेक्षा से तथा भाव की अपेक्षा से।

द्रव्य की अपेक्षा से सचित्त अचित तथा मिश्रत द्रव्यों में, क्षेत्र की अपेक्षा से गाँव, नगर, खेत, खलिहान, घर तथा आँगन में, काल की अपेक्षा से समय[1] आवलि का,[2] (आनप्राण[3], थोव[4]—स्तोक, लव,[5] मुहूर्त,[6] दिन-रात, पक्ष, मास,) अयन—छह मास एव अन्य दीर्घकालिक सयोग में तथा भाव की अपेक्षा से क्रोध, अहकार, माया, लोभ, भय या हास्य में उनका कोई प्रतिबन्ध—आसक्ति भाव नहीं था।

२९—ते ण भगवतो वासावासवज्ज अट्ठ गिम्हहेमतियाणि मासाणि गामे एगराइया, णयरे पचराइया, वासीचदणसमाणकप्पा, समलेट्ठु-कचणा, समसुह-दुक्खा, इहलोग-परलोगअप्पडिबद्धा, संसारपारगामी, कम्मणिग्घायणट्ठाए अब्भुट्ठिया विहरति।

२९—वे साधु भगवान् वर्षावास—चातुर्मास्य के चार महीने छोड़कर ग्रीष्म तथा हेमन्त—शीतकाल—दोनों के आठ महीनों तक किसी गाँव में एक रात (दिवसक्रम से एक सप्ताह) तथा नगर में पाँच रात (पञ्चम सप्ताह में विहार अर्थात् उनतीस दिन) निवास करते थे।

चन्दन जैसे अपने को काटनेवाले वसूले को भी सुगधित बना देता है, उसी प्रकार वे (साधु) अपना अपकार करनेवाले का भी उपकार करने की वृत्ति रखते थे। अथवा अपने प्रति वसूले

---

१ समय—काल का अविभाज्य भाग।

२ आवलिका—असख्यात समय।

३ आनपान—आनप्राण—उच्छ्वास-नि श्वास का काल।

४ थोव—स्तोक—सात उच्छ्वास-नि.श्वास जितना काल।

५ लव—सात थोव जितना काल।

६ मुहूर्त—सतहत्तर लव जितना काल।

के समान क्रूर व्यवहार करनेवाले—अपकारी तथा चन्दन के समान सौम्य व्यवहार करनेवाले—उपकारी—दोनो के प्रति राग-द्वेष-रहित समान भाव लिये रहते थे। वे मिट्टी के ढेले और स्वर्ण को एक समान समझते थे। सुख और दुःख मे समान भाव रखते थे। वे ऐहिक तथा पारलौकिक आसक्ति से बधे हुए नही थे—अनासक्त थे। वे ससारपारगामी—नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव—चतुर्गतिरूप ससार के पार पहुँचने वाले—मोक्षाभिगामी तथा कर्मों का निर्घातन—नाश करने हेतु अभ्युत्थित—उठे हुए—प्रयत्नशील होते हुए विचरण करते थे।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र मे साधुओ के लिए ग्राम मे एकरात्रिक तथा नगर मे पञ्चरात्रिक प्रवास का उल्लेख हुआ है। जैसा कि वृत्तिकार ने सकेत किया है, वह प्रतिमाकल्पिको को उद्दिष्ट करके [1] है। साधारणत साधुओ के लिए मासकल्प विहार विहित है। यहाँ अनुवाद मे एकरात्रिक तथा पञ्चरात्रिक का जो अर्थ किया गया है, वह परम्परानुसृत है, सर्व-सामान्य विधान है।

तप का विवेचन

३०—तेसि ण भगवताणं एएणं विहारेणं विहरमाणाण इमे एयारूवे अब्भंतरबाहिरए तवोवहाणे होत्था। तंजहा—अब्भितरए छव्विहे, बाहिरए वि छव्विहे।

से किं तं बाहिरए? छव्विहे, पण्णत्ते। तं जहा—१ अणसणे २ ओमोयरिया ३ भिक्खायरिया ४ रसपरिच्चाए ५ कायकिलेसे ६ पडिसंलीणया।

से किं तं अणसणे? अणसणे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—१ इत्तरिए य २ आवकहिए य।

से किं तं इत्तरिए? अणेगविहे पण्णत्ते। तं जहा—१ चउत्थभत्ते २ छट्ठभत्ते ३ अट्ठमभत्ते ४ दसमभत्ते ५ बारसभत्ते ६ चउद्दसभत्ते ७ सोलसभत्ते ८ अद्धमासिए भत्ते ९ मासिए भत्ते १० दोमासिए भत्ते ११ तेमासिए भत्ते १२ चउमासिए भत्ते १३ पंचमासिए भत्ते १४ छम्मासिए भत्ते, से तं इत्तरिए।

से किं तं आवकहिए? आवकहिए दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—१ पाओवगमणे य २ भत्तपच्चक्खाणे य।

से किं त पाओवगमणे। पाओवगमणे। दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—१ वाघाइमे य २ निव्वाघाइमे य नियमा अप्पडिकम्मे। से तं पाओवगमणे।

से किं तं भत्तपच्चक्खाणे? भत्तपच्चक्खाणे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—१ वाघाइमे य २ निव्वाघाइमे य णियमा सपडिकम्मे। से तं भत्तपच्चक्खाणे, से तं अणसणे।

से किं तं ओमोयरियाओ? दुविहा पण्णत्ता। तं जहा—१ दव्वोमोयरिया य २ भावोमोयरिया य।

से किं त दव्वोमोयरिया? दुविहा पण्णत्ता। तं जहा—१ उवगरणदव्वोमोयरिया य २ भत्तपाणदव्वोमोयरिया य।

---

१ 'गामे एगराइय' त्ति एकरात्रो वासमानतया अस्ति येषा ते एकरात्रिका, एव नगरे पञ्चरात्रिका इति, एतच्च प्रतिमाकल्पिकानाश्रित्योक्तम्, अन्येषा मासकल्पविहारित्वादिति। —औपपातिक सूत्र वृत्ति, पत्र ३६

से किं तं उवगरणदव्वोमोयरिया ? उवगरणदव्वोमोयरिया तिविहा पण्णत्ता । तं जहा-१ एगे वत्थे २ एगे पाए ३ चियत्तोवकरणसाइज्जणया, से तं उवगरणदव्वोमोयरिया ।

से किं त भत्तपाणदव्वोमोयरिया ? भत्तपाणदव्वोमोयरिया अणेगविहा पण्णत्ता । त जहा—१ अट्ठकुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्ते कवले आहारमाणे अप्पाहारे, २ दुवालस कुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्ते कवले आहारमाणे अवड्ढोमोयरिया, ३ सोलस कुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्ते कवले आहारमाणे दुभागपत्तोमोयरिया, ४ चउवीसं कुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्ते कवले आहारमाणे पत्तोमोयरिया, ५ एक्कतीसं कुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्ते कवले आहारमाणे किंचूणोमोयरिया, ६ बत्तीसं कुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्ते कवले आहारमाणे पमाणपत्ता, ७ एत्तो एगेण वि घासेण ऊणयं आहारमाहारेमाणे समणे णिग्गंथे णो पकामरसभोइत्ति वत्तव्वं सिया । से तं भत्तपाणदव्वोमोयरिया, से त दव्वोमोयरिया ।

से किं तं भावोमोयरिया ? भावोमोयरिया अणेगविहा पण्णत्ता । तं जहा—अप्पकोहे, अप्पमाणे, अप्पमाए, अप्पलोहे, अप्पसद्दे, अप्पझंझे । से तं भावोमोयरिया, से तं ओमोयरिया ।

से किं तं भिक्खायरिया ? भिक्खायरिया अणेगविहा पण्णत्ता । तं जहा—१ दव्वाभिग्गहचरए, २ खेत्ताभिग्गहचरए, ३ कालाभिग्गहचरए, ४ भावाभिग्गहचरए, ५ उक्खित्तचरए, ६ णिक्खित्तचरए, ७ उक्खित्तणिक्खित्तचरए, ८ णिक्खित्तउक्खित्तचरए, ९ वट्टिज्जमाणचरए, १० साहरिज्जमाणचरए, ११ उवणीयचरए, १२ अवणीयचरए, १३ उवणीयअवणीयचरए, १४ अवणीयउवणीयचरए १५ ससट्ठचरए, १६ असंसट्ठचरए, १७ तज्जायसंसट्ठचरए, १८ अण्णायचरए, १९ मोणचरए, २० दिट्ठलाभिए, २१ अदिट्ठलाभिए, २२ पुट्ठलाभिए, २३ अपुट्ठलाभिए, २४ भिक्खालाभिए, २५ अभिक्खलाभिए, २६ अण्णगिलायए, २७ ओवणिहिए, २८ परिमियपिंडवाइए, २९ सुद्धेसणिए, ३० संखादत्तिए । से तं भिक्खायरिया ।

से किं तं रसपरिच्चाए ? रसपरिच्चाए अणेगविहे पण्णत्ते । त जहा—१ निव्वीइए, २ पणीयरसपरिच्चाए, ३ आयंबिलिए, ४ आयामसित्थभोई, ५ अरसाहारे, ६ विरसाहारे, ७ अंताहारे, ८ पंताहारे, ९ लूहाहारे, से तं रसपरिच्चाए ।

से किं तं कायकिलेसे ? कायकिलेसे अणेगविहे पण्णत्ते । तं जहा—१ ठाणट्ठिइए, २ उक्कुडुयासणिए, ३ पडिमट्ठाई, ४ वीरासणिए, ५ नेसज्जिए, ६ आयावए, ७ अवाउडए, ८ अकंडुयए, ९ अणिट्ठुहए, १० सव्वगायपरिकम्मविभूसविप्पमुक्के, से त कायकिलेसे ।

से किं तं पडिसंलीणया ? पडिसंलीणया चउव्विहा पण्णत्ता । तं जहा—१ इंदियपडिसंलीणया, २ कसायपडिसंलीणया, ३ जोगपडिसंलीणया, ४ विवित्तसयणासणसेवणया । से किं तं इंदियपडिसंलीणया ? इंदियपडिसंलीणया पंचविहा पण्णत्ता । तं जहा—१ सोइंदियविसयप्पयारनिरोहो वा, सोइंदियविसयपत्तेसु अत्थेसु रागदोसनिग्गहो वा, २ चक्खिदियविसयप्पयारनिरोहो वा, चक्खिदियविसयपत्तेसु अत्थेसु रागदोसनिग्गहो वा, ३ घाणिंदियविसयप्पयारनिरोहो वा, घाणिंदियविसयपत्तेसु अत्थेसु रागदोसनिग्गहो वा, ४ जिब्भिदियविसयप्पयारनिरोहो वा, जिब्भिदियविसयपत्तेसु अत्थेसु रागदोसनिग्गहो वा, ५ फासिंदियविसयप्पयारनिरोहो वा, फासिंदियविसयपत्तेसु अत्थेसु रागदोसनिग्गहो वा, से तं इंदियपडिसंलीणया ।

से किं तं कसायपडिसंलीणया ? कसायपडिसंलीणया चउव्विहा पण्णत्ता । तं जहा—१ कोहस्सुदयनिरोहो वा, उदयपत्तस्स वा कोहस्स विफलीकरणं, २ माणस्सुदयनिरोहो वा उदयपत्तस्स वा माणस्स विफलीकरणं, ३ मायाउदयणिरोहो वा, उदयपत्तस्स वा मायाए विफलीकरणं, ४ लोहस्सुदयणिरोहो वा उदयपत्तस्स वा लोहस्स विफलीकरणं, से तं कसायपडिसंलीणया ।

से किं तं जोगपडिसंलीणया ? जोगपडिसंलीणया तिविहा पण्णत्ता । तं जहा—१ मणजोगपडिसंलीणया, २ वयजोगपडिसंलीणया, ३ कायजोगपडिसंलीणया ।

से किं तं मणजोगपडिसंलीणया ? १ अकुसलमणणिरोहो वा २ कुसलमणउदीरणं वा, से तं मणजोगपडिसंलीणया । से किं तं वयजोगपडिसंलीणया ? १ अकुसलवयणिरोहो वा २ कुसलवयउदीरणं वा, से तं वयजोगपडिसंलीणया । से किं तं कायजोगपडिसंलीणया ? कायजोगपडिसंलीणया जं णं सुसमाहियपाणिपाए कुम्मो इव गुत्तिंदिए सव्वगायपडिसंलीणे चिट्ठइ, से तं कायजोगपडिसंलीणया ।

से किं तं विवित्तसयणासणसेवणया ? विवित्तसयणासणसेवणया जं णं आरामेसु, उज्जाणेसु, देवकुलेसु, सहासु, पवासु, पणियगिहेसु, पणियसालासु, इत्थीपसुपंडगसंसत्तविरहियासु वसहीसु फासुएसणिज्जं पीढ-फलग-सेज्जा-संथारगं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ । से तं पडिसंलीणया, से तं बाहिरए तवे ।

से किं तं अब्भिंतरए तवे ? अब्भिंतरए छव्विहे पण्णत्ते । तं जहा—१ पायच्छित्तं, २ विणए, ३ वेयावच्चं, ४ सज्झाओ, ५ झाणं, ६ विउस्सग्गो ।

से किं तं पायच्छित्ते ? २ दसविहे पण्णत्ते । तं जहा—१ आलोयणारिहे २ पडिक्कमणारिहे ३ तदुभयारिहे ४ विवेगारिहे ५ विउस्सग्गारिहे ६ तवारिहे ७ छेदारिहे ८ मूलारिहे ९ अणवट्ठप्पारिहे १० पारंचियारिहे, से तं पायच्छित्ते ।

से किं तं विणए ? विणए सत्तविहे पण्णत्ते । तं जहा—१ णाणविणए २ दंसणविणए ३ चरित्तविणए ४ मणविणए ५ वइविणए ६ कायविणए ७ लोगोवयारविणए ।

से किं तं णाणविणए ? पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा—१ आभिणिबोहियणाणविणए २ सुयणाणविणए ३ ओहिणाणविणए ४ मणपज्जवणाणविणए ५ केवलणाणविणए ।

से किं तं दंसणविणए ? दुविहे पण्णत्ते । तं जहा—१ सुस्सूसणाविणए २ अणच्चासायणाविणए ।

से किं तं सुस्सूसणाविणए ? सुस्सूसणाविणए अणेगविहे पण्णत्ते । तं जहा—१ अब्भुट्ठाणे इ वा, २ आसणाभिग्गहे इ वा, ३ आसणप्पदाणे इ वा, ४ सक्कारे इ वा, ५ सम्माणे इ वा, ६ किइकम्मे इ वा, ७ अंजलिप्पग्गहे इ वा, ८ एतस्स अणुगच्छणया, ९ ठियस्स पज्जुवासणया, १० गच्छंतस्स पडिसंसाहणया, से तं सुस्सूसणाविणए ।

से किं तं अणच्चासायणाविणए ? अणच्चासायणाविणए पणयालीसविहे पण्णत्ते । तं जहा—१ अरहंताणं अणच्चासायणया २ अरहंतपण्णत्तस्स धम्मस्स अणच्चासायणया ३ आयरियाणं अणच्चासायणया एवं ४ उवज्झायाणं ५ थेराणं ६ कुलस्स ७ गणस्स ८ संघस्स ९ किरियाणं १० संभोगस्स

११ आभिणिबोहियणाणस्स १२ सुयणाणस्स १३ ओहिणाणस्स १४ मणपज्जवणाणस्स १५ केवलणाणस्स १६-३० एएसिं चेव भत्तिबहुमाणे, ३१-४५ एएसिं चेव वण्णसंजलणया, से तं अणच्चासायणाविणए।

से किं तं चरित्तविणए ? चरित्तविणए पंचविहे पण्णत्ते। तं जहा—१ सामाइयचरित्तविणए, २ छेदोवट्ठावणियचरित्तविणए, ३ परिहारविसुद्धिचरित्तविणए, ४ सुहुमसंपरायचरित्तविणए, ५ अहक्खायचरित्तविणए, से तं चरित्तविणए।

से किं तं मणविणए ? मणविणए दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—१ पसत्थमणविणए, २ अपसत्थमणविणए।

से किं तं अपसत्थमणविणए ? अपसत्थमणविणए जे य मणे १ सावज्जे, २ सकिरिए, ३ सकक्कसे, ४ कडुए, ५ णिट्ठुरे, ६ फरुसे, ७ अण्हयकरे, ८ छेयकरे, ९ भेयकरे, १० परितावणकरे, ११ उद्दवणकरे, १२ भूओवघाइए, तहप्पगारं मणो णो पहारेज्जा, से तं अपसत्थमणोविणए।

से किं तं पसत्थमणोविणए ? पसत्थमणोविणए तं चेव पसत्थं णेयव्वं। एवं चेव वइविणओवि एएहिं पएहिं चेव णेयव्वो, से तं वइविणए।

से किं तं कायविणए ? कायविणए दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—१ पसत्थकायविणए २ अपसत्थकायविणए।

से किं तं अपसत्थकायविणए ? अपसत्थकायविणए सत्तविहे पण्णत्ते। तं जहा—१ अणाउत्तं गमणे, २ अणाउत्तं ठाणे, ३ अणाउत्तं निसीदणे, ४ अणाउत्तं तुयट्टणे, ५ अणाउत्तं उल्लंघणे, ६ अणाउत्तं पलंघणे, ७ अणाउत्तं सव्विंदियकायजोगजुंजणया, से तं अपसत्थकायविणए।

से किं तं पसत्थकायविणए ? पसत्थकायविणए एवं चेव पसत्थं भाणियव्वं। से तं पसत्थकायविणए, से तं कायविणए।

से किं तं लोगोवयारविणए ? लोगोवयारविणए सत्तविहे पण्णत्ते। तं जहा—१ अब्भासवत्तियं, २ परच्छंदाणुवत्तियं, ३ कज्जहेउं, ४ कयपडिकिरिया, ५ अत्तगवेसणया, ६ देसकालण्णुया, ७ सव्वट्ठेसु अप्पडिलोमया, से तं लोगोवयारविणए, से तं विणए।

से किं तं वेयावच्चे ? वेयावच्चे दसविहे पण्णत्ते। तं जहा—१ आयरियवेयावच्चे, २ उवज्झायवेयावच्चे, ३ सेहवेयावच्चे, ४ गिलाणवेयावच्चे, ५ तवस्सिवेयावच्चे, ६ थेरवेयावच्चे, ७ साहम्मियवेयावच्चे, ८ कुलवेयावच्चे, ९ गणवेयावच्चे, १० संघवेयावच्चे, से तं वेयावच्चे।

से किं तं सज्झाए ? सज्झाए पंचविहे पण्णत्ते। तं जहा—१ वायणा २ पडिपुच्छणा ३ परियट्टणा ४ अणुप्पेहा ५ धम्मकहा, से तं सज्झाए।

से किं तं झाणे ? झाणे चउव्विहे पण्णत्ते। तं जहा—१ अट्टज्झाणे २ रुद्दज्झाणे ३ धम्मज्झाणे ४ सुक्कज्झाणे।

अट्टज्झाणे चउव्विहे पण्णत्ते। तं जहा—१ अमणुण्णसंपओगसंपउत्ते तस्स विप्पओगसतिसमण्णागए यावि भवइ, २ मणुण्णसंपओगसंपउत्ते तस्स अविप्पओगसतिसमण्णागए यावि भवइ, ३ आयंकसंपओगसंपउत्ते तस्स विप्पओगसतिसमण्णागए यावि भवइ, ४ परिजूसियकामभोगसंपओगसंपउत्ते तस्स अविप्पओगसतिसमण्णागए यावि भवइ।

अट्टस्स णं झाणस्स चत्तारि लक्खणा पण्णत्ता। तं जहा—१ कंदणया, २ सोयणया, ३ तिप्पणया, ४ विलवणया।

रुद्दज्झाणे चउव्विहे पण्णत्ते। तं जहा—१ हिंसाणुबंधी, २ मोसाणुबंधी, ३ तेणाणुबंधी, ४ सारक्खणाणुबंधी।

रुद्दस्स णं झाणस्स चत्तारि लक्खणा पण्णत्ता। तं जहा—१ उसण्णदोसे, २ बहुदोसे, ३ अण्णाणदोसे, ४ आमरणंतदोसे।

धम्मज्झाणे चउव्विहे चउप्पडोयारे पण्णत्ते। तं जहा—१ आणाविजए, २ अवायविजए, ३ विवागविजए, ४ संठाणविजए।

धम्मस्स णं झाणस्स चत्तारि लक्खणा पण्णत्ता। तं जहा—१ आणारुई, २ णिसग्गरुई, ३ उवएसरुई, ४ सुत्तरुई।

धम्मस्स णं झाणस्स चत्तारि आलंबणा पण्णत्ता। तं जहा—१ वायणा, २ पुच्छणा, ३ परियट्टणा, ४ धम्मकहा।

धम्मस्स णं झाणस्स चत्तारि अणुप्पेहाओ पण्णत्ताओ। तं जहा—अणिच्चाणुप्पेहा, २ असरणाणुप्पेहा, ३ एगत्ताणुप्पेहा, ४ संसाराणुप्पेहा।

सुक्कज्झाणे चउव्विहे चउप्पडोयारे पण्णत्ते। तं जहा—१ पुहुत्तवियक्के सवियारी, २ एगत्तवियक्के अवियारी, ३ सुहुमकिरिए अप्पडिवाई, ४ समुच्छिन्नकिरिए अणियट्टी।

सुक्कस्स णं झाणस्स चत्तारि लक्खणा पण्णत्ता। तं जहा—१ विवेगे, २ विउस्सग्गे, ३ अव्वहे, ४ असम्मोहे।

सुक्कस्स णं झाणस्स चत्तारि आलंबणा पण्णत्ता। तं जहा—१ खंती, २ मुत्ती, ३ अज्जवे, ४ मद्दवे।

सुक्कस्स झाणस्स चत्तारि अणुप्पेहाओ पण्णत्ताओ। तं जहा—१ अवायाणुप्पेहा, २ असुभाणुप्पेहा, ३ अणंतवत्तियाणुप्पेहा, ४ विपरिणामाणुप्पेहा, से तं झाणे।

से किं तं विउस्सग्गे? विउस्सग्गे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—१ दव्वविउस्सग्गे, २ भावविउस्सग्गे य।

से किं तं दव्वविउस्सग्गे? दव्वविउस्सग्गे चउव्विहे पण्णत्ते। तं जहा—१ सरीरविउस्सग्गे, २ गणविउस्सग्गे, ३ उवहिविउस्सग्गे, ४ भत्तपाणविउस्सग्गे, से तं दव्वविउस्सग्गे।

से किं तं भावविउस्सग्गे? भावविउस्सग्गे तिविहे पण्णत्ते। तं जहा—१ कसायविउस्सग्गे, २ संसारविउस्सग्गे, ३ कम्मविउस्सग्गे।

से किं तं कसायविउस्सग्गे? कसायविउस्सग्गे चउव्विहे पण्णत्ते। तं जहा—१ कोहकसायविउस्सग्गे, २ माणकसायविउस्सग्गे, ३ मायाकसायविउस्सग्गे, ४ लोहकसायविउस्सग्गे, से तं कसायविउस्सग्गे।

से किं तं संसारविउस्सग्गे ? संसारविउस्सग्गे चउव्विहे पण्णत्ते । तं जहा—१ णेरइयसंसार-विउस्सग्गे, २ तिरियसंसारविउस्सग्गे, ३ मणुयसंसारविउस्सग्गे, ४ देवसंसारविउस्सग्गे, से तं संसार-विउस्सग्गे ।

से किं तं कम्मविउस्सग्गे ? कम्मविउस्सग्गे अट्ठविहे पण्णत्ते । तं जहा—१ णाणावरणिज्ज-कम्मविउस्सग्गे २ दरिसणावरणिज्जकम्मविउस्सग्गे १ वेयणिज्जकम्मविउस्सग्गे २ मोहणिज्ज-कम्मविउस्सग्गे ३ आउयकम्मविउस्सग्गे ४ णामकम्मविउस्सग्गे ५ गोयकम्मविउस्सग्गे ६ अंतरायकम्म-विउस्सग्गे । से तं कम्मविउस्सग्गे, से तं भावविउस्सग्गे ।

३०—इस प्रकार विहरणशील वे श्रमण भगवान् आभ्यन्तर तथा बाह्य तपमूलक आचार का अनुसरण करते थे । आभ्यन्तर तप छह प्रकार का है तथा बाह्य तप भी छह प्रकार का है ।

बाह्य तप क्या है ? —वे कौन-कौन से हैं ? बाह्य तप छह प्रकार के हैं—

१ अनशन—आहार नहीं करना, २ अवमोदरिका—भूख से कम खाना या द्रव्यात्मक, भावात्मक साधनों को कम उपयोग में लेना, ३. भिक्षाचर्या—भिक्षा से प्राप्त संयत जीवनोपयोगी आहार, वस्त्र, पात्र, औषध आदि वस्तुएं ग्रहण करना अथवा वृत्तिसंक्षेप—आजीविका के साधनों का संक्षेप करना, उन्हें घटाना, ४ रस-परित्याग—सरस पदार्थों को छोड़ना या रसास्वाद से विमुख होना, ५ काय-क्लेश—इन्द्रिय-दमन या सुकुमारता, सुविधाप्रियता, आरामतलबी छोड़ने हेतु तदनुरूप कष्टमय अनुष्ठान स्वीकार करना, ६ प्रतिसंलीनता—आभ्यन्तर तथा बाह्य चेष्टाएं संवृत करने हेतु तदुपयोगी बाह्य उपाय अपनाना ।

अनशन क्या है—वह कितने प्रकार का है ? अनशन दो प्रकार का है १ इत्वरिक—मर्यादित समय के लिए आहार का त्याग । २ यावत्कथिक—जीवनभर के लिए आहार-त्याग ।

इत्वरिक क्या है—वह कितने प्रकार का है ? इत्वरिक अनेक प्रकार का बतलाया गया है, जैसे—चतुर्थ भक्त—एक दिन-रात के लिए आहार का त्याग—उपवास, षष्ठ भक्त—दो दिन-रात के लिए आहार-त्याग, निरन्तर दो उपवास—बेला, अष्टम भक्त—तीन उपवास—तेला, दशम भक्त—चार दिन के उपवास, द्वादश भक्त पाँच दिन के उपवास, चतुर्दश भक्त—छह दिन के उपवास षोडश भक्त—सात दिन के उपवास, अर्द्धमासिक भक्त—आधे महीने या पन्द्रह दिन के उपवास, मासिक भक्त—एक महीने के उपवास, द्वैमासिक भक्त—दो महीनों के उपवास, त्रैमासिक भक्त—तीन महीनों के उपवास, चातुर्मासिक भक्त—चार महीनों के उपवास, पाञ्चमासिक भक्त—पाँच महीनों के उपवास, षाण्मासिक भक्त—छह महीनों के उपवास ।

यह इत्वरिक तप का विस्तार है ।

यावत्कथिक क्या है—उसके कितने प्रकार हैं ? यावत्कथिक के दो प्रकार हैं—१ पादपोप-गमन—कटे हुए वृक्ष की तरह स्थिर-शरीर रहते हुए आजीवन आहार-त्याग २ भक्तपानप्रत्याख्यान—जीवनपर्यन्त आहार-त्याग ।

पादपोपगमन क्या है—उसके कितने भेद हैं ? पादपोपगमन के दो भेद हैं—१ व्याघातिम—व्याघातवत् या विघ्नयुक्त—सिंह आदि प्राणघातक प्राणी या दावानल आदि उपद्रव उपस्थित हो जाने पर जीवन भर के लिए आहार-त्याग, २ निर्व्याघातिम—निर्व्याघातवत्—विघ्नरहित—सिंह, दावानल

आदि से सम्बद्ध उपद्रव न होने पर भी मृत्युकाल समीप जानकर अपनी इच्छा से जीवन भर के लिए आहार त्याग।

इस (अनशन) से प्रतिकर्म—शरीर संस्कार, हलन-चलन आदि क्रिया-प्रक्रिया का त्याग रहता है।

इस प्रकार पादोपगमन यावत्कथिक अनशन होता है।

भक्तप्रत्याख्यान क्या है—उसके कितने भेद हैं ? भक्तप्रत्याख्यान के दो भेद बतलाये गये हैं—१. व्याघातिम, २ निर्व्याघातिम।

भक्तप्रत्याख्यान अनशन मे प्रतिकर्म नियमत: होता है।

यह भक्तप्रत्याख्यान अनशन का विवेचन है।

अवमोदरिका क्या है—उसके कितने भेद है ? अवमोदरिका के दो भेद बतलाये गये है- १ द्रव्य-अवमोदरिका—खान-पान आदि से सम्बद्ध पदार्थों का पेट भरकर उपयोग नही करना, भूख से कम खाना। २ भाव-अवमोदरिका—आत्मप्रतिकूल या आवेशमय भावो का चिन्तन-विचार मे उपयोग न करना।

द्रव्य-अवमोदरिका क्या है—उसके कितने भेद है ? द्रव्य-अवमोदरिका के दो भेद बतलाये गये हैं—१ उपकरण-द्रव्य-अवमोदरिका—वस्त्र आदि देहोपयोगी सामग्री का कम उपयोग करना। २. भक्तपान-अवमोदरिका—खाद्य, पेय पदार्थों का कम मात्रा मे उपयोग करना, भूख मे कम सेवन करना।

उपकरण-द्रव्य-अवमोदरिका क्या है—उसके कितने भेद हैं ? उपकरण-द्रव्य-अवमोदरिका के तीन भेद बतलाये गये हैं—१ एक पात्र रखना, २. एक वस्त्र रखना, ३ एक मनोनुकूल निर्दोष उपकरण रखना। यह उपकरण-द्रव्य-अवमोदरिका है।

भक्तपान-द्रव्य-अवमोदरिका क्या है—उसके कितने भेद हैं ? भक्तपान-द्रव्य-अवमोदरिका के अनेक भेद बतलाये गये हैं, जो इस प्रकार हैं—

मुर्गी के अडे के परिमाण के केवल आठ ग्रास भोजन करना अल्पाहार-अवमोदरिका है।

मुर्गी के अडे के परिमाण के १२ ग्रास भोजन करना अपार्ध—अर्ध से अधिक अवमोदरिका है।

मुर्गी के अडे के परिमाण के सोलह ग्रास भोजन करना द्विभागप्राप्त या अर्ध अवमोदरिका है।

मुर्गी के अडे के परिमाण के चौबीस ग्रास भोजन करना—चौथाई अवमोदरिका है।

मुर्गी के अडे के परिमाण के इकतीस ग्रास भोजन करना किञ्चित् न्यून—कुछ कम अवमोदरिका है।

मुर्गी के अडे के परिमाण के बत्तीस ग्रास भोजन करने वाला प्रमाणप्राप्त—पूर्ण आहार करने वाला है। अर्थात् बत्तीस ग्रास भोजन परिपूर्ण आहार है। इससे एक ग्रास भी कम आहार करने वाला श्रमण-निर्ग्रन्थ अधिक आहार करने वाला कहे जाने योग्य नही है।

भाव-अवमोदरिका क्या है—कितने प्रकार की है ? भाव-अवमोदरिका अनेक प्रकार की बतलाई गई है, जैसे—क्रोध, मान (अहंकार), माया (प्रवञ्चना, छलना) और लोभ का त्याग (अभाव) अल्पशब्द—क्रोध आदि के आवेश मे होनेवाली शब्द-प्रवृत्ति का त्याग, अल्पझंझ—कलहोत्पादक वचन आदि का त्याग।

यहा 'अल्प' शब्द का प्रयोग निषेध या अभाव के अर्थ मे है, जिसका तात्पर्य यह है कि क्रोध आदि का उदय तो होता है पर साधक आत्मबल द्वारा उसे टाल देता है, उभार मे नही आने देता अथवा तदुत्पादक निमित्तो से स्वय हट जाता है।

भिक्षाचर्या क्या है—उसके कितने भेद हैं ? भिक्षाचर्या अनेक प्रकार की बतलाई गई है, जैसे—१. द्रव्याभिग्रहचर्या—खाने-पीने आदि से सम्बद्ध वस्तुओ के विषय मे विशेष प्रतिज्ञा—अमुक वस्तु अमुक स्थिति मे मिले तो ग्रहण करना—इस प्रकार भिक्षा के सन्दर्भ मे विशेष अभिग्रह स्वीकार करना, २ क्षेत्राभिग्रह-चर्या—ग्राम, नगर, स्थान आदि से सम्बद्ध प्रतिज्ञा स्वीकार करना, ३ कालाभिग्रहचर्या—प्रथम पहर, दूसरा पहर आदि समय से सम्बद्ध प्रतिज्ञा स्वीकार करना, ४ भावाभिग्रहचर्या—हास, गान, विनोद, वार्ता आदि मे सलग्न स्त्री-पुरुष आदि से सम्बद्ध अभिग्रह—प्रतिज्ञा स्वीकार करना, ५ उत्क्षिप्तचर्या—भोजन पकाने के बर्तन से गृहस्थ द्वारा अपने प्रयोजन हेतु निकाला हुआ आहार लेने का अभिग्रह—प्रतिज्ञा लिये रहना, ६ निक्षिप्तचर्या—भोजन पकाने के बर्तन से नही निकाला हुआ आहार ग्रहण करने की प्रतिज्ञा करना, ७ उक्षिप्त-निक्षिप्त-चर्या—भोजन पकाने के बर्तन से निकाल कर उसी जगह या दूसरी जगह रखा हुआ आहार अथवा अपने प्रयोजन से निकाला हुआ या नही निकाला हुआ—दोनो प्रकार का आहार ग्रहण करने की प्रतिज्ञा स्वीकार करना ८ निक्षिप्त-उक्षिप्तचर्या—भोजन पकाने के बर्तन मे से निकाल कर अन्यत्र रखा हुआ, फिर उसी मे से उठाया हुआ आहार ग्रहण करने की प्रतिज्ञा स्वीकार करना, ९ वर्तिष्यमाण-चर्या—खाने हेतु परोसे हुए भोजन मे से भिक्षा ग्रहण करने की प्रतिज्ञा लिए रहना, १० संह्रियमाणचर्या—जो भोजन ठडा करने के लिए पात्र आदि मे फैलाया गया हो, फिर समेट कर पात्र आदि मे डाला जा रहा हो, ऐसे (भोजन) मे मे आहार लेने की प्रतिज्ञा करना, ११ उपनीतचर्या—किसी के द्वारा किसी के लिए उपहार रूप मे भेजी गई भोजनसामग्री मे से भिक्षा ग्रहण करने की प्रतिज्ञा लेना, १२ अपनीतचर्या—किसी को दी जाने वाली भोज्य-सामग्री मे से निकालकर अन्यत्र रखी सामग्री मे से भिक्षा ग्रहण करने की प्रतिज्ञा स्वीकार किये रहना, १३ उपनीतापनीतचर्या—स्थानान्तरित की हुई भोजनोपहार-सामग्री मे से आहार लेने की प्रतिज्ञा स्वीकार करना अथवा दाता द्वारा पहले किसी अपेक्षा से गुण तथा बाद मे किसी अपेक्षा से अवगुण-कथन के साथ दी जाने वाली भिक्षा स्वीकार करने की प्रतिज्ञा लेना, १४ अपनीतोपनीत-चर्या—किसी के लिए उपहार रूप मे भेजने हेतु पृथक् रखी हुई भोजन-सामग्री मे से भिक्षा लेने की प्रतिज्ञा स्वीकार करना अथवा दाता द्वारा पहले किसी अपेक्षा से अवगुण तथा बाद मे किसी अपेक्षा से गुण कथन के साथ दी जाने वाली भिक्षा स्वीकार करने की प्रतिज्ञा लेना, १५ ससृष्ट-चर्या—लिप्त हाथ आदि से दी जाने वाली भिक्षा लेने की प्रतिज्ञा रखना, १६. असंसृष्ट-चर्या—अलिप्त या स्वच्छ हाथ आदि से दी जाने वाली भिक्षा स्वीकार करने की प्रतिज्ञा रखना, १७ तज्जातसंसृष्ट-चर्या—दिये जाने वाले पदार्थ से सभृत—लिप्त हाथ आदि से दिया जाता आहार स्वीकार करने की प्रतिज्ञा रखना, १८ अज्ञात-चर्या—अपने को अज्ञात-अपरिचित रखकर निरवद्य भिक्षा ग्रहण करने की प्रतिज्ञा करना, १९ मौन-चर्या—स्वय मौन रहते हुए

भिक्षा ग्रहण करने की प्रतिज्ञा लेना, २० दृष्ट-लाभ—दिखाई देता या देखा हुआ आहार लेने की प्रतिज्ञा स्वीकार करना अथवा पूर्व काल मे देखे हुए दाता के हाथ से भिक्षा ग्रहण करने की प्रतिज्ञा स्वीकार करना, २१. अदृष्ट-लाभ—पहले नही देखा हुआ आहार अथवा पूर्व काल मे नही देखे हुए दाता द्वारा दिया जाता आहार ग्रहण करने की प्रतिज्ञा लेना, २२ पृष्ट-लाभ—पूछकर—भिक्षो ! आपको क्या दें, यो पूछकर दिया जाने वाला आहार ग्रहण करने की प्रतिज्ञा लेना, २३ अपृष्ट-लाभ— यो पूछे बिना दिया जाने वाला आहार ग्रहण करने की प्रतिज्ञा स्वीकार करना, २४ भिक्षा-लाभ—भिक्षा के सदृश—भिक्षा मागकर लाये हुए जैसा तुच्छ आहार ग्रहण करने की प्रतिज्ञा स्वीकार करना, अथवा दाता जो भिक्षा मे या मागकर लाया हो, उसमे से या उस द्वारा तैयार किये हुए भोजन मे से आहार लेने की प्रतिज्ञा स्वीकार करना, २५ अभिक्षा-लाभ—भिक्षा-लाभ से विपरीत आहार लेने की प्रतिज्ञा लिए रहना, २६ अन्न-ग्लायक—रात का ठडा, बासी आहार लेने की प्रतिज्ञा रखना, २७ उपनिहित—भोजन करते हुए गृहस्थ के निकट रखे हुए आहार मे से भिक्षा लेने की प्रतिज्ञा करना, २८ परिमितपिण्डपातिक—परिमित या सीमित—अल्प आहार लेने की प्रतिज्ञा करना, २९ शुद्धैषणिक—शका आदि दोष वर्जित अथवा व्यञ्जन आदि रहित शुद्ध आहार ग्रहण करने की प्रतिज्ञा स्वीकार करना तथा ३० सख्यादत्तिक—पात्र मे आहार-क्षेपण की साख्यिक मर्यादा के अनुकूल भिक्षा लेने की प्रतिज्ञा करना अथवा कडछी, कटोरी आदि पात्र मे डाली जाती भिक्षा की अविच्छिन्न धारा की मर्यादा के अनुसार भिक्षा स्वीकार करने की प्रतिज्ञा लेना।

यह भिक्षाचर्या का विस्तार है।

भगवान् महावीर के श्रमण यो विविध रूप मे बाह्य तप के अनुष्ठान मे सलग्न थे।

रसपरित्याग क्या है—वह कितने प्रकार का है ? रस-परित्याग अनेक प्रकार का बतलाया गया है, जैसे—१ निर्विकृतिक—घृत, तैल, दूध, दही तथा गुड-शक्कर (चीनी) से रहित आहार करना, २ प्रणीतरसपरित्याग—जिससे घृत, दूध, चासनी आदि की बूँदे टपकती हो, ऐसे आहार का त्याग करना, ३ आयबिल (आचामाम्ल) रोटी आदि एक ही रूखा-सूखा पदार्थ या भुना हुआ अन्न अचित्त पानी मे भिगोकर दिन में एक ही बार खाना, ४ आयामसिक्थभोजी—ओसामन तथा उसमे स्थित अन्न-कण, सीथ मात्र का आहार करना, ५ अरसाहार—रसरहित अथवा हीग, जीरा आदि से बिना छौका हुआ आहार करना, ६ विरसाहार—बहुत पुराने अन्न से, जो स्वभावत रस या स्वाद रहित हो गया हो, बना हुआ आहार करना, ७ अन्ताहार—अत्यन्त हलकी किस्म (जाति) के अन्न से बना हुआ आहार करना, ८ प्रान्ताहार—बहुत हलकी किस्म के अन्न से बना हुआ तथा भोजन कर लेने के बाद बचा-खुचा आहार लेना, ९ रूक्षाहार—रूखा-सूखा आहार करना।

यह रस-परित्याग का विश्लेषण है।

भगवान् महावीर के श्रमण यो विविध रूप मे रस-परित्याग के अभ्यासी थे।

काय-क्लेश क्या है—उसके कितने प्रकार हैं ? काय-क्लेश अनेक प्रकार का कहा गया है, जैसे—१ स्थानस्थितिक—एक ही तरह से खडे या एक ही आसन से बैठे रहना, २. उत्कुटुकासनिक—उकड़ू आसन से बैठना—पुट्ठो को भूमि पर न टिकाते हुए केवल पांवो के बल पर बैठने की स्थिति मे स्थिर रहना, साथ ही दोनो हाथो की अजलि बाँधे रखना, ३ प्रतिमास्थायी—मासिक आदि

द्वादश प्रतिमाएँ स्वीकार करना, ४ वीरासनिक—वीरासन मे स्थित रहना—पृथ्वी पर पैर टिकाकर सिंहासन के सदृश बैठने की स्थिति मे रहना, उदाहरणार्थ जैसे कोई पुरुष सिंहासन पर बैठा हुआ हो, उसके नीचे से सिंहासन निकाल लेने पर भी वह वैसी ही स्थिति मे स्थिर रहे, उस मे स्थित रहना, ५ नैषधिक—पुट्ठे टिकाकर या पलाथी लगाकर बैठना, ६. आतापक—सूर्य (धूप) आदि की आतापना लेना, ७. अप्रावृतक—देह को कपडे आदि से नही ढँकना, ८ अकण्डूयक—खुजली चलने पर भी देह को नही खुजलाना, ९. अनिष्ठीवक—थूक आने पर भी नही थूकना तथा १० सर्व-गात्र—परिकर्म विभूषा-विप्रमुक्त—देह के सभी सस्कार, सज्जा, विभूषा आदि से मुक्त रहना।

यह काय-क्लेश का विस्तार है। भगवान् महावीर के श्रमण उक्त रूप मे काय-क्लेश तप का अनुष्ठान करते थे।

विवेचन—काय-क्लेश के अन्तर्गत कही कही नैषधिक (नेसज्जिए) के पश्चात् दण्डायतिक (दडायइए) तथा लकुटशायी (लउडसाई) पद और प्राप्त होते है। दण्डायतिक का अर्थ दण्ड की तरह सीधा लम्बा होकर स्थित रहना है। लकुटशायी का अर्थ लकुट—वक्र काष्ठ या टेढे लक्कड की तरह सोना, स्थित रहना है, अर्थात् मस्तक को तथा दोनो पैरो की एडियो को जमीन पर टिकाकर, देह के मध्य भाग को ऊपर उठाकर सोना, स्थित होना लकुटशयन है। ऐसा करने से देह वक्र काष्ठ की तरह टेढी हो जाती है।

इस तप को सम्भवत काय-क्लेश नाम इसलिए दिया गया कि बाह्य दृष्टि से देखने पर यह क्लेशकर प्रतीत होता है, जन-साधारण के लिए ऐसा है भी पर आत्मरत साधक, जो शरीर को अपना नही मानता, जो प्रतिक्षण आत्माभिरुचि, आत्मपरिष्कार एव आत्ममार्जन मे तत्पर रहता है, ऐसा करने मे देह-परिताप के बावजूद कष्ट नही मानता, उसके परिणामो मे इतनी तीव्र आत्मोन्मुखता तथा दृढता होती है। यदि उसे क्लेशात्मक अनुभूति हो तो फिर वह उपक्रम तप नही रहता, देह के साथ हठ हो जाता है। आत्मानुभूति-शून्य हठयोग से विशेष लाभ नही होता।

प्रतिसलीनता

प्रतिसलीनता क्या है—वह कितने प्रकार की है? प्रतिसलीनता चार प्रकार की बतलाई गई है—१ इन्द्रिय-प्रतिसलीनता—इन्द्रियो की चेष्टाओ का निरोध, गोपन, २ कषाय-प्रतिसलीनता—क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकारो या आवेगो का निरोध, गोपन, ३ योग प्रति-सलीनता—कायिक, वाचिक तथा मानसिक प्रवृत्तियो को रोकना, ४ विविक्त-शयनासन-सेवनता—एकान्त स्थान मे निवास करना।

इन्द्रिय-प्रतिसलीनता—इन्द्रिय-प्रतिसलीनता क्या है—वह कितने प्रकार की है? इन्द्रिय-प्रतिसलीनता पाच प्रकार की बतलाई गई है, जो इस प्रकार है—१ श्रोत्रेन्द्रिय-विषय-प्रचार-निरोध—कानो के विषय—शब्द मे प्रवृत्ति का निरोध—शब्दो को न सुनना अथवा श्रोत्रेन्द्रिय को शब्दरूप मे प्राप्त प्रिय-अप्रिय, अनुकूल-प्रतिकूल विषयो मे राग-द्वेष के सचार को रोकना, उस ओर से उदासीन रहना, २ चक्षुरिन्द्रिय-विषय-प्रचार-निरोध—नेत्रो के विषय-रूप मे प्रवृत्ति को रोकना—रूप नही देखना अथवा अनायास दृष्ट प्रिय-अप्रिय, सुन्दर-असुन्दर रूपात्मक विषयो मे राग द्वेष के सचार को रोकना, उस ओर से उदासीन रहना, ३ घ्राणेन्द्रिय-विषय-प्रचार-निरोध—नासिका के विषय—गन्ध

मे प्रवृत्ति को रोकना अथवा घ्राणेन्द्रिय को प्राप्त सुगन्ध-दुर्गन्धात्मक विषयो मे राग-द्वेष के संचार को रोकना, इस ओर से उदासीन रहना, ४ जिह्वेन्द्रिय-विषय-प्रचार-निरोध—जीभ के विषयो मे प्रवृत्ति को रोकना अथवा जिह्वा को प्राप्त स्वादु-अस्वादु रसात्मक विषयो, पदार्थों मे राग-द्वेष के संचार को रोना, ४. स्पर्शेन्द्रिय-विषय-प्रचार-निरोध—त्वचा के विषयो मे प्रवृत्ति को रोकना अथवा स्पर्शेन्द्रिय को प्राप्त सुख-दु खात्मक, अनुकूल-प्रतिकूल विषयो मे राग-द्वेष के सचार को रोकना।

यह इन्द्रिय-प्रतिसलीनता का विवेचन है।

कषाय-प्रतिसंलीनता—कषाय-प्रतिसलीनता क्या है उसके कितने प्रकार है ? कषायप्रति-सलीनता चार प्रकार की बतलाई गई है। वह इस प्रकार है—१ क्रोध के उदय का निरोध को नही उठने देना अथवा उदयप्राप्त—उठे हुए क्रोध को विफल—प्रभावशून्य बनाना, २. मान के उदय का निरोध—अहकार को नही उठने देना अथवा उदयप्राप्त अहकार को विफल—निष्प्रभाव बनाना, ३ माया के उदय का निरोध—माया को उभार मे नही आने देना अथवा उदयप्राप्त माया को विफल—प्रभावरहित बना देना, ४ लोभ के उदय का निरोध—लोभ को नही उभरने देना अथवा उदयप्राप्त लोभ को प्रभावशून्य बना देना।

यह कषाय-प्रतिसलीनता का विवेचन है।

विवेचन—कषायो से छूट पाना बहुत कठिन है। कषायो से मुक्त होना मानव के लिए वास्तव मे बहुत बडी उपलब्धि है। कषाय के कारण ही आत्मा स्वभावावस्था से च्युत होकर विभावावस्था मे पतित होती है। अतएव ज्ञानी जनो ने "कषायमुक्ति. किल मुक्तिरेव"—कषाय-मुक्ति को ही वस्तुत मुक्ति कहा है। कषायात्मक वृत्ति से छूटने के लिए साधक को अपना आत्मबल जगाये सतत अध्यव-साययुक्त तथा अभ्यासरत रहना होता है।

कषाय-विजय के लिए तत्तद्विपरीत भावनाओ का पुन पुन अनुचिन्तन भी अध्यवसाय को विशेष शक्ति प्रदान करता है। जैसे क्रोध का विपरीत भाव क्षमा है। क्रोध आने पर मन मे क्षमा तथा मैत्री भाव का पुन पुन. चिन्तन करना, अहकार उठने पर मृदुता, नम्रता, विनय की पवित्र भावना बारबार मन मे जागरित करना, इसी प्रकार माया का भाव उत्पन्न होने पर ऋजुता, सौम्यता को भावना को विपुल प्रश्रय देना तथा लोभ जगने पर अन्तरतम को सन्तोष से अनुप्राणित करना कषायो से बचे रहने मे बहुत सहायक सिद्ध होता है।

योग-प्रतिसलीनता

योग-प्रतिसलीनता क्या है—कितने प्रकार की है ? योग-प्रतिसलीयनता तीन प्रकार की बतलाई गई है—

१ मनोयोग-प्रतिसंलीनता, २ वाग्योग-प्रतिसलीनता तथा ३ काययोग-प्रतिसलीनता।

मनोयोग-प्रतिसंलीनता क्या है ?

अकुशल—अशुभ—दुर्विचारपूर्ण मन का निरोध, मन मे बुरे विचारो को आने से रोकना अथवा कुशल—शुभ—सद्विचार पूर्ण मन का प्रवर्तन करना, मन मे सद्विचार लाते रहने का अभ्यास करना मनोयोग-प्रतिसलीनता है।

वाग्योग-प्रतिसंलीनता क्या है ?

अकुशल—अशुभ वचन का निरोध—दुर्वचन नहीं बोलना अथवा कुशल वचन—सद्‌वचन बोलने का अभ्यास करना वाग्योग-प्रतिसंलीनता है ।

काययोग-प्रतिसलीनता क्या है ? हाथ, पर आदि सुसमाहित—सुस्थिर कर, कछुए के सदृश अपनी इन्द्रियो को गुप्त कर, सारे शरीर को सवृत कर—प्रवृत्तियो से खीचकर—हटाकर सुस्थिर होना काययोग-प्रतिसलीनता है ।

यह योग-प्रतिसंलीनता का विवेचन है ।

विविक्त-शय्यासन-सेवनता क्या है ? आराम—पुष्पप्रधान बगीचा, पुष्पवाटिका, उद्यान—पुष्प-फल-समवेत बडे-बडे वृक्षो से युक्त बगीचा, देवकुल—देवमन्दिर, छतरियाँ, सभा—लोगो के बैठने या विचार-विमर्श हेतु एकत्र होने का स्थान, प्रपा—जल पिलाने का स्थान, प्याऊ, पणित-गृह—बर्तन-भाड आदि क्रयविक्रयोचित वस्तुएँ रखने के घर—गोदाम, पणितशाला—क्रय-विक्रय करने वाले लोगो के ठहरने योग्य गृहविशेष, ऐसे स्थानो मे, जो स्त्री, पशु तथा नपु सक के ससर्ग से रहित हो, प्रासुक—निर्जीव, अचित्त, एषणीय—सयमी पुरुषो द्वारा ग्रहण करने योग्य, निर्दोष पीठ, फलक—काष्ठपट्ट, शय्या—पैर फैलाकर सोया जा सके, ऐसा बिछौना, तृण, घास आदि का आस्तरण—कुछ छोटा बिछौना प्राप्त कर विहरण करना—साधनामय जीवन-यापन करना विविक्त-शय्यासन-सेवता है ।

यह प्रतिसलीनता का विवेचन है, जिसके साथ बाह्य तप का वर्णन सम्पन्न होता है ।

श्रमण भगवान् महावीर के अन्तेवासी अनगार उपर्युक्त विविध प्रकार के बाह्य तप के अनुष्ठाता थे ।

आभ्यन्तर तप क्या है—कितने प्रकार का है ?

आभ्यन्तर तप छह प्रकार का कहा गया है—

प्रायश्चित्त

१ प्रायश्चित्त—व्रत-पालन मे हुए अतिचार या दोष की विशुद्धि, २ विनय—विनम्र व्यवहार (जो कर्मों के विनयन—अपनयन का हेतु है) ३ वैयावृत्य—सयमी पुरुषों की आहार आदि द्वारा सेवा, ४ स्वाध्याय—आत्मोपयोगी ज्ञान प्राप्त करने हेतु मर्यादापूर्वक सत्-शास्त्रो का पठन-पाठन, ५ ध्यान—एकाग्रतापूर्ण सत्-चिन्तन, चित्तवृत्तियो का निरोध तथा ६ व्युत्सर्ग—हेय या त्यागने योग्य पदार्थों का त्याग ।

प्रायश्चित्त क्या है—कितने प्रकार का है ?

प्रायश्चित्त दश प्रकार का कहा गया है, जो इस प्रकार है—

१. आलोचनार्ह—आलोचन—प्रकटीकरण से होने वाला प्रायश्चित । गमन, आगमन, भिक्षा, प्रतिलेखन आदि दैनिक कार्यों में लगने वाले दोषो को गुरु या ज्येष्ठ साधु के समक्ष प्रकट करने, उनकी आलोचना करने से दोष-शुद्धि हो जाती है ।

२ प्रतिक्रमणार्ह—पाप या अशुभ योग से पीछे हटने से सधने वाला प्रायश्चित्त। साधु द्वारा पालनीय पाच समिति तथा तीन गुप्ति के सन्दर्भ मे सहसाकारित्व आदि के कारण लगने वाले दोषो को लेकर "मिच्छा मि दुक्कड—मिथ्या मे दुष्कृतम्"—मेरा दुष्कृत या पाप मिथ्या हो—निष्फल हो, यो चिन्तन पूर्वक प्रायश्चित्त करने से दोष-शुद्धि हो जाती है।

३. तदुभयार्ह—आलोचना तथा प्रतिक्रमण—दोनो से होने वाला प्रायश्चित्त।

४ विवेकार्ह—ज्ञानपूर्वक त्याग से होने वाला प्रायश्चित्त। यदि अज्ञानवश साधु सदोष आहार आदि ले ले तथा फिर उसे यह ज्ञात हो जाए, तब उसे अपने उपयोग मे न लेकर त्याग देने से यह प्रायश्चित्त होता है।

५ व्युत्सर्गार्ह—कायोत्सर्ग[1] द्वारा निष्पन्न होने वाला प्रायश्चित्त। नदी पार करने मे, उच्चार—मल, मूत्र आदि परठने मे अनिवार्यत आसेवित दोषो की शुद्धि के लिए यह प्रायश्चित्त है। भिन्न-भिन्न दोषो के लिए भिन्न-भिन्न परिमाण मे श्वासोच्छ्वासयुक्त कायोत्सर्ग का विधान है।

६ तपोऽर्ह—तप द्वारा होने वाला प्रायश्चित्त। सचित्त वस्तु को छूने, आवश्यक आदि समाचारी, प्रतिलेखन, प्रमार्जन आदि नही करने से लगने वाले दोषो की शुद्धि के लिए यह प्रायश्चित्त है।

७ छेदार्ह—दीक्षा-पर्याय कम कर देने से निष्पन्न होने वाला प्रायश्चित्त। सचित्त-विराधना, प्रतिक्रमण-प्रकरणता आदि के कारण लगने वाले दोषो की शुद्धि के लिए यह प्रायश्चित्त है। इसमे पाच दिन से लेकर छह मास तक के दीक्षा-पर्याय की न्यूनता करने का विधान है।

८ मूलार्ह—व्रतो की पुन प्रतिष्ठापना करने—पुन दीक्षा देने से होने वाला प्रायश्चित्त। प्रायश्चित्त योग्य दूषित स्थान, कार्य आदि के तीन बार सेवन, अनाचार-सेवन—चरित्रभग तथा जानबूझ कर महाव्रत-खण्डन मे लगने वाले दोषो की शुद्धि के लिए यह प्रायश्चित्त है।

९ अनवस्थाप्यार्ह—प्रायश्चित्त के रूप मे सुझाया गया विशिष्ट तप जब तक न कर लिया जाए, तब तक उस साधु का सघ से सम्बन्ध-विच्छेद रखना तथा उसे पुन दीक्षा नही देना। यह अनवस्थाप्यार्ह प्रायश्चित्त है।

साधर्मिक साधु-साध्वियो की चोरी करना, अन्य तीर्थिक की चोरी करना, गृहस्थ की चोरी करना, परस्पर मारपीट करना आदि से साधु को यह प्रायश्चित्त आता है।

१० पाराञ्चिकार्ह—सम्बन्ध विच्छिन्न कर, तप-विशेष का अनुष्ठान कराकर गृहस्थभूत बनाना, पुन व्रतो मे स्थापित करना पाराञ्चिकार्ह प्रायश्चित्त है।

कषाय-दुष्ट, विषय-दुष्ट, महाप्रमादी—मद्यपायी, स्त्यानर्द्धि निद्रा मे प्रमादपूर्ण कर्मकारी, समलैंगिक विषयसेवी को यह प्रायश्चित्त आता है।[2]

---

१ कायोत्सर्ग का आशय शरीर को निश्चल रखना है।

२ (क) स्थानाग सूत्र ३-३२३ वृत्ति

(ख) बृहत्कल्पसूत्र उद्देशक ४

विनय

विनय क्या है—वह कितने प्रकार का है ? विनय सात प्रकार का बतलाया गया है—१ ज्ञान-विनय, २ दर्शन-विनय, ३ चारित्र-विनय, ४ मनोविनय, ५ वचन-विनय, ६ काय-विनय, ७ लोकोपचार-विनय ।

ज्ञान-विनय

ज्ञान-विनय क्या है—उसके कितने भेद है ? ज्ञान-विनय के पांच भेद बतलाये गये है—१ आभिनिबोधिक ज्ञान—मतिज्ञान-विनय, २ श्रुतज्ञान-विनय, ३ अवधिज्ञान-विनय, ४ मन - पर्यव-ज्ञान-विनय, ५ केवलज्ञान-विनय—इन ज्ञानो को यथार्थता स्वीकार करते हुए इनके लिए विनीत भाव से यथाशक्ति पुरुषार्थ या प्रयत्न करना ।

दर्शन-विनय

दर्शन-विनय क्या है—उसके कितने प्रकार है ? दर्शन-विनय दो प्रकार का बतलाया गया है—१ शुश्रूषा-विनय, २ अनत्याशातना-विनय ।

शुश्रूषा-विनय क्या है—उसके कितने प्रकार है ? शुश्रूषा-विनय अनेक प्रकार का बतलाया गया है जो इस प्रकार है—

अभ्युत्थान—गुरुजनो या गुणीजनो के आने पर उन्हे आदर देने हेतु खडे होना ।

आसनाभिग्रह—गुरुजन जहाँ बैठना चाहे वहाँ आसन रखना ।

आसन-प्रदान—गुरुजनो को आसन देना ।

गुरुजनो का सत्कार करना, सम्मान करना, यथाविधि वन्दन-प्रणमन करना, कोई बात स्वीकार या अस्वीकार करते समय हाथ जोडना, आते हुए गुरुजनो के सामने जाना, बैठे हुए गुरुजनो के समीप बैठना, उनकी सेवा करना, जाते हुए गुरुजनो को पहुँचाने जाना । यह शुश्रूषा-विनय है ।

अनत्याशातना-विनय

अनत्याशातना-विनय क्या है—उसके कितने भेद है ? अनत्याशातना-विनय के पैतालीस भेद है । वे इस प्रकार है

१ अर्हतो की आशातना नही करना—आत्मगुणो का आशातन—नाश करने वाले अवहेलनापूर्ण कार्य नही करना ।

२ अर्हत्-प्रज्ञप्त—अर्हतो द्वारा बतलाये गये धर्म की आशातना नही करना ।

३ आचार्यों की आशातना नही करना ।

४ उपाध्यायो की आशातना नही करना ।

५ स्थविरो—ज्ञानवृद्ध, चारित्रवृद्ध, वयोवृद्ध श्रमणो की आशातना नही करना ।

६ कुल की आशातना नही करना ।

७ गण की आशातना नही करना ।

८ सघ की आशातना नही करना ।

९ क्रियावान् की आशातना नही करना ।

१० साभोगिक—जिसके साथ वन्दन, नमन, भोजन आदि पारस्परिक व्यवहार हो, उस गच्छ के श्रमण या समान आचारवाले श्रमण की आशातना नही करना ।

११ मति-ज्ञान की आशातना नही करना ।

१२ श्रुत-ज्ञान की आशातना नही करना ।

१३ अवधि-ज्ञान की आशातना नही करना ।

१४ मन.पर्यव-ज्ञान की आशातना नही करना ।

१५ केवल-ज्ञान की आशातना नही करना ।

इन पन्द्रह की भक्ति, उपासना, बहुमान, गुणो के प्रति तीव्र भावानुरागरूप पन्द्रह भेद तथा इन (पन्द्रह) की यशस्विता, प्रशस्ति एव गुणकीर्तन रूप और पन्द्रह भेद—यो अनत्याशातना-विनय के कुल पैतालीस भेद होते है ।

विवेचन—यहाँ प्रयुक्त आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, गण, तथा कुल का कुछ विश्लेषण अपेक्षित है, जो इस प्रकार है—

आचार्य

वैयक्तिक, सामष्टिक श्रमण-जीवन का सम्यक् निर्वाह, धर्म की प्रभावना, ज्ञान की आराधना, साधना का विकास तथा सगठन व अनुशासन की दृढता आदि के निमित्त जैन श्रमण-सघ मे निम्नाकित पदो के होने का उल्लेख प्राप्त होता है—

१ आचार्य, २ उपाध्याय, ३ प्रवर्तक, ४ स्थविर, ५ गणी, ६ गणधर, ७ गणावच्छेदक ।

इनमे आचार्य का स्थान सर्वोपरि है । सघ का सर्वतोमुखी विकास, सरक्षण, सवर्धन, अनुशासन आदि का सामूहिक उत्तरदायित्व आचार्य पर होता है ।

जैन वाङ्मय के अनुशीलन से प्रतीत होता है कि जैन सघ मे आचार्य पद का आधार मनोनयन रहा, निर्वाचन नही । भगवान् महावीर का अपनी प्राक्तन परंपरा के अनुरूप इसी ओर झुकाव था । आगे भी यही परपरा गतिशील रही । आचार्य ही भावी आचार्य का मनोनयन करते थे तथा अन्य पदाधिकारियो का भी । अब तक ऐसा ही चला आ रहा है ।

सघ की सब प्रकार की देख-भाल का मुख्य दायित्व आचार्य पर रहता है । सघ मे उनका आदेश अन्तिम और सर्वमान्य होता है ।

आचार्य की विशेषताओ के सदर्भ मे कहा गया है—

"आचार्य सूत्रार्थ के वेत्ता होते हैं । वे उच्च लक्षण युक्त होते है । वे गण के लिए मेढिभूत—

स्तम्भरूप होते हैं। वे गण के ताप से मुक्त होते हैं—उनके निर्देशन में चलता गण सन्ताप-रहित रहता है। वे अन्तेवासियो को आगमो की अर्थ-वाचना देते हैं—उन्हें आगमो का रहस्य समझाते हैं।

आचार्य ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार तथा वीर्याचार का स्वय परिपालन करते हैं, उनका प्रकाश—प्रसार करते हैं, उपदेश करते हैं, दूसरे शब्दो में वे स्वय आचार का पालन करते हैं तथा अन्तेवासियो से करवाते हैं, अतएव आचार्य कहे जाते हैं।"[1]

और भी कहा गया है—

"जो शास्त्रो के अर्थ का आचयन—सचयन—सग्रहण करते हैं, स्वय आचार का पालन करते हैं, दूसरो को आचार मे स्थापित करते है, उन कारणो से वे आचार्य कहे जाते हैं।"[2]

दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र मे आचार्य की विशेषताओ का विस्तार से वर्णन किया गया है। वहाँ आचार्य की निम्नाकित आठ सम्पदाए बतलाई गई है—

१ आचार-सम्पदा, २ श्रुत-सम्पदा, ३. शरीर-सम्पदा, ४ वचन-सम्पदा, ५. वाचना-सम्पदा, ६ मति-सम्पदा, ७ प्रयोग-सम्पदा, ८ सग्रह-सम्पदा।

उपाध्याय

जैनदर्शन ज्ञान तथा क्रिया के समन्वित अनुसरण पर आधृत है। सयममूलक आचार का परिपालन जैन साधक के जीवन का जहाँ अनिवार्य अग है, वहाँ उसके लिए यह भी अपेक्षित है कि वह ज्ञान की आराधना में भी अपने को तन्मयता के साथ जोडे। सद्ज्ञानपूर्वक आचरित क्रिया मे शुद्धि की अनुपम सुषमा प्रस्फुटित होती है। जिस प्रकार ज्ञान-प्रसूत क्रिया की गरिमा है, उसी प्रकार क्रियान्वित या क्रियापरिणत ज्ञान की ही वास्तविक सार्थकता है। ज्ञान और क्रिया जहा पूर्व तथा पश्चिम की तरह भिन्न-भिन्न दिशाओ मे जाते हैं, वहा जीवन का ध्येय सधता नहीं। अध्य-वसाय एव उद्यम द्वारा इन दोनो पक्षो मे सामजस्य उत्पन्न कर जिस शक्ति से साधक साधना-पथ पर अग्रसर होगा, साध्य को आत्मसात् करने में वह उतना ही अधिक सफल होगा। साधनामय जीवन के अनन्य अग ज्ञानानुशीलन से उपाध्याय पद का विशेषत सम्बन्ध है। उपाध्याय श्रमणो को सूत्रवाचना देते हैं। कहा गया है—

"जिन-प्रतिपादित द्वादशागरूप स्वाध्याय—सूत्र-वाङ्मय ज्ञानियो द्वारा कथित—वर्णित या सग्रथित किया गया है। जो उसका उपदेश करते हैं, वे उपाध्याय कहे जाते हैं।"[3]

---

१ सुत्तत्थविऊ लक्खणजुत्तो, गच्छस्स मेढिभूओ य।
गणतत्तिविप्पमुक्को, अत्थ वाएइ आयरिओ॥
पचविह आयर, आयरमाणा तहा पयासता।
आचारे देसता, आयरिया तेण वुच्चति॥ —भगवती सूत्र १ १ १, मगलाचरण वृत्ति

२ आचिनोति च शास्त्रार्थमाचारे स्थापयत्यपि।
स्वयमाचरते यस्मादाचार्यस्तेन कथ्यते॥

३ बारसगो जिणक्खाओ, सज्जओ कहिओ बुहेहि।
ते उवइसति जम्हा, उवज्झया तेण वुच्चति॥ —भगवती सूत्र १.१.१, मगलाचरण वृत्ति

यहाँ सूत्र-वाङ्मय का उपदेश करने का आशय आगमो की सूत्र-वाचना देना है। स्थानाग-वृत्ति मे भी उपाध्याय का सूत्रदाता (सूत्रवाचनादाता) के रूप मे उल्लेख हुआ है।

आचार्य की सम्पदाओ के वर्णन-प्रसग मे यह बतलाया गया है कि आगमो की अर्थ-वाचना आचार्य देते है। यहाँ जो उपाध्याय द्वारा स्वाध्यायोपदेश या सूत्र-वाचना देने का उल्लेख है, उसका तात्पर्य यह है कि सूत्रो के पाठोच्चारण की शुद्धता, स्पष्टता, विशदता, अपरिवर्त्यता तथा स्थिरता बनाये रखने हेतु उपाध्याय पारपरिक एव आज की भाषा मे भाषावैज्ञानिक आदि दृष्टियो से अन्तेवासी श्रमणो को मूल पाठ का सागोपाग शिक्षण देते है।

अनुयोगद्वार सूत्र मे 'आगमत द्रव्यावश्यक' के सदर्भ मे पठन या वाचन का विवेचन करते हुए तत्सम्बन्धी विशेषताओ पर प्रकाश डाला गया है, जिससे प्रतीत होता है कि पाठ की एक अक्षुण्ण तथा स्थिर परपरा जैन श्रमणो मे रही है। आदम-पाठ को यथावत् बनाये रखने मे इससे बडी सहायता मिली है।

आगम-गाथाओ का उच्चारण कर देना मात्र पाठ या वाचना नही है। अनुयोगद्वार सूत्र मे शिक्षित, जित, स्थित, मित, परिजित, नामसम, घोषसम, अहीनाक्षर, अनत्यक्षर, अव्याविद्धाक्षर, अस्खलित, अमिलित, अव्यत्याम्रेडित, प्रतिपूर्ण, प्रतिपूर्णघोष तथा कण्ठोष्ठविप्रमुक्त विशेषण दिये गये है।[1] सक्षेप मे इनका तात्पर्य यो है—

१ शिक्षित—साधारणतया सीख लेना।

२ स्थित—सीखे हुए को मस्तिष्क मे टिकाना।

३ जित—अनुक्रमपूर्वक पठन करना।

४ मित—अक्षर आदि की मर्यादा, सयोजन आदि जानना।

५. परिजित—पूर्णरूपेण काबू पा लेना।

६ नामसम—जिस प्रकार हर व्यक्ति को अपना नाम स्मरण रहता है, उसी प्रकार सूत्र का पाठ याद रहना अर्थात् सूत्र-पाठ को इस प्रकार आत्मसात् कर लेना कि जब भी पूछा जाय, तत्काल यथावत् रूप मे बतला सके।

७ घोषसम—स्वर के ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत[2] तथा उदात्त, अनुदात्त, स्वरित[3] के रूप मे जो उच्चारण सम्बन्धी भेद वैयाकरणो ने किये है, उनके अनुरूप उच्चारण करना।

८ अहीनाक्षर—पाठक्रम मे किसी भी अक्षर को हीन—लुप्त या अस्पष्ट न कर देना।

९ अनत्यक्षर—अधिक अक्षर न जोडना।

१० अव्याविद्धाक्षर—अक्षर, पद आदि का विपरीत—उलटा पठन न करना।

---

१ अनुयोगद्वार सूत्र १९

२ ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुत। —पाणिनीय अष्टाध्यायी १ २ २७

३ उच्चैरुदात्त। नीचैरनुदात्त'। समाहार स्वरित। —पाणिनीय अष्टाध्यायी १ २ २९-३१

११ अस्खलित—पाठ मे स्खलन न करना, पाठ का यथाप्रवाह उच्चारण करना ।

१२ अमिलित—अक्षरो को परस्पर न मिलाते हुए—उच्चारणीय पाठ के साथ किन्ही दूसरे अक्षरो को न मिलाते हुए उच्चारण करना ।

१३ अव्यत्याम्रे डित—अन्य सूत्रो, शास्त्रो के पाठ को समानार्थक जानकर उच्चार्य्य पाठ के साथ मिला देना व्यत्याम्रे डित है । ऐसा न करना अव्यत्याम्रे डित है ।

१४ प्रतिपूर्ण—पाठ का पूर्ण रूप से उच्चारण करना, उसके किसी अग को अनुच्चारित न रखना ।

१५ प्रतिपूर्णघोष—उच्चारणीय पाठ का मन्द स्वर द्वारा, जो कठिनाई से सुनाई दे उच्चारण न करना, पूरे स्वर से स्पष्टतया उच्चारण करना ।

१६ कण्ठौष्ठविप्रमुक्त—उच्चारणीय पाठ या पाठाश को गले और होठो मे अटका कर अस्पष्ट नही बोलना ।

सूत्र-पाठ को अक्षुण्ण तथा अपरिवर्त्य बनाये रखने के लिए उपाध्याय को सूत्र-वाचना देने मे कितना जागरूक तथा प्रयत्नशील रहना होता था, यह उक्त विवेचन से स्पष्ट है ।

लेखनक्रम के अस्तित्व मे आने से पूर्व वैदिक, जैन और बौद्ध—सभी परम्पराओ मे अपने आगमो, आर्ष ग्रन्थो को कण्ठस्थ रखने की प्रणाली थी । मूल पाठ का रूप अक्षुण्ण बना रहे, परिवर्तित समय का उस पर प्रभाव न आए, इस निमित्त उन द्वारा ऐसे पाठक्रम या उच्चारण-पद्धति का परिस्थापन स्वाभाविक था, जिससे एक से सुनकर या पढकर दूसरा व्यक्ति सर्वथा उसी रूप मे शास्त्र को आत्मसात बनाये रख सके । उदाहरणार्थ सहिता-पाठ, पद-पाठ, क्रम-पाठ, जटा-पाठ और घन-पाठ के रूप मे वेदो के पठन का भी बडा वैज्ञानिक प्रकार था, जिसने तब तक उनको मूल रूप मे बनाये रखा है ।[1]

एक से दूसरे द्वारा श्रुति-परम्परा से आगम-प्राप्तिक्रम के बावजूद जैन आगम-वाङ्मय मे कोई विशेष मौलिक परिवर्तन आया हो, ऐसा सभव नही लगता । सामान्यत लोग कह देते है, किसी से एक वाक्य भी सुनकर दूसरा व्यक्ति किसी तीसरे व्यक्ति को बताए तो यत्किञ्चित् परिवर्तन आ सकता है, फिर यह कब सभव है कि इतने विशाल आगम-वाङ्मय मे काल की इस लम्बी अवधि के बीच भी कोई परिवर्तन नही आ सका । साधारणतया ऐसी शका उठना अस्वाभाविक नही है किन्तु आगम-पाठ की उपर्युक्त परम्परा से स्वत समाधान हो जाता है कि जहाँ मूल पाठ की सुरक्षा के लिए इतने उपाय प्रचलित थे, वहाँ आगमो का मूल स्वरूप क्यो नही अव्याहत और अपरिवर्तित रहता ।

अर्थ या अभिप्राय का आश्रय सूत्र का मूल पाठ है । उसी की पृष्ठभूमि पर उसका पल्लवन और विकास सभव है । अतएव उसके शुद्ध स्वरूप को स्थिर रखने के लिए सूत्र-वाचना या पठन का इतना बडा महत्त्व समझा गया कि श्रमण-सघ मे उसके लिए 'उपाध्याय' का पृथक् पद प्रतिष्ठित किया गया ।

---

१ सस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १७

वैदिक परम्परा मे वेद, उसके अग आदि के अध्यापन के सन्दर्भ मे आचार्य एव उपाध्याय पदो का उल्लेख हुआ है।

आचार्य के सम्बन्ध मे लिखा है—

"जो द्विज शिष्य का उपनयन-सस्कार कर उसे सकल्प—कल्प या यज्ञविद्या सहित, सरहस्य—उपनिषद् सहित वेद पढ़ाता है, उसे आचार्य कहते है।[1]

उपाध्याय के सम्बन्ध मे उल्लेख है—

"जो वेद का एक भाग—मन्त्रभाग तथा वेद के अग—शिक्षा—ध्वनि-विज्ञान, कल्प—कर्मकाण्ड-विधि, व्याकरण—शब्दशास्त्र, निरुक्त—शब्द-व्याख्या या व्युत्पत्तिशास्त्र तथा ज्योतिष—नक्षत्र-विज्ञान पढाता है, उसे उपाध्याय कहा जाता है।"[2]

आचार्य तथा उपाध्याय—दोनो के अध्यापनक्रम पर सूक्ष्मता से विचार करने पर प्रतीत होता है कि आचार्य वेदो के रहस्य एव गहन अर्थ का ज्ञान कराते थे और उपाध्याय वेद-मन्त्रो का विशुद्ध उच्चारण, विशुद्ध पाठ सिखाते थे।

जैन परम्परा मे स्वीकृत आचार्य तथा उपाध्याय के पाठनक्रम के साथ प्रस्तुत प्रसग तुलनीय है।

स्थविर

जैन श्रमण-सघ मे स्थविर का पद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। स्थानाग सूत्र मे दश प्रकार[3] के स्थविर बतलाये गये हैं, जिनमे से अन्तिम तीन जाति-स्थविर, श्रुत-स्थविर तथा पर्याय-स्थविर का सम्बन्ध विशेषत श्रमण-जीवन से है।

स्थविर का सामान्य अर्थ प्रौढ या वृद्ध है।[4] जो जन्म से अर्थात् आयु से स्थविर होते हैं, वे जाति-स्थविर कहे जाते हैं। स्थानाग वृत्ति मे उनके लिए साठ वर्ष की आयु का उल्लेख किया गया है।[5]

सर मोनियर विलियम्स ने अपने कोश मे स्थविर शब्द की व्याख्या मे उल्लेख किया है कि

---

१ उपनीय तु य शिष्य वेदमध्यापयेद् द्विज ।
सकल्प सरहस्य च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥ —मनुस्मृति २ १४०

२ शिक्षा व्याकरण छन्दो निरुक्त ज्योतिष तथा ।
कल्पश्चेति षडङ्गानि वेदस्याहुर्मनीषिण ॥ —सस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ४४

३ १ ग्राम-स्थविर, २ नगर-स्थविर, ३ राष्ट्र-स्थविर, ४ प्रशास्तृ-स्थविर, ५ कुल-स्थविर, ६ गण-स्थविर, ७ सघ-स्थविर, ८ जाति-स्थविर, ९ श्रुत-स्थविर, १० पर्याय-स्थविर। —स्थानाग सूत्र १० ७६१

४ (क) पाइअसद्दमहण्णवो—पृष्ठ ४५०
(ख) संस्कृत हिन्दी कोश वामन शिवराम आप्टे—पृष्ठ ११ ३९

५ जातिस्थविरा —षष्टिवर्षप्रमाणजन्मपर्याया । —स्थानांग सूत्र १० ७६१ वृत्ति

सत्तर से नव्वे वर्ष तक की आयु का पुरुष स्थविर कहा जाता है। तदनन्तर उसकी संज्ञा वर्षीयस् (वर्षीयान्) होती है। स्त्री के लिए उन्होने सत्तर के स्थान पर पचास वर्ष का उल्लेख किया है।[१]

जो श्रुत—समवाय आदि अग एव शास्त्र के पारगामी होते हैं। वे श्रुत-स्थविर कहे जाते हैं।[२] उनके लिए आयु की इयत्ता का निर्बन्ध नही है। वे छोटी आयु के भी हो सकते हैं।

इस सन्दर्भ मे मनुस्मृति मे कहा है—

"कोई पुरुष इसलिए वृद्ध नही होता कि उसके बाल सफेद हो गये हो। जो युवा होते हुए भी अध्ययनशील—ज्ञानसम्पन्न है, मनुष्यो की तो बात ही क्या, उसे देव भी वृद्ध कहते है।"[३]

पर्याय-स्थविर वे होते हैं, जिनका दीक्षाकाल लम्बा होता है। वृत्तिकार ने इनके लिए बीस वर्ष के दीक्षा-पर्याय के होने का उल्लेख किया है।[४]

ऊपर तीन प्रकार के स्थविरो का जो विवेचन हुआ है, उसका सार यह है—

जिनकी आयु परिपक्व होती है, उन्हे जीवन के अनेक प्रकार के अनुभव होते है। वे जीवन में बहुत प्रकार के अनुकूल-प्रतिकूल, प्रिय-अप्रिय घटनाक्रम देखे हुए होते हैं अत वे विपरीत परिस्थितियो मे भी विचलित नही होते, स्थिर बने रहते हैं। स्थविर शब्द स्थिरता का भी द्योतक है।

जिनका श्रुतानुशीलन, शास्त्राध्ययन विशाल होता है, वे अपने विपुल ज्ञान द्वारा जीवन-सत्त्व के परिज्ञाता होते हैं। शास्त्र-ज्ञान द्वारा उनके जीवन मे स्थिरता एव दृढता होती है।

जिनका दीक्षा-पर्याय सयम-जीवितव्य लम्बा होता है, उनके जीवन मे धार्मिक परिपक्वता, चारित्रिक बल, आत्मिक ओज, एतत्प्रसूत स्थिरता सहज ही प्रस्फुटित हो जाती है।

इस प्रकार के स्थिरतामय जीवन के धनी श्रमणो की अपनी गरिमा है। वे दृढधर्मा होते हैं। सघ के श्रमणो को धर्म मे, साधना मे, सयम मे स्थिर बनाये रखने के लिए सदैव जागरूक तथा प्रयत्नशील रहते हैं।

कहा गया है—

"जो साधु लौकिक एषणावश सासारिक कार्य-कलापो मे प्रवृत्त होने लगते हैं, जो सयम-पालन मे, ज्ञानानुशीलन मे कष्ट का अनुभव करते हैं, उन्हे जो श्रमण ऐहिक तथा पारलौकिक हानि

---

१ Old age (described as commencing at seventy in men and fifty in women, and ending at ninety, after which period a man is called Varshiyas).

—Sanskrit-English Dictionary, Page 1265.

२ श्रुतस्थविरा —समवायाङ्गधारिण। —स्थानाग सूत्र १० ७६१

३ न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलित शिर।
यो वै युवाऽप्यधीयानस्त देवा स्थविर विदु॥ —मनुस्मृति २ १५६

४ पर्यायस्थविरा —विंशतिवर्षप्रमाणप्रव्रज्या-पर्यायवन्त। —स्थानांग सूत्र १० ७६१ वृत्ति

या दु:ख बतलाकर सयम-जीवन मे स्थिर करते हैं, वे स्थविर कहे जाते है ।[1]

स्थविर की विशेषताओ का वर्णन करते हुए बतलाया गया है—

"स्थविर सविग्न—मोक्ष के अभिलाषी, अत्यन्त मृदु या कोमल प्रकृति के धनी तथा धर्मप्रिय होते हैं । ज्ञान, दर्शन, चारित्र की आराधना मे उपादेय अनुष्ठानो को जो श्रमण परिहीन करता है, उनके पालन मे अस्थिर बनता है, वे (स्थविर) उसे ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र की याद दिलाते हैं । पतनोन्मुख श्रमणो को वे ऐहिक एव पारलौकिक हानि दिखलाकर, बतलाकर मोक्ष के मार्ग मे स्थिर करते हैं ।"[2]

धर्मसग्रह मे इसी आशय को और स्पष्ट करते हुए कहा गया है—

"सघाधिपति द्वारा श्रमणो के लिए नियोजित तप, सयम, श्रुताराधना तथा आत्मसाधना मूलक कार्यों मे जो श्रमण अस्थिर हो जाते है, इनका अनुसरण करने मे कष्ट मानते हैं या इनका पालन जिनको अप्रिय लगता है, उन्हे जो आत्मशक्तिसम्पन्न दृढचेता श्रमण उक्त अनुष्ठेय कार्यों मे सुस्थिर बनाता है, वह स्थविर कहा जाता है ।"[3]

इससे स्पष्ट है कि सयम-जीवन, श्रामण्य का अपरिहार्य अग है, के प्रहरी का महनीय कार्य स्थविर करते है । सघ मे उनकी अत्यधिक प्रतिष्ठा तथा साख होती है । अवसर आने पर वे आचार्य तक को आवश्यक बाते सुझा सकते हैं, जिन पर उन्हे (आचार्य को) भी गौर करना होता है ।

सार यह है कि स्थविर सयम मे स्वय अविचल, स्थितिशील होते हैं और सघ के सदस्यो को वैसे बने रहने मे उत्प्रेरित करते रहते है ।

चारित्रविनय क्या है—वह कितने प्रकार का है ? चारित्र-विनय पाँच प्रकार का है—
१ सामायिकचारित्र-विनय, २. छेदोपस्थापनीयचारित्र-विनय, ३ परिहारविशुद्धिचारित्र-विनय,
४ सूक्ष्मसपरायचारित्र-विनय, ५ यथाख्यातचारित्र-विनय ।

यह चारित्र-विनय है ।

मनोविनय क्या है—कितने भेद है ? मनोविनय दो प्रकार का कहा गया है—

१ प्रशस्त मनोविनय, २ अप्रशस्त मनोविनय ।

---

१ प्रवर्तितव्यापारान् सयमयोगेषु सीदत साधून् ज्ञानादिषु
ऐहिकामुष्मिकापायदर्शनत स्थिरीकरोतीति स्थविर । —प्रवचनसारोद्धार, द्वार २

२ सविग्गो मद्दविग्रो, पियधम्मो नाणदसणचरित्ते ।
जे अट्ठे परिहायइ, सारतो ते हवई थेरो ॥

य सविग्नो मोक्षाभिलाषी, मार्दवित सञ्जातमार्दविक । प्रियधर्मा एकान्तवल्लभ: सयमानुष्ठाने, यो ज्ञानदर्शन-चारित्रेषु मध्ये यानर्थानुपादेयानुष्ठानविशेषान् परिहापयति हानि नयति, तान् त स्मारयन् भवति स्थविर , सीदमानान्साधून् ऐहिकाऽऽमुष्मिकापायप्रदर्शनता मोक्षमार्गे स्थिरीकरोतीति स्थविर इति व्युत्पत्ते ।
—अभिधानराजेन्द्र भाग ४, पृष्ठ २३८६-८७

३ तेन व्यापारितेष्वर्थेष्वनगाराश्च सीदत ।
स्थिरीकरोति सच्छक्ति स्थविरो भवतीह स ॥
—धर्मसग्रह-अधिकार ३, गाथा ७३

अप्रशस्त मनोविनय क्या है ?

जो मन सावद्य—पाप या गर्हित कर्म युक्त, सक्रिय—प्राणातिपात आदि आरम्भ-क्रिया सहित, कर्कश, कटुक—अपने लिए तथा औरो के लिए अनिष्ट, निष्ठुर—कठोर—मृदुतारहित, परुष—स्नेह-रहित—सूखा, आस्रवकारी—अशुभ कर्मग्राही, छेदकर—किसी के हाथ, पैर आदि अग तोड डालने का दुर्भाव रखनेवाला, भेदकर—नासिका आदि अग काट डालने का बुरा भाव रखने वाला, परितापन-कर—प्राणियो को सन्तप्त, परितप्त करने के भाव रखने वाला, उपद्रवणकर—मारणान्तिक कष्ट देने अथवा धन-सम्पत्ति हर लेने का बुरा विचार रखनेवाला, भूतोपघातिक—जीवो का घात करने का दुर्भाव रखने वाला होता है, वह अप्रशस्त मन है। वैसी मन स्थिति लिए रहना अप्रशस्त मनो-विनय है। वैसा मन धारण नही करना चाहिए।

प्रशस्त मनोविनय किसे कहते है ?

जैसे अप्रशस्त मनोविनय का विवेचन किया गया है, उसी के आधार पर प्रशस्त मनोविनय को समझना चाहिए। अर्थात् प्रशस्त मन, अप्रशस्त मन से विपरीत होता है। वह असावद्य, निष्क्रिय, अकर्कश, अकटुक-इष्ट—मधुर, अनिष्ठुर—मृदुल—कोमल, अपरुष—स्निग्ध—स्नेहमय, अनास्रवकारी, अछेदकर, अभेदकर, अपरितापनकर, अनुपद्रवणकर—दयार्द्र, अभूतोपघातिक—जीवो के प्रति करुणा, शील—सुखकर होता है।

वचन-विनय को भी इन्ही पदो से समझना चाहिए। अर्थात् वचन-विनय अप्रशस्त-वचन-विनय तथा प्रशस्त-वचन-विनय के रूप मे दो प्रकार का है। अप्रशस्त मन तथा प्रशस्त मन के विशेषण क्रमश अप्रशस्त वचन तथा प्रशस्त वचन के साथ जोड देने चाहिए।

यह वचन-विनय का विश्लेषण है।

काय-विनय क्या है—कितने प्रकार का है ? काय-विनय दो प्रकार का बतलाया गया है—

१ प्रशस्त काय-विनय, २ अप्रशस्त काय-विनय।

अप्रशस्त काय-विनय क्या है—उसके कितने भेद हैं ?

अप्रशस्त काय-विनय के सात भेद हैं, जो इस प्रकार हैं—

१ अनायुक्त गमन—उपयोग—जागरूकता या सावधानी बिना चलना।
२ अनायुक्त स्थान—बिना उपयोग स्थित होना—ठहरना, खडा होना।
३ अनायुक्त निषीदन—बिना उपयोग बैठना।
४ अनायुक्त त्वग्वर्तन—बिना उपयोग बिछौने पर करवट बदलना, सोना।
५ अनायुक्त उल्लघन—बिना उपयोग कर्दम आदि का अतिक्रमण करना—कीचड आदि लाघना।
६ अनायुक्त प्रलघन—बिना उपयोग बारबार लाघना।
७ अनायुक्त सर्वेन्द्रियकाययोग-योजनता—बिना उपयोग सभी इन्द्रियो तथा शरीर को योगयुक्त करना—विविध प्रवृत्तियो मे लगाना।

यह अप्रशस्त काय-विनय है।

प्रशस्त काय-विनय क्या है ?

प्रशस्त काय-विनय को अप्रशस्त काय-विनय की तरह समझ लेना चाहिये। अर्थात् अप्रशस्त काय-विनय में जहाँ क्रिया के साथ अनुपयोग—अजागरूकता या असावधानी जुड़ी रहती है, वहाँ प्रशस्त काय-विनय मे पूर्वोक्त प्रत्येक क्रिया के साथ उपयोग—सावधानी जुडी रहती है।

यह प्रशस्त काय-विनय है।

इस प्रकार यह काय-विनय का विवेचन है।

लोकोपचार-विनय क्या है—उसके कितने भेद हैं ?
लोकोपचार-विनय के सात भेद बतलाये गये हैं, जो इस प्रकार हैं—

१. अभ्यासवर्तिता—गुरुजनो, बडो, सत्पुरुषो के समीप बैठना।

२ परच्छन्दानुवर्तिता—गुरुजनो, पूज्य जनो के इच्छानुरूप प्रवृत्ति करना।

३. कार्यहेतु—विद्या आदि प्राप्त करने हेतु, अथवा जिनसे विद्या प्राप्त की, उनकी सेवा-परिचर्या करना।

४ कृत-प्रतिक्रिया—अपने प्रति किये गये उपकारों के लिए कृतज्ञता अनुभव करते हुए सेवा-परिचर्या करना।

५ आर्त-गवेषणता—रुग्णता, वृद्धावस्था से पीडित सयत जनो, गुरुजनो की सार-सम्हाल तथा औषधि, पथ्य आदि द्वारा सेवा-परिचर्या करना।

६ देशकालज्ञता—देश तथा समय को ध्यान मे रखते हुए ऐसा आचरण करना, जिससे अपना मूल लक्ष्य व्याहृत न हो।

७ सर्वार्थाप्रतिलोमता—सभी अनुष्ठेय विषयो, कार्यो मे विपरीत आचरण न करना, अनुकूल आचरण करना।

यह लोकोपचार-विनय है।

इस प्रकार यह विनय का विवेचन है।

वैयावृत्त्य क्या है—उसके कितने भेद है ?

वैयावृत्त्य—आहार, पानी, औषध आदि द्वारा सेवा-परिचर्या के दश भेद है। वे इस प्रकार हैं—

१. आचार्य का वैयावृत्त्य, २ उपाध्याय का वैयावृत्त्य, ३ शैक्ष—नवदीक्षित श्रमण का वैयावृत्य, ४ ग्लान—रुग्णता आदि से पीडित का वैयावृत्त्य, ५. तपस्वी—तेला आदि तप-निरत का वैयावृत्त्य, ६ स्थविर—वय, श्रुत और दीक्षा-पर्याय मे ज्येष्ठ का वैयावृत्त्य, ७ साधर्मिक का वैयावृत्त्य, ८ कुल का वैयावृत्त्य, ९. गण का वैयावृत्त्य, १०. सघ का वैयावृत्त्य।

यह वैयावृत्त्य का विवेचन है।

स्वाध्याय क्या है—वह कितने प्रकार का है ?

स्वाध्याय पाँच प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार है—

१ वाचना—यथाविधि, यथासमय श्रुत-वाङ्मय का अध्ययन, अध्यापन।

२ प्रतिपृच्छना—अधीत विषय मे विशेष स्पष्टीकरण हेतु पूछना, शंका-समाधान करना।

३. परिवर्तना—अधीत ज्ञान की पुनरावृत्ति, सीखे हुए को बार-बार दुहराना।

४ अनुप्रेक्षा—आगमानुसारी चिन्तन-मनन करना।

५ धर्मकथा—श्रुत-धर्म की व्याख्या-विवेचना करना।

यह स्वाध्याय का स्वरूप है।

ध्यान क्या है—उसके कितने भेद है ?

ध्यान—एकाग्र चिन्तन के चार भेद हैं—१ आर्तध्यान—रागादि भावना से अनुप्रेरित ध्यान, २ रौद्रध्यान—हिंसादि भावना से अनुरजित ध्यान, ३. धर्मध्यान—धर्मभावना से अनुप्राणित ध्यान, ४ शुक्लध्यान[1]— निर्मल, शुभ-अशुभ से अतीत आत्मोन्मुख शुद्ध ध्यान।

आर्त्तध्यान चार प्रकार का बतलाया गया है—

१ मन को प्रिय नही लगनेवाले विषय, स्थितियाँ आने पर उनके वियोग—दूर होने, दूर करने के सम्बन्ध मे निरन्तर आकुलतापूर्ण चिन्तन करना।

२. मन को प्रिय लगनेवाले विषयो के प्राप्त होने पर उनके अवियोग—वे अपने से कभी दूर न हो, सदा अपने साथ रहे, यो निरन्तर आकुलतापूर्ण चिन्तन करना।

३ रोग हो जाने पर उनके मिटने के सम्बन्ध मे निरन्तर आकुलतापूर्ण चिन्तन करना।

४ पूर्व-सेवित काम-भोग प्राप्त होने पर, फिर कभी उनका वियोग न हो, यो निरन्तर आकुलतापूर्ण चिन्तन करना।

आर्तध्यान के चार लक्षण बतलाये गये है। वे इस प्रकार है—

१ क्रन्दनता—जोर से क्रन्दन करना—रोना-चीखना।

२ शोचनता—मानसिक ग्लानि तथा दैन्य अनुभव करना।

३ तेपनता—आँसू ढलकाना।

४ विलपनता—विलाप करना—"हाय! मैंने पूर्व जन्म मे कितना बडा पाप किया, जिसका यह फल मिल रहा है।" इत्यादि रूप मे बिलखना।

---

१ शुच—शोक क्लमयति—अपनयतीति शुक्लम्—जो जन्म-मरण रूप शोक का अपनयन—क्षय करे।

रौद्रध्यान चार प्रकार का बतलाया है, जो इस प्रकार है—

१ हिंसानुबन्धी—हिंसा का अनुबन्ध या सम्बन्ध लिये एकाग्र चिन्तन—हिंसा को उद्दिष्ट कर ध्यान की एकाग्रता।

२. मृषानुबन्धी—असत्य-सम्बद्ध—असत्य को उद्दिष्ट कर एकाग्र चिन्तन।

३ स्तैन्यानुबन्धी—चोरी से सम्बद्ध एकाग्र चिन्तन।

४ सरक्षणानुबन्धी—धन आदि भोग-साधनो के सरक्षण हेतु औरो के प्रति हिंसापूर्ण एकाग्र चिन्तन।

रौद्रध्यान के चार लक्षण बतलाये गये है—

१ उत्सन्नदोष—हिंसा प्रभृति दोषो मे से किसी एक दोष मे अत्यधिक लीन रहना—उधर प्रवृत्त रहना।

२ बहुदोष—हिंसा आदि अनेक दोषो मे सलग्न रहना।

३ अज्ञानदोष—मिथ्याशास्त्र के सस्कारवश हिंसा आदि धर्मप्रतिकूल कार्यों मे धर्माराधना की दृष्टि से प्रवृत्त रहना।

४ आमरणान्तदोष—सेवित दोषो के लिए मृत्युपर्यन्न पश्चात्ताप न करते हुए उनमे अनवरत प्रवृत्तिशील रहना।

धर्मध्यान स्वरूप, लक्षण, आलम्बन तथा अनुप्रेक्षा भेद से चार प्रकार का कहा गया है। इनमे से प्रत्येक के चार-चार भेद हैं।

स्वरूप की दृष्टि से धर्मध्यान के चार भेद इस प्रकार है—

१ आज्ञा-विचय—आप्त पुरुष का वचन आज्ञा कहा जाता है। आप्त पुरुष वह है, जो राग, द्वेष आदि से असपृक्त है, जो सर्वज्ञ है। सर्वज्ञ वीतराग देव की आज्ञा, जहाँ विचय—मनन, निदिध्यासन आदि का विषय है, वह एकाग्र चिन्तन आज्ञा-विचय ध्यान है। इसका अभिप्राय यह हुआ—वीतराग प्रभु की आज्ञा, प्ररूपणा या वचन के अनुरूप वस्तु-तत्त्व के चिन्तन मे मन की एकाग्रता।

२ अपाय-विचय—अपाय का अर्थ दु ख है, उसके हेतु राग, द्वेष, विषय, कषाय है, जिनसे कर्म उपचित होते हैं। राग, द्वेष, विषय, कषाय का अपचय, कर्म-सम्बन्ध का विच्छेद, आत्मसमाधि की उपलब्धि, सर्व अपाय-नाश - ये इस ध्यान मे चिन्तन के विषय हैं।

३ विपाक-विचय—विपाक का अर्थ फल है। कर्मों के विपाक या फल पर इस ध्यान की चिन्तन-धारा आधृत है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि कर्मों से जनित फल को प्राणी किस प्रकार भोगता है, किन स्थितियो में से वह गुजरता है, इत्यादि विषय इसकी चिन्तन-धारा के अन्तर्गत आते हैं।

४. सस्थान-विचय—लोक, द्वीप, समुद्र आदि के आकार का एकाग्रतया चिन्तन।

धर्म-ध्यान के चार लक्षण बतलाये गये हैं। वे इस प्रकार हैं—

१ आज्ञा-रुचि—वीतराग प्रभु की आज्ञा मे, प्ररूपणा मे अभिरुचि होना, श्रद्धा होना।

२. निसर्ग-रुचि— नैसर्गिक रूप मे—स्वभावत धर्म मे रुचि होना।

३ उपदेश-रुचि—साधु या ज्ञानी के उपदेश से धर्म मे रुचि होना अथवा धर्म का उपदेश सुनने मे रुचि होना।

४. सूत्र-रुचि—सूत्रो—आगमो मे रुचि या श्रद्धा होना।

धर्मध्यान के चार आलम्बन— ध्यान रूपी प्रासाद के शिखर पर चढ़ने के लिए सहायक—आश्रय कहे गये हैं। वे इस प्रकार है -

१ वाचना— सत्य सिद्धान्तो का निरूपण करने वाले आगम, शास्त्र, ग्रन्थ आदि पढना।

२ पृच्छना—अधीत, ज्ञात विषय मे स्पष्टता हेतु जिज्ञासु भाव से अपने मन मे ऊहापोह करना, ज्ञानी जनो से पूछना, समाधान पाने का यत्न करना।

३ परिवर्तना—जाने हुए, सीखे हुए ज्ञान की पुन आवृत्ति करना, ज्ञात विषय मे मानसिक, वाचिक वृत्ति लगाना।

४ धर्मकथा—धर्मकथा करना, धार्मिक उपदेशप्रद कथाओ, जीवन-वृत्तो, प्रसगो द्वारा आत्मानुशासन मे गतिशील होना।

धर्मध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ—भावनाएँ या विचारोत्कर्ष की अभ्यास-प्रणालिकाएँ बतलाई गई हैं। वे इस प्रकार हैं—

१ अनित्यानुप्रेक्षा—सुख, सम्पत्ति, वैभव, भोग, देह, यौवन, आरोग्य, जीवन, परिवार आदि सभी ऐहिक वस्तुएँ अनित्य है—अशाश्वत हैं, यो चिन्तन करना, ऐसे विचारो का अभ्यास करना।

२ अशरणानुप्रेक्षा—जन्म, जरा, रोग, कष्ट, वेदना, मृत्यु आदि की दुर्धर विभीषिका मे जिनेश्वर देव के वचन के अतिरिक्त जगत् मे और कोई शरण नही है, यो बार-बार चिन्तन करना।

३ एकत्वानुप्रेक्षा—मृत्यु, वेदना, पीडा, शोक, शुभ-अशुभ कर्म-फल इत्यादि सब जीव अकेला ही पाता है, भोगता है, सुख, दु ख, उत्थान, पतन आदि का सारा दायित्व एकमात्र अपना अकेले का है। अत क्यो न प्राणी आत्मकल्याण साधने मे जुटे, इस प्रकार की वैचारिक प्रवृत्ति जगाना, उसे बल देना, गतिशील करना।

४ ससारानुप्रेक्षा—ससार मे यह जीव कभी पिता, कभी पुत्र, कभी माता, कभी पुत्री, कभी भाई, कभी बहिन, कभी पति, कभी पत्नी होता है—इत्यादि कितने-कितने रूपो मे ससरण करता है, यो वैविध्यपूर्ण सासारिक सम्बन्धो का, सासारिक स्वरूप का पुन.-पुन. चिन्तन करना, आत्मोन्मुखता पाने हेतु विचाराभ्यास करना।

शुक्लध्यान स्वरूप, लक्षण, ग्रालम्बन तथा ग्रनुप्रेक्षा के भेद से चार प्रकार का कहा गया है। इनमे से प्रत्येक के चार-चार भेद हैं।

स्वरूप की दृष्टि से शुक्लध्यान के चार भेद इस प्रकार हैं—

(१) पृथक्त्व-वितर्क-सविचार

वितर्क का ग्रर्थ श्रुतावलम्बी विकल्प है। पूर्वधर मुनि पूर्वश्रुत—विशिष्ट ज्ञान के ग्रनुसार किसी एक द्रव्य का ग्रालम्बन लेकर ध्यान करता है किन्तु उसके किसी एक परिणाम या पर्याय (क्षण-क्षणवर्ती ग्रवस्था-विशेष) पर स्थिर नही रहता, उसके विविध परिणामो पर सचरण करता है—शब्द से ग्रर्थ पर, ग्रर्थ से शब्द पर तथा मन, वाणी एव देह मे एक दूसरे की प्रवृति पर सक्रमण करता है, ग्रनेक ग्रपेक्षाग्रो से चिन्तन करता है। ऐसा करना पृथकत्व-वितर्क-सविचार शुक्लध्यान है। शब्द, ग्रर्थ, मन, वाक् तथा देह का सक्रमण होते रहने पर भी ध्येय द्रव्य एक ही होता है।

विवेचन—महर्षि पतञ्जलि ने योगसूत्र मे सवितर्क-समापत्ति का जो वर्णन किया है, वह पृथकत्व-वितर्क-सविचार शुक्लध्यान से तुलनीय है। वहाँ शब्द, ग्रर्थ ग्रौर ज्ञान—इन तीनो के विकल्पो से संकीर्ण—सम्मिलित समापत्ति—समाधि को सवितर्क-समापत्ति कहा गया है।[1]

जैन एव पातञ्जल योग से सम्बद्ध इन दोनों विधाग्रो की गहराई मे जाने से ग्रनेक दार्शनिक तथ्यो का प्राकटच सभाव्य है।

(२) एकत्व-वितर्क-अविचार

पूर्वधर-पूर्वसूत्र का ज्ञाता-पूर्वश्रुत-विशिष्ट ज्ञान के किसी एक परिणाम पर चित्त को स्थिर करता है। वह शब्द, ग्रर्थ, मन, वाक् तथा देह पर सक्रमण नही करता। वैसा ध्यान एकत्व-वितर्क-ग्रविचार की संज्ञा से ग्रभिहित है। पहले मे पृथक्त्व है ग्रत वह सविचार है, दूसरे मे एकत्व है, इस ग्रपेक्षा से उसकी ग्रविचार सज्ञा है। दूसरे शब्दो मे यो कहा जा सकता है कि पहले मे वैचारिक सक्रम है, दूसरे मे ग्रसक्रम। ग्राचार्य हेमचन्द्र ने इन्हे नानात्व-श्रुत-विचार तथा ऐक्य-श्रुत-ग्रविचार सज्ञा से ग्रभिहित किया है।[2]

विवेचन—महर्षि पतञ्जलि द्वारा वर्णित निर्वितर्क-समापत्ति एकत्व-वितर्क-ग्रविचार से तुलनीय है। पतञ्जलि लिखते हैं—

"जब स्मृति परिशुद्ध हो जाती है ग्रर्थात् शब्द ग्रौर प्रतीति की स्मृति लुप्त हो जाती है, चित्तवृत्ति केवल ग्रर्थमात्र का—ध्येयमात्र का निर्भास करने वाली—ध्येयमात्र के स्वरूप को प्रत्यक्ष करने वाली हो, स्वयं स्वरूपशून्य की तरह बन जाती हो, तब वैसी स्थिति निर्वितर्क-समापत्ति से सज्ञित होती है।[3]

---

१ तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पै सकीर्णा सवितर्का समापत्ति। —पातञ्जल योगदर्शन १ ४२

२. ज्ञेय नानात्वश्रुतविचारमैक्यश्रुताविचार च।
सूक्ष्मक्रियमुत्सन्नक्रियमिति भेदैश्चतुर्धा तत्॥ —योगशास्त्र ११ ५

३. स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का। —पातञ्जल योगदर्शन १ ४३

यह विवेचन स्थूल ध्येय पदार्थों की दृष्टि से है। जहाँ ध्येय पदार्थ सूक्ष्म हों, वहाँ उक्त दोनो की सज्ञा सविचार और निर्विचार समाधि है, ऐसा पतञ्जलि कहते हैं।[1]

निर्विचार-समाधि मे अत्यन्त वैशद्य—नैर्मल्य रहता है। अत योगी उसमे अध्यात्म-प्रसाद—आत्म-उल्लास प्राप्त करता है। उस समय योगी की प्रज्ञा ऋतभरा होती है, 'ऋतम्' का अर्थ सत्य है। वह प्रज्ञा या विशिष्ट बुद्धि सत्य का ग्रहण करने वाली होती है। उसमे संशय और भ्रम का लेश भी नही रहता। उस ऋतभरा प्रज्ञा से उत्पन्न संस्कारो के प्रभाव से अन्य संस्कारो का अभाव हो जाता है। अन्तत ऋतभरा प्रज्ञा से जनित सस्कारो मे भी आसक्ति न रहने के कारण उनका भी निरोध हो जाता है। यो समस्त सस्कार निरुद्ध हो जाते हैं। फलत संसार के बीज का सर्वथा अभाव हो जाता है, निर्बीज-समाधि-दशा प्राप्त होती है।

इस सम्बन्ध मे जैन दृष्टिकोण इस प्रकार है--

जैनदर्शन के अनुसार आत्मा पर जो कर्मावरण छाये हुए है, उन्ही के कारण उसका शुद्ध स्वरूप आवृत है। ज्यो-ज्यो उन आवरणो का विलय होता जाता है, आत्मा की वैभाविक दशा छूटती जाती है और वह स्वाभाविक दशा प्राप्त करती जाती है। आवरण के अपचय या नाश के जैनदर्शन मे तीन क्रम है—क्षय, उपशम तथा क्षयोपशम। किसी कार्मिक आवरण का सर्वथा नष्ट या निर्मूल हो जाना क्षय, अवधिविशेष के लिए शान्त हो जाना उपशम तथा कर्मों की कतिपय प्रकृतियो का सर्वथा क्षीण हो जाना तथा कतिपय प्रकृतियो का अवधिविशेष के लिए उपशान्त हो जाना क्षयोपशम कहा जाता है। कर्मों के उपशम से जो समाधि-अवस्था प्राप्त होती है वह सबीज है, क्योकि वहाँ कर्म-बीज का सर्वथा उच्छेद नही होता, केवल उपशम होता है। कार्मिक आवरणो के सम्पूर्ण क्षय से जो समाधि-अवस्था प्राप्त होती है, वह निर्बीज है, क्योकि वहाँ कर्म-बीज परिपूर्ण रूप में दग्ध हो जाता है। कर्मों के उपशम से प्राप्त उन्नत दशा फिर अवनत दशा मे परिवर्तित हो जाती है, पर कर्म-क्षय से प्राप्त उन्नत दशा मे ऐसा नही होता।

एकत्व-वितर्क-अविचार शुक्लध्यान मे, पृथक्त्व-वितर्क-सविचार ध्यान की अपेक्षा अधिक एकाग्रता होती है। यह ध्यान भी पूर्व-धारक मुनि ही कर सकते हैं। इसके प्रभाव से चार घाति-कर्मों का सम्पूर्ण क्षय हो जाता है और केवलज्ञान-दर्शन प्राप्त कर ध्याता—आत्मा सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बन जाता है।

सूक्ष्मक्रिय-अप्रतिपाति—जब केवली (जिन्होने केवलज्ञान या सर्वज्ञत्व प्राप्त कर लिया हो) आयु के अन्त समय मे योग-निरोध का क्रम प्रारभ करते है, तब वे मात्र सूक्ष्म काययोग का अवलम्बन किये होते हैं, उनके और सब योग निरुद्ध हो जाते हैं। उनमे श्वास-प्रश्वास जैसी सूक्ष्म क्रिया ही अवशेष रह जाती है। वहाँ ध्यान से च्युत होने की कोई सभावना नही रहती। तदवस्थागत एकाग्र चिन्तन सूक्ष्मक्रिया-अप्रतिपाति शुक्लध्यान है।

यह तेरहवें गुणस्थान मे होता है।

---

१ एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता। —पातञ्जल योगदर्शन १ ४४

समुच्छिन्नक्रिय अनिवृत्ति

यह ध्यान अयोगकेवली नामक चतुर्दश गुणस्थान मे होता है। अयोगकेवली अन्तिम गुणस्थान है। वहाँ सभी योगो—क्रियाओ का निरोध हो जाता है, आत्मप्रदेशो मे सब प्रकार का कम्पन-परिस्पन्दन बन्द हो जाता है। उसे समुच्छिन्नक्रिय-अनिवृत्ति शुक्लध्यान कहा जाता है। इसका काल अत्यल्प-पाच ह्रस्व स्वरो को मध्यम गति से उच्चारण करने मे जितना समय लगता है, उतना ही है। यह ध्यान मोक्ष का साक्षात् कारण है।

विवेचन—समुच्छिन्नक्रिय-अनिवृत्ति वह स्थिति है, जब सब प्रकार के स्थूल तथा सूक्ष्म मानसिक, वाचिक तथा दैहिक व्यापारो से आत्मा सर्वथा पृथक् हो जाती है। इस ध्यान के द्वारा अवशेष चार अघाति कर्म—वेदनीय, नाम, गोत्र तथा आयु भी नष्ट हो जाते हैं। फलत· आत्मा सर्वथा निर्मल, शान्त, निरामय, निष्क्रिय, निर्विकल्प होकर सम्पूर्ण आनन्दमय मोक्ष-पद को स्वायत्त कर लेता है।

वस्तुत आत्मा की यह वह दशा है, जिसे चरम लक्ष्य के रूप मे उद्दिष्ट कर साधक साधना मे सलग्न रहता है। यह आत्मप्रकर्ष की वह अन्तिम मजिल है, जिसे अधिगत करने का साधक सदैव प्रयत्न करता है। यह मुक्तावस्था है, सिद्धावस्था है, जब साधक के समस्त योग—प्रवृत्तिक्रम सम्पूर्णत. निरुद्ध हो जाते हैं, कर्मक्षीण हो जाते है, वह शैलेशीदशा—मेरुवत् सर्वथा अप्रकम्प, अविचल स्थिति प्राप्त कर लेता है। फलत· वह सिद्ध के रूप मे सर्वोच्च लोकाग्र भाग मे सस्थित हो जाता है।[1]

शुक्लध्यान के चार लक्षण बतलाये गये है। वे इस प्रकार है—

१. विवेक—देह से आत्मा की भिन्नता—भेद-विज्ञान, सभी सायोगिक पदार्थों की आत्मा से पार्थक्य की प्रतीति।

२ व्युत्सर्ग—नि सग भाव से—अनासक्तिपूर्वक शरीर तथा उपकरणो का विशेष रूप से उत्सर्ग—त्याग अर्थात् देह तथा अपने अधिकारवर्ती भौतिक पदार्थों से ममता हटा लेना।

३ अव्यथा—देव, पिशाच आदि द्वारा कृत उपसर्ग से व्यथित, विचलित नही होना, पीडा तथा कष्ट आने पर आत्मस्थता नही खोना।

४ असमोह—देव आदि द्वारा रचित मायाजाल मे तथा सूक्ष्म भौतिक विषयो मे समूढ या विभ्रान्त नही होना।

विवेचन—ध्यानरत पुरुष स्थूल रूप मे तो भौतिक विषयो का त्याग किये हुए होता ही है, ध्यान के समय जब कभी इन्द्रिय-भोग संबधी उत्तेजक भाव उठने लगते हैं तो उनसे भी वह विभ्रान्त एव विचलित नही होता।

---

१ जया जोगे निरु भित्ता, सेलेसिं पडिवज्जइ।
तया कम्म खवित्ताण, सिद्धि गच्छइ नीरओ।
जया कम्म खवित्ताण, सिद्धि गच्छइ नीरओ।
तया लोगमत्थयत्थो, सिद्धो हवइ सासओ॥ —दशवैकालिक सूत्र ४ २४-२५

शुक्लध्यान के चार आलम्बन कहे गये हैं। वे इस प्रकार हैं—

१ क्षान्ति—क्षमाशीलता, सहनशीलता।

२ मुक्ति—लोभ आदि के बन्धन से उन्मुक्तता।

३ आर्जव—ऋजुता—सरलता, निष्कपटता।

४ मार्दव—मृदुता—कोमलता, निरभिमानिता।

शुक्लध्यान की चार अनुप्रेक्षाए (भावनाए) बतलाई गई हैं। वे इस प्रकार हैं—

१ अपायानुप्रेक्षा—आत्मा द्वारा आचरित कर्मों के कारण उत्पद्यमान अपाय—अवाञ्छित, दु खद स्थितियो—अनर्थों के सम्बन्ध मे पुन पुन चिन्तन।

२. अशुभानुप्रेक्षा—ससार के अशुभ-पाप-पकिल, आध्यात्मिक दृष्टि से अप्रशस्त स्वरूप का बार-बार चिन्तन।

३ अनन्तवृत्तितानुप्रेक्षा—भवभ्रमण या ससारचक्र की अनन्तवृत्तिता अन्त काल तक चलते रहने की वृत्ति—स्वभाव पर पुन पुन चिन्तन।

४ विपरिणामानुप्रेक्षा—क्षण-क्षण विपरिणत होती—विविध परिणामो मे से गुजरती, परिवर्तित होती वस्तु-स्थिति पर—वस्तु-जगत् की विपरिणामधर्मिता पर बार-बार चिन्तन।

यह ध्यान का विवेचन है।

व्युत्सर्ग

व्युत्सर्ग क्या है—उसके कितने भेद हैं?

व्युत्सर्ग के दो भेद बतलाये गये है—

१ द्रव्य-व्युत्सर्ग, २ भाव-व्युत्सर्ग।

द्रव्य-व्युत्सर्ग क्या है—उसके कितने भेद है?

द्रव्य-व्युत्सर्ग के चार भेद है। वे इस प्रकार हैं—

१ शरीर-व्युत्सर्ग—देह तथा दैहिक सम्बन्धो की ममता या आसक्ति का त्याग।

२ गण-व्युत्सर्ग—गण एव गण के ममत्व का त्याग।

३ उपधि-व्युत्सर्ग—उपधि का त्याग करना एव साधन-सामग्रीगत ममता का, साधन-सामग्री को मोहक तथा आकर्षक बनाने हेतु प्रयुक्त होने वाले साधनो का त्याग।

४ भक्त-पान-व्युत्सर्ग—आहार-पानी का, तद्गत आसक्ति या लोलुपता आदि का त्याग।

भाव-व्युत्सर्ग क्या है—उसके कितने भेद हैं?

भाव-व्युत्सर्ग के तीन भेद कहे गये हैं—१. कषाय-व्युत्सर्ग, २ ससार-व्युत्सर्ग, ३ कर्म-व्युत्सर्ग।

कषाय-व्युत्सर्ग क्या है—उसके कितने भेद हैं?

कषाय-व्युत्सर्ग के चार भेद बतलाये गये हैं, जो इस प्रकार हैं—

१ क्रोध-कषाय-व्युत्सर्ग—क्रोध का त्याग ।
२. मान-व्युत्सर्ग—अहकार का त्याग ।
३. माया-व्युत्सर्ग—छल-कपट का त्याग ।
४ लोभ-व्युत्सर्ग—लालच का त्याग ।
यह कषाय-व्युत्सर्ग का विवेचन है ।

ससारव्युत्सर्ग क्या है—वह कितने प्रकार का है ?

ससारव्युत्सर्ग चार प्रकार का बतलाया गया है । वह इस प्रकार है—

१ नैरयिक-ससारव्युत्सर्ग—नरक-गति बँधने के कारणो का त्याग ।
२. तिर्यक्-ससारव्युत्सर्ग—तिर्यञ्च-गति बँधने के कारणो का त्याग ।
३ मनुज-संसारव्युत्सर्ग—मनुष्य-गति बँधने के कारणो का त्याग ।
४ देव-ससारव्युत्सर्ग—देव-गति बँधने के कारणो का त्याग ।
यह ससारव्युत्सर्ग का वर्णन है ।

कर्मव्युत्सर्ग क्या है—वह कितने प्रकार का है ?

कर्मव्युत्सर्ग आठ प्रकार का बतलाया गया है । वह इस प्रकार है—

१ ज्ञानावरणीण-कर्म-व्युत्सर्ग—आत्मा के ज्ञान गुण के आवरक कर्म-पुद्गलो के बँधने के कारणो का त्याग ।

२ दर्शनावरणीय-कर्म-व्युत्सर्ग—आत्मा के दर्शन—सामान्य ज्ञान गुण के आवरक कर्म-पुद्गलो के बँधने के कारणो का त्याग ।

३ वेदनीय-कर्म-व्युत्सर्ग—साता-असाता—सुख-दु ख रूप वेदना के हेतुभूत कर्म-पुद्गलो के बँधने के कारणो का त्याग, सुख-दु खात्मक अनुकूल-प्रतिकूल वेदनीयता मे आत्मा को तद्-अभिन्न मानने का उत्सर्जन ।

४ मोहनीय-कर्म-व्युत्सर्ग—आत्मा के स्वप्रतीति—स्वानुभूति-स्वभावरमणरूप गुण के आवरक कर्म-पुद्गलो के बँधने के कारणो का त्याग ।

५ आयुष्य-कर्म-व्युत्सर्ग - किसी भव मे—पर्याय मे रोक रखने वाले आयुष्य कर्म के पुद्गलो के बँधने के कारणो का त्याग ।

६ नाम-कर्म-व्युत्सर्ग—आत्मा के अमूर्तत्व गुण के आवरक कर्म-पुद्गलो के बँधने के कारणो का त्याग ।

७ गोत्र-कर्म-व्युत्सर्ग—आत्मा के अगुरुलघुत्व (न भारीपन-न हलकापन) रूप गुण के आवरक कर्म-पुद्गलो के बँधने के कारणो का त्याग ।

८. अन्तराय-कर्म-व्युत्सर्ग—आत्मा के शक्ति-रूप गुण के आवरक, अवरोधक कर्म-पुद्गलो के बँधने के कारणो का त्याग ।

यह कर्मव्युत्सर्ग है ।
इस प्रकार व्युत्सर्ग का विवेचन है ।

विवेचन—यहाँ प्रस्तुत बाह्य तथा आभ्यन्तर तप का विश्लेषण अध्यात्म साधना की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। तप ही जीवन के अन्तिम साध्य मोक्ष तक पहुँचाने का प्रमुख मार्ग है। भारत की सभी धर्म-परपराओ मे तप पर विशेष जोर दिया जाता रहा है।

भारत की अध्यात्म-साधना के विकास एव विस्तार की ऐतिहासिक गवेषणा करने पर तप मूलक अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रकाश मे आते हैं। उदाहरणार्थ कभी ऐसे साधको का एक विशेष आम्नाय इस देश मे था, जो तप को ही सर्वाधिक महत्त्व देते थे। उनमे अवधूत साधको की एक विशेष परपरा थी।

वैदिक तथा पौराणिक साहित्य मे अवधूत शब्द विशेष रूप से प्रयुक्त है। अवधूत का शाब्दिक विश्लेषण करे तो इसका तात्पर्य सर्वथा कपा देने वाला या हिला देने वाला है। अवधूत शब्द के साथ प्राचीन वाङ्मय मे जो भाव जुडा है उसकी साध्यता यो बन सकती है—अवधूत वह है, जिसने भोग-वासना को प्रकपित कर दिया हो, अपने तपोमय भोग-विरत जीवन द्वारा एषणाओं और लिप्साओ को झकझोर दिया हो। भागवत मे ऋषभ को एक महान् तपस्वी अवधूत साधक के रूप मे व्याख्यात किया गया है। वहाँ लिखा है—

"भगवान् ऋषभ के सौ पुत्र थे। भरत सबमे ज्येष्ठ थे। वे परम भागवत तथा भक्तो के अनुरागी थे। ऋषभ ने पृथ्वी का पालन करने के लिए उन्हे राज्यारूढ किया। स्वयं सब कुछ वही छोडकर वे केवल देह मात्र का परिग्रह लिये घर से निकल पडे। आकाश ही उनका परिधान था। उनके बाल बिखरे हुए थे। आहवनीय—हवन योग्य अग्नि को मानो उन्होने अपने मे लीन कर लिया हो, यो वे ब्रह्मावर्त से बाहर निकल गये।

कभी शहरो मे, कभी गाँवो मे, कभी खदानो मे, कभी कृषको की बस्तियो मे, उद्यानो मे, पहाडी गाँवो मे, सेना के शिविरो मे, ग्वालो की झोपडियो मे, पहाडो मे, वनो में, आश्रमो मे—ऐसे ही अन्यान्य स्थानो मे टिकते, विचरते। वे कभी किसी रास्ते से निकलते तो जैसे वन मे घूमने वाले हाथी को मक्खियाँ तग करती है, उसी प्रकार अज्ञानी, दुष्ट जन उनके पीछे हो जाते और उन्हे सताते, उन्हे धमकाते, ताडना देते, उन पर मूत्र कर देते, थूक देते, पत्थर मार देते, विष्ठा और धूल फेंक देते, उन पर अधोवायु छोडते, अपभाषण द्वारा उनकी अवगणना—तिरस्कार करते, पर वे उन सब बातो पर जरा भी गौर नही करते। क्योकि भ्रान्तिवश जिस शरीर को सत्य कहा जाता है, उस मिथ्या देह मे उनका अहभाव या ममत्व जरा भी नही रह गया था। वे कार्य-कारणात्मक समस्त जगत्प्रपञ्च को साक्षी या तटस्थ के रूप मे देखते, अपने पामात्म-स्वरूप मे लीन रहते और अपनी चित्तवृत्ति को अखण्डित—सुस्थिर बनाये पृथ्वी पर एकाकी विचरण करते।[1]

भागवत मे जड भरत[2] तथा दत्तात्रेय[3] का भी अवधूत के रूप मे वर्णन आया है, जहाँ उनके उग्र तपोमय जीवन की विस्तृत चर्चा है। योगिराज भर्तृहरि भी अवधूत के रूप मे विख्यात रहे हैं।

---

१. भागवत पञ्चम स्कन्ध, ५ २८-३१

२ भागवत पञ्चम स्कन्ध, ७—१०

३ भागवत एकादश स्कन्ध, अध्याय ७

अवधूतगीता नामक एक पुस्तक भी प्राप्त है, जिसमे तपोमय अवधूत-चर्या का वर्णन है। अवधूतगीता के प्रणेता के रूप में दत्तात्रेय का नाम लिया जाता है। पर, रचनाकाल, रचनाकार आदि के सन्दर्भ मे उसकी प्रामाणिकता सदिग्ध है। वह एक अर्वाचीन रचना प्रतीत होती है, जिसमे भागवत आदि के आधार पर अवधूत-चर्या का सकलन उपस्थित किया गया है।

यह तीव्रतप पूर्ण साधनाक्रम एक सप्रदाय विशेष तक सीमित नही रहा। थोड़े बहुत भेद के साथ सभी परपराओ मे स्थान पा गया। बोधि प्राप्त होने से पूर्व भगवान् बुद्ध ने अति घोर तपस्या का मार्ग अपनाया था। मज्झिमनिकाय मे उन्होने अपने प्रमुख शिष्य सारिपुत्त को सबोधित कर अपने तपश्चरण के सम्बन्ध मे विस्तार से कहा है।[1]

अवधूत साधक का जिस प्रकार का विवेचन भागवत मे आया है, जैसा मज्झिमनिकाय मे बुद्ध के तपश्चरण का वर्णन है, उसी विधा का सस्पर्श करता हुआ वर्णन जैन आगमो मे भी प्राप्त होता है। जैन आगमो मे आचारागसूत्र का सर्वाधिक महत्त्व है। वह ऐतिहासिक तथा भाषाशास्त्रीय दृष्टि से सबसे अधिक प्राचीन माना जाता है। आचाराग के नवम अध्ययन मे भगवान् महावीर की चर्या का वर्णन है। जैसी कृच्छ्र साधना वे करते थे, वह वही साधक कर सकता है जो भौतिक सुख-सुविधा को मन से सर्वथा निकाल चुका हो, जिसके लिए शरीर बिल्कुल गौण हो गया हो, जो आत्मभाव मे सम्पूर्णत अपने को खोये हुए हो। भगवान् महावीर अपने साधना-मार्ग मे आनेवाले भीषणतम विघ्नो, दु सह बाधाओ और कष्टो को झेलते हुए मस्ती से अपने गन्तव्य की ओर गतिशील रहे। मनुष्यकृत, पशुकृत, इतरजीव-जन्तु-कीटाणु-कृत उपसर्ग, जिनसे आदमी थर्रा उठता है, उनके लिए कुछ भी नही थे। एक ऐसा नितान्त आत्मजनीन जीवन, जिसमे लोकजनीनता का भाव अत्यन्त तिरोहित था, स्वीकार किये अपनी साधना मे उत्तरोत्तर प्रगति करते गये। कठोरतम क्लेशो के प्रति उपेक्षाभाव तथा लोकसग्रह एव लोकानुकूल्य के प्रति सपूर्ण औदासीन्य, परकृत तिरस्कार और अवहेलना से सर्वथा अप्रभावितता ये कुछ ऐसी बाते थी, जिनका प्रवाह अवधूत-साधना से दूरवर्ती नही कहा जा सकता।

आचाराग सूत्र के छठे अध्ययन का नाम 'धूताध्ययन' है। अवधूत पद मे 'धूत' शब्द है ही। जैसा पहले इसका अर्थ किया गया है, अवधूत वह है, जो आत्मा के विजातीय भाव को अथवा भोग-लिप्सा, वासना, तृष्णा एवं आसक्ति को सपूर्णत कपा दे, हिला दे, डगमगा दे।

बौद्धचर्या मे भी धूतागो के नाम से विसुद्धिमग्ग आदि मे विवेचन है।

भाषावैज्ञानिक दृष्टि से विचार करे तो प्रतीत होता है, इन दोनो ही परपराओ मे कभी अवधूत शब्द गृहीत रहा हो, जो आगे चलकर प्रयत्न-लाघव आदि के कारण संक्षिप्तीकरण की दृष्टि से 'अव' उपसर्ग को हटाकर केवल धूत (धुत) ही रख लिया गया हो। अवधूत पद मे मुख्य तो धूत शब्द ही है।

भाषा-विज्ञान का यह प्रयत्न-लाघव-मूलक क्रम व्याकरण मे भी दृष्टिगोचर होता है। 'एकशेष' समास मे, जहाँ दो शब्द मिलकर 'समस्त' पद बनाते हैं, समास के निष्पन्न होने पर एक ही शब्द अवशिष्ट रह जाता है, जो दोनो शब्दो का अभिप्राय व्यक्त करता है। उदाहरणार्थ—भ्राता (भाई) और स्वसा (बहिन)—इन दोनो का समास करने पर 'भ्रातरौ' मात्र रहेगा। वैसे साधारण

१ मज्झिमनिकाय, महासीहनादसुत्तन्त १ २ २

भ्रातरौ 'भ्रातृ' शब्द का प्रथमा विभक्ति का द्विवचन रूप है, जिसका अर्थ 'दो भाई' होता है। पर, समास के रूप में यह भाई और बहिन का द्योतक है। उसी प्रकार पुत्र (बेटा) और दुहिता (बेटी) का समास करने पर समस्त पद 'पुत्रौ' होगा।[1] इसी प्रकार और अनेक शब्द हैं। प्रश्न उपस्थित होता है, वैयाकरणो ने वैसा क्यो किया। इस सम्बन्ध मे प्रयत्न-लाघव और संक्षिप्तीकरण के रूप मे ऊपर जो संकेत किया गया है, तदनुसार प्रयत्न-लाघव का यह क्रम भाषा मे चिरकाल से चला-आ रहा है। प्रयत्न-लाघव को 'मुख-सुख' भी कहते हैं। हर व्यक्ति का प्रयास रहता है कि उसे किसी शब्द के बोलने मे विशेष कठिनाई न हो, उसका मुँह सुखपूर्वक उसे बोल सके, बोलने मे कम समय लगे। भाषाशास्त्री बतलाते है कि किसी भी जीवित भाषा मे विकास या परिवर्तन का नव्वे प्रतिशत से अधिक आधार यही है।[2] परिनिष्ठित भाषाओ के इर्दगिर्द चलने वाली लोक-भाषाएँ अपने बहुआयामी विकास मे इसी आधार को लिए अग्रसर होती हैं। जैसे सस्कृत का आलक्तक शब्द 'आलता' के रूप मे सक्षिप्त और मुखसुखकर बन जाता है। अग्रेजी आदि पाश्चात्य भाषाओ मे भी यह बात रही है। उदाहरणार्थ अग्रेजी के Knife शब्द को ले। सही रूप मे यह 'क्नाइफ' उच्चारित होना चाहिए, पर यहाँ उच्चारण मे K लुप्त है। यद्यपि यह एकागी उदाहरण है, क्योकि शब्द के अवयव मे K विद्यमान है पर उच्चारण के सन्दर्भ मे प्रयत्न-लाघव की बात इससे सिद्ध होती है। ऐसे सैकडो शब्द अग्रेजी मे है।

आचाराग के धूताध्ययन मे साधक की जिस चर्या का वर्णन है, वह ऐसी कठोर साधना से जुडी है, जहाँ शारीरिक क्लेश, उपद्रव, विघ्न, बाधा आदि को जरा भी विचलित हुए बिना सह जाने का सकेत है। वहाँ कहा गया है—

"यदि साधक को कोई मनुष्य गाली दे, अग-भग करे, अनुचित और गलत शब्दो द्वारा सबोधित करे, झूठा आरोप लगाए, साधक सम्यक् चिन्तन द्वारा इन्हे सहन करे।"[3]

"सयम-साधना के लिए उत्थित, स्थितात्मा, अनीह—धीर, सहिष्णु, परिषह—कष्ट से अप्रकम्पित रहने वाला, कर्म-समूह को प्रकम्पित करनेवाला, सयम मे सलग्न रहनेवाला साधक अप्रतिबद्ध होकर विचरण करे।"[4]

इस प्रकार साधक की दु सह अति कठोर एव उद्दीप्त साधना का वहाँ विस्तृत वर्णन है।

---

१ भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्याम्।
भ्राता च स्वसा च भ्रातरौ।
पुत्रश्च दुहिता च पुत्रौ। —वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी १ २ ६८, पृष्ठ ९४

२ भाषाविज्ञान—पृष्ठ ५२, ३७९

३ से अक्कुट्ठे व हए व लूसिए वा।
पलिय पगथे अदुवा पगथे।
अतहेहिं सद्द-फासेहिं, इति सखाए। —आयारो १,६,२ ४१,४३

४ एव से उट्ठिए ठियप्पा, अणिहे अचले चले,
अबहिलेस्से परिव्वए। —आयारो १,६,५ १०६

अनगारों द्वारा उत्कृष्ट धर्माराधना

३१—तेणं कालेणं तेण समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स बहवे अणगारा भगवंतो अप्पेगइया आयारधरा, जाव (सूयगडधरा, ठाणधरा, समवायधरा, वियाहपण्णत्तिधरा, नायधम्मकहाधरा, उवासगदसाधरा, अंतगडदसाधरा, अणुत्तरोववाइयदसाधरा, पण्हावागरणधरा,) विवागसुयधरा, तत्थ तत्थ तहिं तहिं देसे देसे गच्छागच्छि गुम्मागुम्मि फड्डाफड्डि अप्पेगइया वायंति, अप्पेगइया पडिपुच्छंति, अप्पेगइया परियट्टंति, अप्पेगइया अणुप्पेहंति, अप्पेगइया अक्खेवणीओ, विक्खेवणीओ, संवेयणीओ, णिव्वेयणीओ बहुविहाओ कहाओ कहंति, अप्पेगइया उड्ढंजाणू, अहोसिरा, झाणकोट्ठोवगया संजमेणं तवसा भावेमाणा विहरंति ।

३१—उस काल, उस समय—जब भगवान् महावीर चम्पा मे पधारे, उनके साथ उनके अनेक अन्तेवासी अनगार—श्रमण थे । उनके कई एक आचार (सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथा, उपासकदशा, अन्तकृद्दशा, अनुत्तरौपपातिकदशा, प्रश्नव्याकरण) तथा विपाकश्रुत के धारक थे । वे वहीं—उसी उद्यान मे भिन्न-भिन्न स्थानो पर एक-एक समूह के रूप मे, समूह के एक-एक भाग के रूप मे तथा फुटकर रूप मे विभक्त होकर अवस्थित थे । उनमे कई आगमो की वाचना देते थे—आगम पढाते थे । कई प्रतिपृच्छा करते थे—प्रश्नोत्तर द्वारा शका-समाधान करते थे । कई अधीत पाठ की परिवर्तना—पुनरावृत्ति करते थे । कई अनुप्रेक्षा—चिन्तन-मनन करते थे ।

उनमे कई आक्षेपणी—मोहमाया से दूर कर समत्व की ओर आकृष्ट तथा उन्मुख करने वाली, विक्षेपणी—कुत्सित मार्ग से विमुख करने वाली, सवेगनी—मोक्षसुख की अभिलाषा उत्पन्न करने वाली तथा निर्वेदनी - ससार से निर्वेद, वैराग्य, औदासीन्य उत्पन्न करने वाली—यो अनेक प्रकार की धर्म-कथाएँ कहते थे ।

उनमे कई अपने दोनो घुटनो को ऊँचा उठाये, मस्तक को नीचा किये—यो एक विशेष आसन में अवस्थित हो ध्यानरूप कोष्ठ मे—कोठे मे प्रविष्ट थे- ध्यान-रत थे ।

इस प्रकार वे अनगार सयम तथा तप से आत्मा को भावित—अनुप्राणित करते हुए अपनी जीवन-यात्रा चला रहे थे ।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र से यह स्पष्ट है कि भगवान् महावीर के समय मे श्रमणो मे आगमो के सतत् विधिवत् अध्ययन तथा ध्यानाभ्यास का विशेष प्रचलन था । जैसा यहाँ वर्णित हुआ है, भगवान् महावीर के अन्तेवासी श्रमण आवश्यकता एव उपयोगिता के अनुसार बडे-बडे या छोटे-छोटे समूहो मे अलग-अलग बैठ जाते थे, इक्के दुक्के भी बैठ जाते थे और आगमो के अध्ययन, विवेचन, तत्सम्बन्धी चर्चा, विचार-विमर्श आदि मे अत्यन्त तन्मय भाव से अपने को लगाये रखते थे । पठन-पाठन चिन्तन-मनन की बडी स्वस्थ परम्परा वह थी ।

जिन्हे ध्यान या योग-साधना मे विशेष रस होता था, वे अपनी भावना, अभ्यास तथा धारणा के अनुरूप विभिन्न दैहिक स्थितियो मे अवस्थित हो उधर सलग्न रहते थे ।

३२—संसारभउव्विग्गा, भीया, जम्मण-जर-मरण-करणगम्भीरदुक्खपक्खुभियपउरसलिलं, संजोग-विओग-वीचिचिंतापसंगपसरिय-वह-बंध- महल्लविउलकल्लोल- कलुणविलविय- लोभकलकलंत-बोलबहुलं, अवमाणणफेण-तिव्व-खिंसण-पुलंपुलप्पभूय-रोग-वेयणपरिभव-विणिवाय-फरुसधरिसणा-समावडियकढिणकम्मपत्थर-तरंगरंगंत-निच्चमच्चुभय-तोयपट्ठं, कसाय-पायालसंकुलं, भवसयसहस्स-कलुसजल-संचयं, पइभयं, अपरिमियमहिच्छ-कलुसमइ-वाउवेगउद्धुम्ममाण-दगरयरयंधआर-वरफेण-पउर-आसापिवासधवलं, मोहमहावत्त-भोग-भममाण-गुप्पमाणुच्छलंत-पच्चोणियत्त-पाणिय-पमाय-चंडबहुदुट्ठ-सावयसमाहयउद्धायमाण-पब्भार-घोरकंदिय-महारवरवंतभेरवरवं, अण्णाणभमंतमच्छपरिहत्थ-अणिहुयिंदियमहामगर-तुरियचरियखोखुब्भमाण-नच्चंत-चवलचंचलचलंत-घुम्मंतजलसमूहं, अरइ-भय-विसाय-सोग-मिच्छत्त-सेलसंकडं, अणाइसंताणकम्मबंधण-किलेस-चिक्खिल्लसुदुत्तारं, अमर-नर-तिरिय-णरय-गइगमण-कुडिलपरियत्तविउलवेलं, चउरंतं, महंतमणवयग्गं, रुद्दं संसारसागरं भीमं, दरिसणिज्जं तरंति धिइधणियनिप्पकंपणे तुरियचवल संवर-वेरग्ग-तुंगकूवयसुसंपउत्तेण, णाण-सिय-विमलमूसिएणं सम्मत्त-विसुद्ध-णिज्जामएण धीरा संजम-पोएण सीलकलिया पसत्थज्झाण-तववाय-पणोल्लिय-पहाविएणं उज्जम-ववसाय-ग्गहियणिज्जरण-जयणउवओग-णाण-दंसण-[चरित्त] विसुद्धवय [वर] भंडभरियसारा, जिणवरवयणोवदिट्ठमग्गेण अकुडिलेण सिद्धिमहापट्टणाभिमुहा समणवरसत्थवाहा सुसुइ-सुसंभास-सुपण्ह-सासा गामे गामे एगरायं, णगरे णगरे पंचरायं दूइज्जंता, जिइंदिया, णिब्भया, गयभया सचित्ताचित्तमीसिएसु दव्वेसु विरागयं गया, संजया [विरता], मुत्ता, लहुया, णिरवकंखा साहू णिहुया चरंति धम्मं।

३२—वे (अनगार) ससार के भय से उद्विग्न एव चिन्तित थे—आवागमन रूप चतुर्गतिमय चक्र को कैसे पार कर पाएँ—इस चिन्ता मे व्यस्त थे।

यह ससार एक समुद्र है। जन्म, वृद्धावस्था तथा मृत्यु द्वारा जनित घोर दु ख रूप प्रक्षुभित—छलछलात प्रचुर जल से यह भरा है। उस जल मे सयोग-वियोग—मिलन तथा विरह के रूप मे लहरें उत्पन्न हो रही है। चिन्तापूर्ण प्रसगो से वे लहरे दूर-दूर तक फैलती जा रही हैं। वध तथा बन्धन रूप विशाल, विपुल कल्लोले उठ रही है, जो करुण विलपित—शोकपूर्ण विलाप तथा लोभ की कलकल करती तीव्र ध्वनि से युक्त हैं। तोयपृष्ठ -जल का ऊपरी भाग अवमानना—अवहेलना या तिरस्कार रूप झागो से ढँका है। तीव्र निन्दा, निरन्तर अनुभूत रोग-वेदना, औरो से प्राप्त होता अपमान, विनिपात—नाश, कटु वचन द्वारा निर्भर्त्सना, तत्प्रतिबद्ध ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के कठोर उदय की टक्कर से उठती हुई तरगो से वह परिव्याप्त है। वह (तोयपृष्ठ) नित्य मृत्यु भय रूप है।

यह ससार रूप समुद्र कषाय—क्रोध, मान, माया, लोभ रूप पाताल—तलभूमि से परिव्याप्त है। इस (समुद्र) मे लाखो जन्मो मे अर्जित पापमय जल सचित है। अपरिमित—असीम इच्छाओ से म्लान बनी बुद्धि रूपी वायु के वेग से ऊपर उछलते सघन जल-कणो के कारण अधकारयुक्त तथा आशा—अप्राप्त पदार्थों के प्राप्त होने की सम्भावना, पिपासा—अप्राप्त पदार्थों को प्राप्त करने की इच्छा द्वारा उजले झागो की तरह वह धवल है।

ससार-सागर मे मोह के रूप में बड़े-बडे आवर्त्त—जलमय विशाल चक्र हैं। उनमे भोग रूप भंवर—जल के छोटे गोलाकार घुमाव हैं। अत एव दु ख रूप जल भ्रमण करता हुआ—चक्र काटता हुआ, चपल होता हुआ, ऊपर उछलता हुआ, नीचे गिरता हुआ विद्यमान है। अपने मे स्थित प्रमाद-

रूप प्रचण्ड—भयानक, अत्यन्त दुष्ट—हिंसक जल-जीवो से आहत होकर ऊपर उछलते हुए, नीचे गिरते हुए, बुरी तरह चीखते-चिल्लाते हुए क्षुद्र जीव-समूहो से यह (समुद्र) व्याप्त है। वही मानो उसका भयावह घोष या गर्जन है।

अज्ञान ही भव-सागर मे घूमते हुए मत्स्यो के रूप मे है। अनुपशान्त इन्द्रिय-समूह उसमें बड़े-बड़े मगरमच्छ हैं, जिनके त्वरापूर्वक चलते रहने से जल, क्षुब्ध हो रहा है—उछल रहा है, नृत्य सा कर रहा है, चपलता-चचलतापूर्वक चल रहा है, घूम रहा है।

यह ससार रूप सागर अरति—सयम मे अभिरुचि के अभाव, भय, विषाद, शोक तथा मिथ्यात्व रूप पर्वतो से सकुल—व्याप्त है। यह अनादि काल से चले आ रहे कर्म-बधन, तत्प्रसूत क्लेश रूप कर्दम के कारण अत्यन्त दुस्तर—दुर्लंघ्य है। यह देव-गति, मनुष्य-गति, तिर्यक्-गति तथा नरक-गति में गमनरूप कुटिल परिवर्त—जलभ्रमियुक्त है, विपुल ज्वार सहित है। चार गतियो के रूप मे इसके चार अन्त—किनारे, दिशाएँ है। यह विशाल, अनन्त—अगाध, रौद्र तथा भयानक दिखाई देने वाला है। इस संसार-सागर को वे शीलसम्पन्न अनगार सयमरूप जहाज द्वारा शीघ्रतापूर्वक पार कर रहे थे।

वह (सयम-पोत) धृति—धैर्य, सहिष्णुता रूप रज्जू से बँधा होने के कारण निष्प्रकम्प—सुस्थिर था। सवर—आस्रव-निरोध—हिंसा आदि से विरति तथा वैराग्य—ससार से विरक्ति रूप उच्च कूपक—ऊँचे मस्तूल से सयुक्त था। उस जहाज मे ज्ञान रूप श्वेत—निर्मल वस्त्र का ऊँचा पाल तना हुआ था। विशुद्ध सम्यक्त्व रूप कर्णधार उसे प्राप्त था। वह प्रशस्त ध्यान तथा तप रूप वायु से अनुप्रेरित होता हुआ प्रधावित हो रहा था—शीघ्र गति से चल रहा था। उसमे उद्यम—अनालस्य, व्यवसाय—सुप्रयत्न तथा परखपूर्वक गृहीत निर्जरा, यतना, उपयोग, ज्ञान, दर्शन (चारित्र) तथा विशुद्ध व्रत रूप श्रेष्ठ माल भरा था। वीतराग प्रभु के वचनो द्वारा उपदिष्ट शुद्ध मार्ग से वे श्रमण रूप उत्तम सार्थवाह—दूर-दूर तक व्यवसाय करने वाले बड़े व्यापारी, सिद्धिरूप महापट्टन—बड़े बन्दरगाह की ओर बढ़े जा रहे थे। वे सम्यक् श्रुत—सत्सिद्धान्त-प्ररूपक आगम-ज्ञान, उत्तम सभाषण, प्रश्न तथा उत्तम आकाक्षा—सद्भावना समायुक्त थे अथवा वे सम्यक् श्रुत, उत्तम भाषण तथा प्रश्न-प्रतिप्रश्न आदि द्वारा उत्तम शिक्षा प्रदान करते थे।

वे अनगार ग्रामो मे एक-एक रात तथा नगरो मे पाँच-पाँच रात प्रवास करते हुए जितेन्द्रिय—इन्द्रियो को वश मे किये हुए, निर्भय—मोहनीय आदि भयोत्पादक कर्मों का उदय रोकने वाले, गतभय—भय से अतीत—वैसे भय को निष्फल बनाने वाले, सचित्त—जीवसहित, अचित्त—जीवरहित, मिश्रित—सचित्त—अचित्त मिले हुए द्रव्यो मे वैराग्ययुक्त—उनसे विरक्त रहने वाले, सयत—सयमयुक्त, विरत—हिंसा आदि से निवृत्त या तप मे विशेष रूप से रत—अनुरागशील (लगे हुए), या जगत् मे औत्सुक्यरहित अथवा रजस् या पापरहित, मुक्त—आसक्ति से छूटे हुए, लघुक—हलके अथवा न्यूनतम उपकरण रखने वाले, निरवकांक्ष—आकाक्षा—इच्छा रहित, साधु—मुक्ति के साधक एव निभृत—प्रशान्त वृत्तियुक्त होकर धर्म की आराधना करते थे।

भगवान् की सेवा में असुरकुमार देवों का आगमन

३३—तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स बहवे असुरकुमारा देवा अंतियं पाउब्भवित्था, काल-महाणील-सरिस-णीलगुलिय-गवल-अयसि-कुसुमप्पगासा, वियसियसयवत्तमिव

पत्तलनिम्मला, ईसीसिय-रत्त-तबणयणा, गरुलायय-उज्जु-तुंग-णासा, ओयवियसिलप्पवाल-बिंबफल-सण्णिभाहरोट्ठा, पंडुरससिसयल-विमल-णिम्मलसंख-गोखीरफेण-दगरय-मुणालिया-धवलदंतसेढी, हुयवह-णिद्धंत-धोय-तत्त-तवणिज्ज-रत्ततलतालुजीहा, अंजण-घण-कसिण-रुयग-रमणिज्ज-णिद्ध-केसा, वामेगकुंडलधरा, अद्दचंदणाणुलित्तगत्ता, ईसीसिलिंधपुप्फप्पगासाइं असंकिलिट्ठाइं सुहुमाइं वत्थाइं पवरपरिहिया, वयं च पढमं समइक्कंता, बिइयं च असंपत्ता, भद्दे जोव्वणे वट्टमाणा, तलभंगय-तुडिय-पवरभूसण-निम्मलमणिरयण-मंडियभुया, दसमुद्दामंडियग्गहत्था, चूलामणिचिंधगया, सुरूवा, महिड्ढिया, महज्जुइया, महब्बला, महायसा, महासोक्खा, महाणुभागा, हारविराइयवच्छा, कडगतुडियथंभियभुया, अंगय-कुंडल-मट्ठगंडतला, कण्णपीढधारी, विचित्तहत्थाभरणा, विचित्तमालामउलिमउडा, कल्लाण-गपवरवत्थपरिहिया, कल्लाणगपवरमल्लाणुलेवणा, भासुरबोंदी, पलंबवणमालधरा, दिव्वेणं वण्णेणं, दिव्वेणं गंधेणं, दिव्वेणं रूवेणं, एवं—फासेणं, संघाएणं, संठाणेणं, दिव्वाए इड्ढीए, जुईए, पभाए, छायाए, अच्चीए, दिव्वेणं तेएणं दिव्वाए लेसाए दस दिसाओ उज्जोवेमाणा, पभासेमाणा समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं आगम्मागम्म रत्ता, समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेंति, करेत्ता वदंति, णमसति, (वदित्ता) णमंसित्ता [साइं साइं णामगोयाइं सावेन्ति] णच्चासण्णे, णाइदूरे सुस्सूसमाणा, णमसमाणा, अभिमुहा, विणएणं पंजलिउडा पज्जुवासति ।।

३३—उस काल, उस समय श्रमण भगवान् महावीर के पास अनेक असुरकुमार देव प्रादुर्भूत-प्रकट हुए । काले महानीलमणि, नीलमणि, नील की गुटका, भैंसे के सींग तथा अलसी के पुष्प जैसा उनका काला वर्ण तथा दीप्ति थी । उनके नेत्र खिले हुए कमल सदृश थे । नेत्रो की भौंहे (सूक्ष्म रोममय तथा) निर्मल थी । उनके नेत्रो का वर्ण कुछ-कुछ सफेद, लाल तथा ताम्र जैसा था । उनकी नासिकाएँ गरुड के सदृश, लम्बी, सीधी तथा उन्नत थी । उनके होठ परिपुष्ट मूगे एव बिम्ब फल के समान लाल थे । उनकी दन्तपक्तियाँ स्वच्छ—निर्मल—कलक शून्य चन्द्रमा के टुकडो जैसी उज्ज्वल तथा शख, गाय के दूध के झाग, जलकण एव कमलनाल के सदृश धवल—श्वेत थी । उनकी हथेलियाँ, पैरो के तलवे, तालु तथा जिह्वा—अग्नि मे गर्म किये हुए, धोये हुए पुन तपाये हुए, शोधित किये हुए निर्मल स्वर्ण के समान लालिमा लिये हुए थे । उनके केश काजल तथा मेघ के सदृश काले तथा रुचक मणि के समान रमणीय और स्निग्ध—चिकने, मुलायम थे । उनके बायें कानो मे एक-एक कुण्डल था । (दाहिने कानो मे अन्य आभरण थे) उनके शरीर आर्द्र—गीले—घिसकर पीठी बनाये हुए चन्दन से लिप्त थे । उन्होने सिलीध्र-पुष्प जैसे कुछ-कुछ श्वेत या लालिमा लिये हुए श्वेत, सूक्ष्म—महीन, असक्लिष्ट—निर्दोष या ढीले वस्त्र सुन्दर रूप मे पहन रखे थे । वे प्रथम वय—बाल्यावस्था को पार कर चुके थे, मध्यम वय—परिपक्व युवावस्था नही प्राप्त किये हुए थे, भद्र यौवन—भोली जवानी—किशोरावस्था मे विद्यमान थे । उनकी भुजाएँ तलभंगको—बाहुओ के आभरणो, त्रुटिकाओ—बाहुरक्षिकाओ या तोड़ो, अन्यान्य उत्तम आभूषणो तथा निर्मल—उज्ज्वल रत्नो, मणियो से सुशोभित थी । उनके हाथो की दशो अगुलियाँ अंगूठियो से मंडित—अलंकृत थी । उनके मुकुटों पर चूडामणि के रूप मे विशेष चिह्न थे । वे सुरूप—सुन्दर रूपयुक्त, परम ऋद्धिशाली, परम द्युतिमान्, अत्यन्त बलशाली, परम यशस्वी, परम सुखी तथा अत्यन्त सौभाग्यशाली थे । उनके वक्षः-स्थलो पर हार सुशोभित हो रहे थे । वे अपनी भुजाओ पर ककण तथा भुजाओ को सुस्थिर बनाये रखनेवाली आभरणात्मक पट्टियाँ एवं अगद—भुजबध धारण किये हुए थे । उनके मृष्ट—केसर, कस्तूरी आदि से मण्डित—चित्रित कपोलो पर कुंडल व अन्य कर्णभूषण शोभित थे । वे विचित्र—

विशिष्ट या अनेकविध हस्ताभरण—हाथो के आभूषण धारण किये हुए थे। उनके मस्तको पर तरह-तरह की मालाओ से युक्त मुकुट थे। वे कल्याणकृत्—मांगलिक, अनुपहत या अखंडित, प्रवर—उत्तम पोशाक पहने हुए थे। वे मगलमय, उत्तम मालाओ एवं अनुलेपन—चन्दन, केसर आदि के विलेपन से युक्त थे। उनके शरीर देदीप्यमान थे। वनमालाएँ—सभी ऋतुओं मे विकसित होने वाले फूलो से बनी मालाएँ[1] उनके गलो से घुटनो तक लटकती थी। उन्होने दिव्य—देवोचित वर्ण, गन्ध, रूप, स्पर्श, सघात—दैहिक गठन, सस्थान—दैहिक अवस्थिति, ऋद्धि—विमान, वस्त्र, आभूषण आदि दैविक समृद्धि, द्युति—आभा अथवा युक्ति—इष्ट परिवारादि योग, प्रभा, कान्ति, अर्चि—दीप्ति, तेज, लेश्या—आत्मपरिणति—तदनुरूप प्रभामडल से दशो दिशाओ को उद्योतित—प्रकाशयुक्त, प्रभासित—प्रभा या शोभायुक्त करते हुए श्रमण भगवान् महावीर के समीप आ-आकर अनुरागपूर्वक—भक्तिसहित तीन बार आदक्षिण प्रदक्षिणा की, वन्दन-नमस्कार किया। वैसा कर (अपने-अपने नामो तथा गोत्रो का उच्चारण करते हुए) वे भगवान् महावीर के न अधिक समीप, न अधिक दूर शुश्रूषा—सुनने की इच्छा रखते हुए, प्रणाम करते हुए, विनयपूर्वक सामने हाथ जोडे हुए उनकी पर्युपासना—अभ्यर्थना करने लगे।

विवेचन—प्रस्तुत प्रसग मे असुरकुमार देवो की अन्यान्य विशेषताओ के साथ-साथ उनके वस्त्रो की भी चर्चा आई है। उनके वस्त्र शिलीन्ध्र पुष्प जैसे वर्ण तथा द्युति युक्त कहे गये है। वृत्तिकार आचार्य अभयदेवसूरि ने वहाँ 'ईषत् सितानि' 'कुछ-कुछ सफेद' अर्थ किया है। उन्होने मतान्तर के रूप मे एक वाक्य भी उद्धृत किया है, जिसके अनुसार असुरकुमारो के वस्त्र लाल होते हैं।[2] परम्परा से असुरकुमारो के वस्त्र लाल माने जाते हैं। अत शिलीन्ध्र पुष्प की उपमा वहाँ घटित नही होती, क्योकि वे सफेद होते है।

कुछ विद्वानो ने 'कुछ-कुछ सफेद' के स्थान पर 'कुछ-कुछ लाल' अर्थ भी किया है। पर शिलीन्ध्र-पुष्पो के साथ उसकी सगति कैसे हो?

मूलत तह पन्नवणा का प्रसग है, जहाँ विभिन्न गतियो के जीवो के स्थान, स्वरूप, स्थिति आदि का वर्णन है।[3]

एक समाधान यो भी हो सकता है, ऐसे शिलीन्ध्र-पुष्पो की ओर सूत्रकार का सकेत रहा हो, जो सर्वथा सफेद न होकर कुछ-कुछ लालिमायुक्त सफेद हो।

असुरकुमारो के मुकुट-स्थित चिह्न के वर्णन मे यहाँ चूडामणि का उल्लेख है। इसका स्पष्टीकरण यो है—विभिन्न जाति के देवो के अपने-अपने चिह्न होते है, जो उनके मुकुटो पर लगे रहते हैं। वृत्तिकार ने चिह्नो के सम्बन्ध मे निम्नाकित गाथा उद्धृत की है[4]—

---

१. आजानुलम्बिनी माला, सर्वर्तुकुसुमोज्ज्वला।
मध्यस्थूलकदम्बाढ्या, वनमालेति कीर्तिता। — रघुवशमहाकाव्य ९, ५१

२ असुरेसु होंति रत्त ति मतान्तरम्। —औपपातिकसूत्र वृत्ति, पत्र ४९

३ पन्नवणा, पद २

४ औपपातिकसूत्र वृत्ति, पत्र ४९

"चूडामणि-फणि-वज्जे गरुडे घड-अस्स-वद्धमाणे य ।
मयरे सीहे हत्थी असुराईण मुणसु चिंधे ॥"
(चूडामणि· फणी वज्र गरुड घटोऽश्वो वर्द्धमानश्च ।
मकर सिंहो हस्ती असुरादीना मुण चिह्नानि ॥)

पन्नवणा मे भी यह प्रसग चर्चित हुआ है। तदनुसार असुरकुमार का चिह्न चूडामणि, नागकुमार का नाग-फण, सुवर्णकुमार का गरुड, विद्युत्कुमार का वज्र, अग्निकुमार का पूर्ण कलश, द्वीपकुमार का सिंह, उदधिकुमार का अश्व, दिशाकुमार का हाथी, पवनकुमार का मगर तथा स्तनितकुमार का वर्द्धमानक है।[1]

शेष भवनवासी देवों का आगमन

३४—तेणं कालेणं तेण समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स बहवे असुरिंदवज्जिया भवणवासी देवा अतियं पाउब्भवित्था—णागपइणो, सुवण्णा, विज्जू, अग्गी य दीव-उवही, दिसाकुमारा य पवण-थणिया य भवणवासी, णागफडा-गरुल-वइर-पुण्णकलस-सीह-हय-गय-मगर-मउड-वद्धमाण-णिज्जुत्त चिंधगया, सुरूवा, महिड्ढिया जाव (महज्जुइया, महब्बला, महायसा, महासोक्खा, महाणुभागा, हारविराइयवच्छा, कडगतुडियथंभियभुया, अंगय-कुण्डलमट्ठगंडतला, कण्णपीढधारी, विचित्तहत्था-भरणा, विचित्तमालामउलिमउडा, कल्लाणग-पवर-वत्थपरिहिया, कल्लाणग-पवर-मल्लाणुलेवणा, भासुरबोंदी, पलंबवणमालधरा, दिव्वेण वण्णेणं, दिव्वेण गंधेणं, दिव्वेणं रूवेण, एवं—फासेण, संघाएणं संठाणेण, दिव्वाए इड्ढीए, जुईए, पभाए, छायाए, अच्चीए, दिव्वेण तेएण, दिव्वाए लेसाए दस दिसो उज्जोवेमाणा, पभासेमाणा समणस्स भगवओ महावीरस्स अतिय आगम्मागम्म रत्ता, समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेंति, करेत्ता वदंति, णमंसंति, [वंदित्ता] णमंसित्ता [साइं साइं णामगोयाइं सावेंति] णच्चासण्णे णाइदूरे सुस्सूसमाणा, णमंसमाणा, अभिमुहा विणएणं पंजलिउडा) पज्जुवासंति।

३४—उस काल, उस समय श्रमण भगवान् महावीर के पास असुरेन्द्रवर्जित—असुरकुमारो को छोडकर नागकुमार, सुपर्णकुमार, विद्युत्कुमार, अग्निकुमार, द्वीपकुमार, उदधिकुमार, दिशाकुमार, पवनकुमार तथा स्तनितकुमार जाति के भवनवासी—पाताललोक-स्थित अपने आवासो मे निवास करने वाले देव प्रकट हुए। उनके मुकुट क्रमश. नागफण, गरुड, वज्र, पूर्ण कलश, सिंह, अश्व, हाथी, मगर तथा वर्द्धमानक—शराव-सिकोरा अथवा स्कन्धारोपित—कन्धे पर चढाया हुआ पुरुष थे। (वे सुरूप—सुन्दर रूप युक्त, परम ऋद्धिशाली, परम द्युतिमान्, अत्यन्त बलशाली, परम यशस्वी, परम सुखी तथा अत्यन्त सौभाग्यशाली थे। उनके वक्ष स्थलो पर हार सुशोभित हो रहे थे। वे अपनी भुजाओ पर ककण तथा भुजाओ को सुस्थिर बनाये रखने वाली पट्टियाँ एव अगद—भुजबन्ध धारण किये हुए थे। उनके मृष्ट—केसर, कस्तूरी आदि से मण्डित—चित्रित कपोलो पर कु डल व अन्य कर्णभूषण शोभित थे। वे विचित्र—विशिष्ट या अनेकविध हस्ताभरण—हाथो के आभूषण धारण किये हुए थे। उनके मस्तको पर तरह तरह की मालाओ से युक्त मुकुट थे। वे कल्याणकृत्—मागलिक, अनुपहत या अखण्डित, प्रवर—उत्तम पोशाक पहने हुए थे। वे मगलमय, उत्तम मालाओ एव

१ पन्नवणा पद २.२

अनुलेपन—चन्दन, केसर आदि के विलेपन से युक्त थे। उनके शरीर देदीप्यमान थे। वनमालाएँ—सभी ऋतुओं में विकसित होने वाले फूलों से बनी मालाएँ, उनके गलों से घुटनों तक लटकती थीं। उन्होंने दिव्य—देवोचित वर्ण, गन्ध, रूप, स्पर्श, संघात—दैहिक गठन, संस्थान—दैहिक आकृति, ऋद्धि—विमान, वस्त्र, आभूषण आदि दैविक समृद्धि, द्युति—आभा अथवा युक्ति—इष्ट परिवारादि योग, प्रभा, कान्ति अर्चि—दीप्ति, तेज, लेश्या—आत्मपरिणति—तदनुरूप भामण्डल से दशों दिशाओं को उद्योतित—प्रकाशयुक्त, प्रभासित—प्रभा या शोभायुक्त करते हुए श्रमण भगवान् महावीर के समीप आ-आकर अनुरागपूर्वक—भक्ति सहित तीन-तीन बार आदक्षिण प्रदक्षिणा की, वन्दन-नमस्कार किया। वैसा कर अपने-अपने नामों मे गोत्रों का उच्चारण करते हुए] वे भगवान् महावीर के न अधिक समीप, न अधिक दूर, शुश्रूषा—सुनने की इच्छा रखते हुए, प्रणाम करते हुए, विनयपूर्वक सामने हाथ जोडते हुए) उनकी पर्युपासना करने लगे।

विवेचन—भवनपति देवों के अन्तर्गत स्तनितकुमार देवों के मुकुटस्थ चिह्न के लिए प्रस्तुत सूत्र में वद्धमाण—वर्द्धमान या वर्द्धमानक शब्द का प्रयोग हुआ है। वर्द्धमान (वर्धमान) शब्द के अनेक अर्थ हैं। शब्द कोशों मे इसके शराव—तश्तरी, पात्र-विशेष, कर-सपुट, स्कन्धारोपित पुरुष, स्वस्तिक आदि अनेक अर्थों का उल्लेख हुआ है।[1]

आगम-साहित्य मे भगवान् महावीर के लिए स्थान-स्थान पर यह शब्द प्रयुक्त है ही। पउमचरिय मे राज श्री रामचन्द्र के प्रेक्षागृह के लिए इस शब्द का प्रयोग हुआ है।[2] प्रवचनसारोद्धार मे एक शाश्वती जिन-प्रतिमा के लिए यह शब्द आया है।[3]

प्रस्तुत सूत्र मे आये इस शब्द के भिन्न-भिन्न व्याख्याकारों ने भिन्न-भिन्न अर्थ किये हैं। आचार्य अभयदेवसूरि ने (११वी ई. शती) इस शब्द का शराव अथवा पुरुषारूढ पुरुष अर्थ किया है।[4] अन्य व्याख्याकारों ने शराव, सपुट, स्वस्तिक आदि भिन्न-भिन्न अर्थ किये हैं।[5]

आचार्य अभयदेवसूरि ने शराव के साथ साथ पुरुषारूढ पुरुष—स्कन्धारोपित पुरुष—ऐसा जो अर्थ किया है, उससे प्रतीत होता है कि इस शब्द का लोक-प्रचलित अर्थ तो सामान्यतया शराव

---

१ (क) सस्कृत-हिन्दीकोश वामन शिवराम आप्टे—पृष्ठ ९०३
(ख) Sanskrit-English Dictionary
Sir Monier Monier-Williams-Page 126
(ग) पाइअ-सद्द-महण्णवो पृष्ठ ७४५

२ पउमचरिय ८० ५

३ प्रवचनसारोद्धार ५९

४ औपपातिकसूत्र वृत्ति पत्र १५१

५ (क) उववाइय सुत्त पृष्ठ १६७
(ख) पन्नवणा सूत्र पद २ २, पृष्ठ १५०
(ग) उववाई सूत्र पृष्ठ ८१
(घ) औपपातिकसूत्रम् पृष्ठ ३३३

था पर आगम-साहित्य में यह 'स्कन्धारोपित पुरुष' के अर्थ में ही व्यवहृत था। पाइअ-सद्द-महण्णवो मे जहाँ इसके 'स्कन्धारोपित पुरुष' अर्थ का उल्लेख हुआ है, वहाँ प्रस्तुत सूत्र (औपपातिक) की ही साक्ष दी गई है।

यो अर्थ सम्बन्धी ऐतिहासिक प्राचीनता की दृष्टि से 'वर्द्धमानक' का अर्थ 'स्कन्धारोपित पुरुष' ही सगत प्रतीत होता है।

व्यन्तर देवों का आगमन

३५—तेणं कालेणं तेण समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स बहवे वाणमंतरा देवा अंतियं पाउब्भवित्था—पिसायभूया य जक्खरक्खसा, किंनरकिंपुरिसभुयगपइणो य महाकाया, गंधव्वणिकायगणा णिउणगंधव्वगीयरइणो, अणवण्णिय-पणवण्णिय-इसिवादिय-भूयवादिय-कंदिय-महाकंदिया य कुहंड-पयए य देवा, चंचलचवलचित्त-कीलण-दवप्पिया, गंभीरहसिय-भणिय-पीय-गीय-णच्चणरई, वणमाला मेल-मउड-कुंडल-सच्छंदविउव्वियाहरणचारुविभूसणधरा सव्वोउय-सुरभि-कुसुम-सुरइयपलंब-सोभंत-कंत-वियसंत-चित्त-वणमालरइयवच्छा, कामगमा, कामरूवधारी, णाणाविह-वण्णराग-वरवत्थ-चित्त-चिल्लयणियंसणा, विविहदेसीणेवच्छगहियवेसा, पमुइयकंदप्पकलहकेलीकोलाहलपिया, हासबोलबहुला, अणेगमणि-रयण-विविहणिज्जुत्तविचित्तचिंधगया, सुरूवा, महिड्ढिया जाव[1] पज्जुवासंति।

३५—उस काल, उस समय श्रमण भगवान् महावीर के समीप पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किंपुरुष, महाकाय भुजगपति, गन्धर्व—नाट्योपेत गान, गीत-नाट्यवर्जित गेय—विशुद्ध सगीत मे अनुरक्त गन्धर्व गण, अणपन्निक, पणपन्निक, ऋषिवादिक, भूतवादिक, क्रन्दित, महाक्रन्दित, कूष्माड, प्रयत या पतग—ये व्यन्तर जाति के देव प्रकट हुए।

वे देव अत्यन्त चपल चित्तयुक्त, क्रीडाप्रिय तथा परिहासप्रिय थे। उन्हे गम्भीर हास्य—अट्टहास तथा वैसी ही वाणी प्रिय थी। वे वैक्रियलब्धि द्वारा अपनी इच्छानुसार विरचित वनमाला, फूलो का सेहरा या कलगी, मुकुट, कुण्डल आदि आभूषणो द्वारा सुन्दर-रूप मे सजे हुए थे। सब ऋतुओ में खिलने वाले, सुगन्धित पुष्पो से सुरचित, लम्बी—घुटनों तक लटकती हुई, शोभित होती हुई, सुन्दर, विकसित वनमालाओ द्वारा उनके वक्ष.स्थल बडे आह्लादकारी—मनोज्ञ या सुन्दर प्रतीत होते थे। वे कामगम—इच्छानुसार जहाँ कही जाने का सामर्थ्य रखते थे, कामरूपधारी—इच्छानुसार (यथेच्छ) रूप धारण करने वाले थे। वे भिन्न-भिन्न रग के उत्तम, चित्र-विचित्र—तरह तरह के चमकीले-भडकीले वस्त्र पहने हुए थे। अनेक देशो की वेशभूषा के अनुरूप उन्होने भिन्न-भिन्न प्रकार की पोशाके धारण कर रखी थी। वे प्रमोदपूर्ण काम-कलह, क्रीडा तथा तज्जनित कोलाहल मे प्रीति मानते थे—आनन्द लेते थे। वे बहुत हँसने वाले तथा बहुत बोलने वाले थे। वे अनेक मणियो एव रत्नो से विविध रूप मे निर्मित चित्र-विचित्र चिह्न धारण किये हुए थे। वे सुरूप—सुन्दर रूप युक्त तथा परम ऋद्धि सम्पन्न थे। पूर्व समागत देवो की तरह यथाविधि वन्दन-नमन कर श्रमण भगवान् महावीर की पर्युपासना करने लगे।

---

१ देखें सूत्र-सख्या ३४

ज्योतिष्क देवों का आगमन

३६—तेणं कालेणं तेणं समएण समणस्स भगवओ महावीरस्स जोइसिया देवा अंतियं पाउब्भवित्था—विहस्सति-चंद-सूर-सुक्क-सणिच्छरा, राहू, धूमकेतू। बुहा य अंगारका य तत्ततवणिज्जकणगवण्णा, जे य गहा जोइसंमि चारं चरंति, केऊ य गइरइया अट्ठावीसतिविहा य णक्खत्तदेवगणा, णाणासंठाणसंठियाओ य पंचवण्णाओ ताराओ ठियलेसा, चारिणो य अविस्साममंडलगई, पत्तेयणामकपागडियचिंधमउडा महिड्ढिया—जाव[1] पज्जुवासंति।

३६—उस काल, उस समय श्रमण भगवान् महावीर के सान्निध्य मे बृहस्पति, चन्द्र, सूर्य, शुक्र, शनैश्चर, राहू, धूमकेतु, बुध तथा मगल, जिनका वर्ण तपे हुए स्वर्ण-बिन्दु के समान दीप्तिमान् था—(ये) ज्योतिष्क देव प्रकट हुए। इनके अतिरिक्त ज्योतिश्चक्र मे परिभ्रमण करने वाले—गति-विशिष्ट केतु—जलकेतु आदि ग्रह, अट्ठाईस प्रकार के नक्षत्र देवगण, नाना आकृतियो के पाँच वर्ण के तारे—तारा जाति के देव प्रकट हुए। उनमे स्थित-गतिविहीन रहकर प्रकाश करने वाले तथा अविश्रान्ततया—बिना रुके अनवरत गतिशील—दोनो प्रकार के ज्योतिष्क देव थे। हर किसी ने अपने-अपने नाम से अकित अपना विशेष चिह्न अपने मुकुट पर धारण कर रखा था। वे परम ऋद्धिशाली देव भगवान् की पर्युपासना करने लगे।

वैमानिक देवों का आगमन

३७—तेणं कालेणं तेणं समएण समणस्स भगवओ महावीरस्स वेमाणिया देवा अंतियं पाउब्भवित्था-सोहम्मीसाण-सणंकुमार-माहिंद-बंभ-लंतग-महासुक्क-सहस्साराणय-पाणयारण-अच्चुयवई पहिट्ठा देवा जिणदंसणुस्सुया गमणजणियहासा, पालग-पुप्फग-सोमणस्स-सिरिवच्छ-णंदियावत्त-कामगम-पीइगम-मणोगम-विमल-सव्वओभद्द-सरिसणामधेज्जेहिं विमाणेहिं ओइण्णा वंदगा जिणिंदं मिग-महिस-वराह-छगल-दद्दुर-हय-गय-वइभुयग-खग्ग-उसभंकविडिमपागडियचिंधमउडा पसिढिलवरमउडतिरीडधारी, कुंडलउज्जोवियाणणा, मउडदित्तसिरया, रत्ताभा, पउमपम्हगोरा, सेया, सुभवण्णगंधफासा, उत्तमवेउव्विणो, विविहवत्थगंधमल्लधारी, महिड्ढिया महज्जुतिया जाव[2] पंजलिउडा पज्जुवासंति।

३७—उस काल, उस समय श्रमण भगवान् महावीर के समक्ष सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, लान्तक, महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण तथा अच्युत देवलोको के अधिपति—इन्द्र अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक प्रादुर्भूत हुए। जिनेश्वरदेव के दर्शन पाने की उत्सुकता और तदर्थ अपने वहाँ पहुचने से उत्पन्न हर्ष से वे उल्लसित थे।

जिनेन्द्र प्रभु का वन्दन-स्तवन करने वाले वे (बारह देवलोको के दस अधिपति) देव पालक, पुष्पक, सौमनस, श्रीवत्स, नन्द्यावर्त, कामगम, प्रीतिगम, मनोगम, विमल तथा सर्वतोभद्र नामक अपने-अपने विमानो से भूमि पर उतरे। वे मृग—हरिण, महिष—भैसा, वराह—सुअर, छगल—बकरा, दुर्दुर—मेढक, हय—घोडा, गजपति—उत्तम हाथी, भुजग—सर्प, खड्ग—गैडा तथा वृषभ—साड के चिह्नो से अकित मुकुट धारण किये हुए थे। वे श्रेष्ठ मुकुट ढीले—सुहाते उनके सुन्दर

१. देखें सूत्र-सख्या ३४

२ देखें सूत्र-सख्या ३४

सविन्यास युक्त मस्तकों पर विद्यमान थे। कुंडलो की उज्ज्वल दीप्ति से उनके मुख उद्योतित थे। मुकुटो से उनके मस्तक दीप्त—दीप्तिमान् थे। वे लाल आभा लिये हुए, पद्मगर्भ सदृश गौर कान्तिमय, श्वेत वर्णयुक्त थे। शुभ वर्ण, गन्ध, स्पर्श आदि के निष्पादन में उत्तम वैक्रियलब्धि के धारक थे। वे तरह-तरह के वस्त्र, सुगन्धित द्रव्य तथा मालाए धारण किये हुए थे। वे परम ऋद्धिशाली एवं परम द्युतिमान् थे। वे हाथ जोड कर भगवान् की पर्युपासना करने लगे।

विवेचन—भगवान् महावीर के दर्शन, वन्दन हेतु देवो के साथ-साथ अप्सराओ या देवियो के आगमन का भी अन्यत्र वर्णन प्राप्त होता है। टीकाकार आचार्य अभयदेवसूरि ने टीका मे सक्षेप में उसे उद्धृत किया है। वह सक्षिप्त पाठ और उसका सारांश इस प्रकार है—

तेणं कालेणं तेण समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स बहवे अच्छरगणसंघाया अंतिअं पाउब्भवित्था। ताओ ण अच्छराओ धतधोयकणगरुयगसरिसप्पभाओ समइक्कंता य बालभाव अणइवरसोम्मचारुरूवा निरुवहयसरसजोव्वणकक्कसतरुणवयभावमुवगयाओ निरुवमवट्ठियसहावा सव्वगसुंदरीओ इच्छियनेवत्थरइयरमणिज्जगहियवेसा, किं ते ? हारद्धहारपाउत्तरयणकुंडलवासुत्तगहेमजाल-मणिजाल - कणगजालसुभगउरितियकडगखुड्डुगएगावलिकंठसुत्तमगहगधरच्छगेवेज्जसोणियसुत्तगतिलग - फुल्लगसिद्धत्थियकण्णवालियससिसूर उसभचक्कयतलभंगयतुडियहत्थमालयहरिसकेऊरवलयपालंबपलंब-अंगुलिज्जगवलक्खदीणारमालिया चंदसूरमालियाकंचिमेहलकलावपयरगपरिहेरगपायजाल घंटिया-खिंखिणिरयणोरुजालखुड्डियवरनेउरचलणमालिया कणगणिगलजालगमगरमुहविरायमाणनेऊरपचलिय-सद्दालभूसणधरीओ, दसद्धवण्णरागरइयरत्तमणहरा हयलालापेलवाइरेगे धवले कणगखचियंतकम्मे आगासफालियसरिसप्पहे असुए नियत्थाओ, आयरेण तुसारगोक्खीरहारदगरयपंडुरदुगुल्लसुकुमालसुकयरमणिज्ज उत्तरिज्जाइं, पाउयाओ, सव्वोउयसुरभिकुसुमसुरइयविचित्तवरमल्लधारिणीओ सुगंधिचुण्णंगरागवरवासपुप्फपूरगविराइया उत्तमवरधूवधूविया सिरिसमाणवेसा दिव्वकुसुममल्लदाम-पब्भजलिपुडाओ चंदविलासिणीओ, चदद्धसमनिलाडा विज्जुघणमिरीइसूरदिप्पंततेअअहियतर-संनिकासाओ, सिंगारागारचारुवेसाओ, सगयगयहसियभणियचेट्ठियविलास सललियसंलावनिउणजुत्तो-वयारकुसलाओ, सुंदरथणजहणवयणकरचरणनयणलावण्णरूवजोव्वणविलासकलियाओ सुरवहूओ सिरीसनवणीयमउयसुकुमालतुल्लफासाओ, ववगयकलिकलुसधोयनिद्धंतरयमलाओ, सोमाओ कंताओ पियदंसणाओ जिणभत्तिदसणाणुरागेणं हरिसियाओ ओवइया यावि जिणसगासं।

उस समय भगवान् महावीर के समीप अनेक समूहो मे अप्सराएँ– देवियाँ उपस्थित हुईं। उनकी दैहिक कान्ति अग्नि मे तपाये गये, जल से स्वच्छ किये गये स्वर्ण जैसी थी। वे बाल-भाव को अतिक्रान्त कर—बचपन को लाघकर यौवन मे पदार्पण कर चुकी थी—नवयौवना थी। उनका रूप अनुपम, सुन्दर एव सौम्य था। उनके स्तन, नितम्ब, मुख, हाथ, पैर तथा नेत्र लावण्य एव यौवन से विलसित, उल्लसित थे। दूसरे शब्दो मे उनके अग-अग मे सौन्दर्य-छटा लहराती थी। वे निरुपहत-रोग आदि से अबाधित, सरस-श्रृंगाररस-सिक्त तारुण्य से विभूषित थी। उनका वह रूप, सौन्दर्य, यौवन सुस्थित था, जरा—वृद्धावस्था से विमुक्त था।

वे देवियाँ सुरम्य वेशभूषा, वस्त्र, आभरण आदि से सुसज्जित थी। उनके ललाट पर पुष्प जैसी आकृति मे निर्मित आभूषण, उनके गले मे सरसो जैसे स्वर्ण-कणो तथा मणियो से बनी कठियाँ, कण्ठसूत्र, कठले, अठारह लड़ियो के हार, नौ लड़ियों के अर्द्धहार, बहुविध मणियो से बनी मालाएँ

चन्द्र, सूर्य आदि अनेक आकार की मोहरों की मालाएँ, कानो मे रत्नो के कुण्डल, बालियाँ, बाहुओं में त्रुटिक—तोड़े, बाजूबन्द, कलाइयो में मानिक-जड़े ककण, अगुलियो मे अगूठियाँ, कमर मे सोने की करधनियाँ, पैरो मे सुन्दर नूपुर—पैंजनियाँ, घुँघरूयुक्त पायजेबें तथा सोने के कड़ले आदि बहुत प्रकार के गहने सुशोभित थे।

वे पँचरगे, बहुमूल्य, नासिका से निकलते नि.श्वास मात्र से जो उड़ जाए—ऐसे अत्यन्त हलके, मनोहर, सुकोमल, स्वर्णमय तारो से मडित किनारो वाले, स्फटिक-तुल्य आभायुक्त वस्त्र धारण किये हुए थी। उन्होने बर्फ, गोदुग्ध, मोतियो के हार एवं जल-कण सदृश स्वच्छ, उज्ज्वल, सुकुमार—मुलायम, रमणीय, सुन्दर बुने हुए रेशमी दुपट्टे ओढ़ रखे थे। वे सब ऋतुओ मे खिलनेवाले सुरभित पुष्पो की उत्तम मालाएँ धारण किये हुए थी। चन्दन, केसर आदि सुगन्धमय पदार्थों से निर्मित देहरञ्जन—अगराग से उनके शरीर रञ्जित एव सुवासित थे, श्रेष्ठ धूप द्वारा धूपित थे। उनके मुख चन्द्र जैसी कान्ति लिये हुए थे। उनकी दीप्ति बिजली की द्युति और सूरज के तेज सदृश थी। उनकी गति, हँसी, बोली, नयनों के हावभाव, पारस्परिक आलाप-सलाप इत्यादि सभी कार्य-कलाप नैपुण्य और लालित्ययुक्त थे। वे सुन्दर स्तन, जघन—कमर से नीचे का भाग, मुख, हाथ, पैर, नयन, लावण्य, रूप, यौवन और नेत्र चेष्टाओ—भ्रूभगिमाओ से युक्त थी। उनका सस्पर्श शिरीष पुष्प और नवनीत—मक्खन जैसा मृदुल तथा कोमल था। वे निष्कलुष, निर्मल, सौम्य, कमनीय, प्रियदर्शन—देखने मे प्रिय या सुभग तथा सुरूप थी। वे भगवान् के दर्शन की उत्कण्ठा से हर्षित—रोमाचित थी। उनमे वे सब विशेषताएँ थी, जो देवताओ मे होती हैं।

जन-समुदाय द्वारा भगवान् का वन्दन

३८—तए णं चंपाए णयरीए सिंघाडग-तिग-चउक्क-चच्चर-चउम्मुह-महापह-पहेसु महया जणसद्दे इ वा, बहुजणसद्दे इ वा, जणवाए इ वा, जणुल्लावे इ वा, जणवूहे इ वा, जणबोले इ वा, जणकलकले इ वा, जणुम्मीइ वा, जणुक्कलिया इ वा, जणसण्णिवाए इ वा, बहुजणो अण्णमण्णस्स एवमाइक्खइ, एवं भासइ, एवं पण्णवेइ, एवं परूवेइ—एव खलु देवाणुप्पिया! समणे भगव महावीरे आइगरे, तित्थगरे, सयसंबुद्धे, पुरिसुत्तमे जाव[1] सपाविउकामे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे, गामाणुगाम दूइज्जमाणे इहमागए, इहसंपत्ते, इह समोसढे, इहेव चपाए णयरीए बाहिं पुण्णभद्दे चेइए अहापडिरूवं उग्गहं उग्गिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ। तं महप्फल खलु भो देवाणुप्पिया! तहारूवाणं अरहंताणं भगवंताणं णामगोयस्स वि सवणयाए, किमंग पुण अभिगमण-वदण-णमसण-पडिपुच्छण-पज्जुवासणयाए? एगस्स वि आरियस्स धम्मियस्स सुवयणस्स सवणयाए, किमंग पुण विउलस्स अट्ठस्स गहणयाए? तं गच्छामो णं देवाणुप्पिया! समणं भगवं महावीर वदामो, णमंसामो, सक्कारेमो सम्माणेमो, कल्लाणं, मगल, देवय, चेइयं [विणएण] पज्जुवासामो, एय णे पेच्चभवे इहभवे य हियाए, सुहाए, खमाए, निस्सेयसाए, आणुगामियत्ताए भविस्सइत्ति कट्टु बहवे उग्गा, उग्गपुत्ता, भोगा, भोगपुत्ता एवं दुपडोयारेण राइण्णा, (इक्खागा, नाया, कोरव्वा) खत्तिया, माहणा, भडा, जोहा, पसत्थारो, मल्लई, लेच्छई, लेच्छईपुत्ता, अण्णे य बहवे राईसर-तलवर-माडंबिय-कोडुंबिय-इब्भ-सेट्ठि-सेणावइ-सत्थवाहप्पभितयो अप्पेगइया वंदणवत्तियं, अप्पेगइया पूयणवत्तियं, एवं सक्कारवत्तियं, सम्माणवत्तिय, दसणवत्तियं, कोऊहलवत्तिय, अप्पेगइया अट्ठविणिच्छयहेउ अस्सुयाइं सुणेस्सामो, सुयाइं

१. सूत्र सख्या २० में आये हुए भगवान् महावीर के सभी विशेषण प्रथमाविभक्ति एकवचनान्त कर यहा लगाए।

निस्संकियाइं करिस्सामो, अप्पेगइया अट्ठाइं हेऊइं कारणाइं वागरणाइं पुच्छिस्सामो, अप्पेगइया सव्वओ समंता मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइस्सामो, पंचाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइयं दुवालसविहं गिहिधम्मं पडिवज्जिस्सामो, अप्पेगइया जिणभत्तिरागेणं, अप्पेगइया जीयमेयंति कट्टु ण्हाया, कयबलि-कम्मा, कयकोउयमंगलपायच्छित्ता, सिरसा कंठे मालकडा, आविद्धमणिसुवण्णा, कप्पियहारद्धहार-तिसर-पालंबपलंबमाण-कडिसुत्त-सुकयसोहाभरणा, पवरवत्थपरिहिया, चंदणोलित्तगायसरीरा, अप्पेगइया हयगया एवं गयगया, रहगया, सिबियागया, संदमाणियागया, अप्पेगइया पायविहारचारेणं पुरिसवग्गुरापरिक्खित्ता महया उक्किट्ठसीहणाय-बोल-कलकलरवेणं पक्खुभिय-महासमुद्दरवभूयं पिव करेमाणा चंपाए णयरीए मज्झंमज्झेणं णिग्गच्छंति, णिग्गच्छित्ता जेणेव पुण्णभद्दे चेइए, तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते छत्तादीए तित्थयराइसेसे पासंति, पासित्ता जाणवाहणाइं ठवेंति, ठवेत्ता जाणवाहणेहिंतो पच्चोरुहंति, पच्चोरुहित्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे, तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेंति, करित्ता वंदति, णमस्संति, वंदित्ता, णमंसित्ता णच्चासण्णे णाइदूरे सुस्सूसमाणा, णमंसमाणा, अभिमुहा विणएण पंजलिउडा पज्जुवासंति ।

३८—उस समय चंपा नगरी के सिंघाटकों—तिकोने स्थानों, त्रिकों—तिराहों, चतुष्कों—चौराहों, चत्वरों—जहाँ चार से अधिक रास्ते मिलते हों ऐसे स्थानों, चतुर्मुखों—चारों ओर मुख या द्वारयुक्त देवकुलों, राजमार्गों, गलियों से मनुष्यों की बहुत आवाज आ रही थी, बहुत लोग शब्द कर रहे थे, आपस में कह रहे थे, फुसफुसाहट कर रहे थे—धीमे स्वर में बात कर रहे थे। लोगों का बड़ा जमघट था। वे बोल रहे थे। उनकी बातचीत की कलकल—मनोज्ञ ध्वनि सुनाई देती थी। लोगों की मानो एक लहर सी उमडी आ रही थी। छोटी-छोटी टोलियों में लोग फिर रहे थे, इकट्ठे हो रहे थे। बहुत से मनुष्य आपस में आख्यान—चर्चा कर रहे थे, अभिभाषण कर रहे थे, प्रज्ञापित कर रहे थे—जता रहे थे, प्ररूपित कर रहे थे—एक दूसरे को बता रहे थे—

देवानुप्रियो! आदिकर—अपने युग में धर्म के आद्य प्रवर्तक तीर्थंकर—साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका रूप, धर्मतीर्थ—धर्मसंघ के प्रतिष्ठापक, स्वयंसबुद्ध—स्वयं बिना किसी अन्य निमित्त के बोध प्राप्त, पुरुषोत्तम—पुरुषों में उत्तम सिद्धि-गतिरूप स्थान की प्राप्ति हेतु समुद्यत भगवान् महावीर यथाक्रम आगे से आगे विहार करते हुए, ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए—एक गाँव से दूसरे गांव का स्पर्श करते हुए यहाँ आये हैं, संप्राप्त हुए हैं—समवसृत हुए हैं—पधारे हैं। यहीं चंपा नगरी के बाहर पूर्णभद्र चैत्य में यथोचित—श्रमणचर्या के अनुरूप स्थान ग्रहण कर संयम और तप से आत्मा को अनुभावित करते हुए विराजित हैं। हम लोगों के लिए यह बहुत ही लाभप्रद है। देवानुप्रियो! ऐसे अर्हत् भगवान् के नाम-गोत्र का सुनना भी बहुत बड़ी बात है, फिर अभिगमन—सम्मुख जाना, वन्दन, नमन, प्रतिपृच्छा—जिज्ञासा करना—उनसे धर्मतत्त्व के सम्बन्ध में पूछना, उनकी पर्युपासना करना—उनका सान्निध्य प्राप्त करना—इनका तो कहना ही क्या! सद्गुणनिष्पन्न, सद्धर्ममय एक सुवचन का श्रवण भी बहुत बड़ी बात है, फिर विपुल—विस्तृत अर्थ के ग्रहण की तो बात ही क्या! अतः देवानुप्रियो! अच्छा हो, हम जाएँ और श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन करें, नमन करें, उनका सत्कार करें, सम्मान करें। भगवान् कल्याण हैं, मंगल हैं, देव हैं, तीर्थस्वरूप हैं। उनकी पर्युपासना करें। यह (वन्दन, नमन) आदि इस भव में—वर्तमान जीवन में, परभव में जन्म-जन्मान्तर में हमारे लिए हितप्रद सुखप्रद, क्षान्तिप्रद तथा निश्रेयसप्रद—मोक्षप्रद सिद्ध होगा।

यो चिन्तन-विमर्श करते हुए बहुत से उग्रों—आरक्षक अधिकारियों, उग्रपुत्रों, भोगो—राजा के मन्त्रिमण्डल के सदस्यों, भोगपुत्रो, राजन्यों—राजा के परामर्शकमण्डल के सदस्यो, (इक्ष्वाकुवंशीयों, ज्ञातवशीयो, कुरवशीयो) क्षत्रियो—क्षत्रिय वंश के राजकर्मचारियो, ब्राह्मणों, सुभटों, योद्धाओ—युद्धोपजीवी सैनिको, प्रशास्ताओ—प्रशासनाधिकारियों, मल्लकियों—मल्ल गणराज्य के सदस्यों, लिच्छिवियो—लिच्छिवि गणराज्य के सदस्यो तथा अन्य अनेक राजाओ—माण्डलिक नरपतियो, ईश्वरों—ऐश्वर्यशाली एव प्रभावशील पुरुषो, तलवरो—राजसम्मानित विशिष्ट नागरिको, माडबिको—जागीरदारो या भूस्वामियो, कौटुम्बिको—बडे परिवारो के प्रमुखो, इभ्यो—वैभवशाली जनो, श्रेष्ठियों—सम्पत्ति और सुव्यवहार से प्रतिष्ठाप्राप्त सेठो, सेनापतियो एव सार्थवाहो—अनेक छोटे व्यापारियों को साथ लिये देशान्तर मे व्यवसाय करनेवाले समर्थ व्यापारियो, इन सबके पुत्रो मे से अनेक वन्दन हेतु, अनेक पूजन हेतु, अनेक सत्कार हेतु, अनेक सम्मान-हेतु, अनेक दर्शन हेतु, अनेक उत्सुकता-पूर्ति हेतु, अनेक अर्थविनिश्चय हेतु—तत्त्वनिर्णय हेतु, अश्रुत—नही सुने हुए को सुनेंगे, श्रुत-सुने हुए को सशयरहित करेंगे—तद्गत संशय दूर करेगे, अनेक इस भाव से, अनेक यह सोचकर कि युक्ति, तर्क तथा विश्लेषणपूर्वक तत्त्व-जिज्ञासा करेगे, अनेक यह चिन्तन कर कि सभी सासारिक सम्बधो का परिवर्जन कर, मुण्डित होकर—प्रव्रजित होकर अगार-धर्म—गृहस्थ-धर्म से आगे बढ अनगार-धर्म—श्रमण-जीवन स्वीकार करेगे, अनेक यह सोचकर कि पाँच अणुव्रत, सात शिक्षा व्रत—यो बारह व्रत युक्त श्रावक-धर्म स्वीकार करेगे, अनेक भक्ति-अनुराग के कारण, अनेक यह सोच कर कि यह अपना वश-परपरागत व्यवहार है, भगवान् की सन्निधि मे आने को उद्यत हुए।

उन्होने स्नान किया, नित्य—नैमित्तक कार्य किये, कौतुक—देहसज्जा की दृष्टि से नेत्रो मे अजन आजा, ललाट पर तिलक किया, प्रायश्चित्त—दु स्वप्नादि दोष-निवारण हेतु चन्दन, कु कुम, दधि, अक्षत आदि से मगलविधान किया, मस्तक पर, गले मे मालाएँ धारण कीं, रत्नजडे स्वर्णाभरण, हार, अर्धहार, तीन लडो के हार, लम्बे हार, लटकती हुई करधनियाँ आदि शोभावर्धक अलकारो से अपने को सजाया, श्रेष्ठ, उत्तम—मागलिक वस्त्र पहने। उन्होने समुच्चय रूप मे शरीर पर, शरीर के अलग अलग अगो पर चन्दन का लेप किया।

उनमे से कई घोडो पर, कई हाथियो पर, कई शिविकाओ—पर्देदार पालखियो पर, कई पुरुष-प्रमाण पालखियो पर सवार हुए। अनेक व्यक्ति बहुत पुरुषो द्वारा चारो ओर से घिरे हुए पैदल चल पडे। वे (सभी लोग) उत्कृष्ट, हर्षोन्नत, सुन्दर, मधुर घोष द्वारा नगरी को लहराते, गरजते विशाल समुद्रसदृश बनाते हुए उसके बीच से गुजरे। वैसा कर, जहाँ पूर्णभद्र चैत्य था, वहा आये। आकर न अधिक दूर से, न अधिक निकट से भगवान् के तीर्थंकर-रूप के वैशिष्ट्यद्योतक छत्र आदि अतिशय—विशेष चिह्न-उपकरण-देखे। देखते ही अपने यान, वाहन, वहाँ ठहराये। ठहराकर यान—गाडी, रथ आदि, वाहन—घोडे, हाथी आदि से नीचे उतरे। नीचे उतर कर, जहाँ श्रमण भगवान् महावीर थे, वहाँ आये। वहाँ आकर श्रमण भगवान् महावीर की तीन बार आदक्षिण-प्रदक्षिणा की; वन्दन, नमस्कार किया। वन्दन, नमस्कार कर, भगवान् के न अधिक दूर, न अधिक निकट स्थित हो, शुश्रूषा—उनके वचन सुनने की उत्कण्ठा लिए, नमस्कार-मुद्रा मे भगवान् महावीर के सामने विनय-पूर्वक अजलि बाँधे—हाथ जोडे उनकी पर्युपासना करने लगे—उनका सान्निध्यलाभ लेने लगे।

महाराज कूणिक को सूचना

३९—तए णं से पवित्तिवाउए इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे हट्ठतुट्ठ जाव[1] हियए ण्हाए जाव (कयबलिकम्मे, कयकोउय-मंगल-पायच्छित्ते, सुद्धप्पावेसाइं, मंगल्लाइं वत्थाइं पवरपरिहिए) अप्पमहग्घाभरणालंकियसरीरे सयाओ गिहाओ पडिणिक्खमइ, सयाओ गिहाओ पडिणिक्खमित्ता चंपाणयरिं मज्झंमज्झेणं जेणेव बाहिरिया सा चेव हेट्ठिल्ला वत्तव्वया जाव[2] णिसीयइ, णिसीइत्ता तस्स पवित्तिवाउयस्स अद्धतेरससयसहस्साइं पीइदाणं दलयइ, दलयित्ता सक्कारेइ, सम्माणेइ, सक्कारित्ता, सम्माणेत्ता पडिविसज्जेइ।

३९—प्रवृत्ति-निवेदक को जब यह (भगवान् महावीर के पदार्पण की) बात मालूम हुई, वह हर्षित एव परितुष्ट हुआ। उसने स्नान किया, (नित्य-नैमित्तिक कार्य किये, कौतुक—देह-सज्जा की दृष्टि से नेत्रो मे अजन आजा, ललाट पर तिलक लगाया, प्रायश्चित्त—दु स्वप्नादि-दोषनिवारण हेतु चन्दन, कु कुम, दही, अक्षत आदि से मगल-विधान किया, उत्तम, प्रवेश्य—राजसभा मे प्रवेशोचित—श्रेष्ठ, मागलिक वस्त्र भलीभाँति पहने (थोडे—सख्या में कम पर बहुमूल्य आभूषणो से शरीर को अलकृत किया। यो (सजकर) वह अपने घर से निकला। (अपने घर से) निकलकर वह चम्पा नगरी के बीच, जहाँ राजा कूणिक का महल था, जहाँ बहिर्वर्त्ती राजसभा-भवन था वहाँ आया।

राजा सिंहासन पर बैठा। (बैठकर) साढे बारह लाख रजत-मुद्राएँ वार्ता-निवेदक को प्रीतिदान—तुष्टिदान या पारितोषिक के रूप मे प्रदान की। उत्तम वस्त्र आदि द्वारा उसका सत्कार किया, आदरपूर्ण वचनो से सम्मान किया। यो सत्कृत, सम्मानित कर उसे बिदा किया।

विवेचन—मध्य के 'जाव' शब्द द्वारा सूचित वृत्तान्त सूत्र संख्या १७-१८-१९-२० के अनुसार जान लेना चाहिए।

दर्शन-वन्दन की तैयारी

४०—तए ण से कूणिए राया भंभसारपुत्ते बलवाउयं आमंतेइ, आमतेत्ता एव वयासि—खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! आभिसेक्कं हत्थिरयणं पडिकप्पेहि, हय-गय-रह-पवरजोहकलियं च चाउरंगिणि सेणं सण्णाहेहि, सुभद्दापमुहाण य देवीण बाहिरियाए उवट्ठाणसालाए पाडियक्कपाडियक्काइं जत्ताभिमुहाइं जुत्ताइं जाणाइं उवट्ठवेहि, चंपं च णयरिं सब्भिंतरबाहिरियं आसिय-सम्मज्जिओवलित्तं, सिंघाडग-तिय-चउक्क-चच्चर-चउम्मुह-महापह-पहेसु आसित्त-सित्तसुइ-सम्मट्ठ-रत्थंतरावणवीहियं, मंचाइमंचकलियं, णाणाविहराग-उच्छिय-ज्झयपडागाइपडागमंडियं, लाउल्लोइयमहियं, गोसीससरस-रत्तचंदण जाव (दद्दरदिण्णपंचंगुलितलं, उवचियचंदणकलसं, चंदणघडसुकयतोरण पडिदुवारदेसभायं, आसत्तोसत्तविउलवट्टवग्घारियमल्लदामकलावं, पंचवण्णसरससुरहिमुक्कपुप्फपुंजोवयारकलियं, काला-गुरु-पवरकुंदुरुक्क-तुरुक्क-धूव-मघमघतगंधुद्धुयाभिरामं सुगंधवरगंधगंधियं) गंधवट्टिभूयं करेह य, कारवेह य, करेत्ता य कारवेत्ता य एयमाणत्तियं पच्चप्पिणाहि। णिज्जाहिस्सामि समणं भगवं महावीरं अभिवंदए।

---

१ देखें सूत्र-सख्या १८

२ देखें सूत्र-सख्या १७, १८, १९, २०

४०—तब भभसार के पुत्र राजा कूणिक ने बलव्यापृत—सैन्य-व्यापार-परायण—सैन्य सम्बन्धी कार्यों के अधिकारी को बुलाया। बुलाकर उससे कहा—

देवानुप्रिय ! आभिषेक्य—अभिषेक-योग्य, प्रधान पद पर अधिष्ठित (राजा की सवारी मे प्रयोजनीय) हस्ति-रत्न—उत्तम हाथी को सुसज्ज कराओ। घोडे, हाथी, रथ तथा श्रेष्ठ योद्धाओ से परिगठित चतुरगिणी सेना को तैयार करो। सुभद्रा आदि देवियो—रानियो के लिए, उनमे से प्रत्येक के लिए (अलग-अलग) यात्राभिमुख-गमनोद्यत, जाते हुए यानो—सवारियो को बाहरी सभा-भवन के निकट उपस्थापित करो—तैयार कराकर हाजिर करो। चम्पा नगरी के बाहर और भीतर, उसके संघाटक, त्रिक, चतुष्क, चत्वर, चतुर्मुख, राजमार्ग तथा सामान्य मार्ग, इन सबकी सफाई कराओ। वहाँ पानी का छिडकाव कराओ, गोबर आदि का लेप कराओ। नगरी के रथ्यान्तर—गलियो के मध्य-भागो तथा आपण-वीथियो—बाजार के रास्तो की भी सफाई कराओ, पानी का छिडकाव कराओ, उन्हें स्वच्छ व सुहावने कराओ। मचातिमच—सीढियो से समायुक्त प्रेक्षागृहो की रचना कराओ। तरह-तरह के रगो की, ऊँची, सिंह, चक्र आदि चिह्नो से युक्त ध्वजाएँ, पताकाएँ तथा अतिपताकाएँ, जिनके पारिपार्श्व अनेकानेक छोटी पताकाओ—झडियो से सजे हो, ऐसी बडी पताकाएँ लगवाओ। नगरी की दीवारो को लिपवाओ, पुतवाओ। उन पर गोरोचन तथा सरस—आर्द्र लाल चन्दन के पाँचो अगुलियो और हथेली सहित हाथ के छापे लगवाओ। वहाँ चन्दन-कलश—चन्दन से चर्चित मगल-घट रखवाओ। नगरी के प्रत्येक द्वार भाग को चन्दन-कलशो और तोरणो से सजवाओ। जमीन से ऊपर तक के भाग को छूती हुई बडी-बडी, गोल तथा लम्बी अनेक पुष्पमालाएँ वहाँ लगवाओ। पाँचो रगो के सरस—ताजे फूलो से उसे सजवाओ, सुन्दर बनवाओ। काले अगर, उत्तम कुन्दरुक, लोबान तथा धूप की गमगमाती महक से वहाँ के वातावरण को उत्कृष्ट सुरभिमय करवादो, जिससे सुगन्धित धुएँ की प्रचुरता से वहाँ गोल-गोल धूममय छल्ले बनते दिखाई दे।

इनमे जो करने का हो, उसे करके—कर्मकरो, सेवको, श्रमिको आदि को आदेश देकर, तत्सम्बन्धी व्यवस्था कर, उसे अपनी देखरेख मे सपन्न करवा कर तथा जो दूसरो द्वारा करवाने का हो, उसे दूसरो से करवाकर मुझे सूचित करो कि आज्ञापालन हो गया है—आज्ञानुरूप सब सुसपन्न हो गया है। यह सब हो जाने पर मैं भगवान् के अभिवदन हेतु जाऊँ।

४१—तए णं से बलवाउए कूणिएणं रण्णा एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठ जाव[1] हियए करयलपरिग्गहिय सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वयासी—सामित्ति आणाए विणएणं वयणं पडिसुणेइ, पडिसुणित्ता एवं हत्थिवाउयं आमंतेइ, आमंतेत्ता एवं वयासी—खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! कूणियस्स रण्णो भंभसारपुत्तस्स आभिसेक्कं हत्थिरयणं पडिकप्पेहि, हयगयरहपवरजोहकलियं चाउरंगिणिं सेणं सण्णाहेहि, सण्णाहेत्ता एयमाणत्तियं पच्चप्पिणाहि।

४१—राजा कूणिक द्वारा यो कहे जाने पर उस सेनानायक ने हर्ष एव प्रसन्नतापूर्वक हाथ जोडे, उन्हे सिर के चारो ओर घुमाया, अजलि को मस्तक से लगाया तथा विनयपूर्वक राजा का आदेश स्वीकार करते हुए निवेदन किया—महाराज की जैसी आज्ञा।

---

१ देखें सूत्र-सख्या १८

सेनानायक ने यों राजाज्ञा स्वीकार कर हस्ति-व्यापृत—महावत को बुलाया। बुलाकर उससे कहा—देवानुप्रिय! भभसार के पुत्र महाराज कूणिक के लिए प्रधान, उत्तम हाथी सजाकर शीघ्र तैयार करो। घोड़े, हाथी, रथ तथा श्रेष्ठ योद्धाओं से परिगठित चतुरंगिणी सेना के तैयार होने की व्यवस्था कराओ। फिर मुझे आज्ञा-पालन हो जाने की सूचना करो।

४२—तए णं से हत्थिवाउए बलवाउयस्स एयमट्ठं सोच्चा आणाए विणएणं वयणं पडिसुणेइ, पडिसुणित्ता आभिसेक्कं हत्थिरयणं छेयायरियउवएसमइकप्पणाविकप्पेहिं सुणिउणेहिं उज्जलणेवत्थ-हत्थपरिवत्थियं, सुसज्जं धम्मियसण्णद्धबद्धकवइयउप्पीलियकच्छवच्छगेवेयबद्धगलवरभूसणविरायंतं, अहियतेयजुत्तं, सललियवरकण्णपूरविराइयं, पलंबओचूलमहुयरकयंधयारं, चित्तपरिच्छेअपच्छयं, पहरणावरणभरियजुद्धसज्जं, सच्छत्तं, सज्झयं, सघंटं, सपडागं, पंचामेलयपरिमंडियाभिरामं, ओसारिय-जमलजुयलघंटं, विज्जुपिणद्धं व कालमेहं, उप्पाइयपव्वयं व चंकमंतं, मत्तं, महामेहमिव गुलगुलंतं, मणपवणजइणवेगं, भीमं, संगामियाओज्जं आभिसेक्कं हत्थिरयणं पडिकप्पेइ, पडिकप्पेत्ता हयगयरह-पवरजोहकलियं चाउरंगिणिं सेणं सण्णाहेइ, सण्णाहेत्ता जेणेव बलवाउए, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता एयमाणत्तियं पच्चप्पिणइ।

४२—महावत ने सेनानायक का कथन सुना, उसका आदेश विनय-सहित स्वीकार किया। आदेश स्वीकार कर उस महावत ने, कलाचार्य से शिक्षा प्राप्त करने से जिसकी बुद्धि विविध कल्पनाओं तथा सर्जनाओं में अत्यन्त निपुण—उर्वर थी, उस उत्तम हाथी को उज्ज्वल नेपथ्य—चमकीले वस्त्र, वेषभूषा आदि द्वारा शीघ्र सजा दिया। उस सुसज्ज हाथी का धार्मिक उत्सव के अनुरूप शृंगार किया, उसके कवच लगाया, कक्षा—बाँधने की रस्सी को उसके वक्षःस्थल से कसा, गले में हार तथा उत्तम आभूषण पहनाये, इस प्रकार उसे सुशोभित किया। वह बड़ा तेजोमय दीखने लगा। सुललित—लालित्ययुक्त या कलापूर्ण कर्णपूरों—कानों के आभूषणों द्वारा उसे सुसज्जित किया। लटकते हुए लम्बे झूलों तथा मद की गंध से एकत्र हुए भौंरों के कारण वहाँ अंधकार जैसा प्रतीत होता था। झूल पर बेल बूंटे कढ़ा प्रच्छद—छोटा आच्छादक वस्त्र डाला गया। शस्त्र तथा कवचयुक्त वह हाथी युद्धार्थ सज्जित जैसा प्रतीत होता था। उसके छत्र, ध्वजा, घंटा तथा पताका—ये सब यथास्थान योजित किये गये। मस्तक को पाँच कलगियों से विभूषित कर उसे सुन्दर बनाया। उसके दोनों ओर—दोनों परिपार्श्व में दो घंटियाँ लटकाईं। वह हाथी बिजली सहित काले बादल जैसा दिखाई देता था। वह अपने बड़े डीलडौल के कारण ऐसा लगता था, मानो अकस्मात् कोई चलता-फिरता पर्वत उत्पन्न हो गया हो। वह मदोन्मत्त था। बड़े मेघ की तरह वह गुलगुल शब्द द्वारा अपने स्वर में मानो गरजता था। उसकी गति मन तथा वायु के वेग को भी पराभूत करने वाली थी। विशाल देह तथा प्रचंड शक्ति के कारण वह भीम—भयावह प्रतीत होता था। उस संग्राम योग्य—वीरवेशान्वित आभिषेक्य हस्तिरत्न को महावत ने सन्नद्ध किया—सुसज्जित कर तैयार किया। उसे तैयार कर घोड़े, हाथी, रथ तथा उत्तम योद्धाओं से परिगठित सेना को तैयार कराया। फिर वह महावत, जहाँ सेनानायक था, वहाँ आया और आज्ञा-पालन किये जा चुकने की सूचना दी।

४३—तए णं से बलवाउए जाणसालियं सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं वयासी—खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! सुभद्दापमुहाणं देवीणं बाहिरियाए उवट्ठाणसालाए पाडिएक्कपाडिएक्काइं जत्ताभि-मुहाइं जुत्ताइं जाणाइं उवट्ठवेह, उवट्ठवेत्ता एयमाणत्तियं पच्चप्पिणाहि।

४३--तदनन्तर सेनानायक ने यानशालिक—यानशाला के अधिकारी को बुलाया। बुलाकर उससे कहा—सुभद्रा आदि रानियो के लिए, उनमे से प्रत्येक के लिए (अलग-अलग) यात्राभिमुख—गमनोद्यत, जुते हुए यान बाहरी सभा-भवन के निकट उपस्थित करो—जुतवाकर, तैयार कर हाजिर करो। हाजिर कर आज्ञा-पालन किये जा चुकने की सूचना दो।

४४—तए णं से जाणसालिए बलवाउयस्स एयमट्ठं आणाए विणएणं वयणं पडिसुणेइ, पडिसुणेत्ता जेणेव जाणसाला तेणेव उवागच्छइ, तेणेव उवागच्छित्ता जाणाइं पच्चुवेक्खेइ, पच्चुवेक्खेत्ता जाणाइं संपमज्जेइ, सपमज्जेत्ता जाणाइं संवट्टेइ, संवट्टेत्ता जाणाइं णीणेइ, णीणेत्ता जाणाणं दूसे पवीणेइ, पवीणेत्ता जाणाइं समलंकरेइ, समलंकरेत्ता जाणाइं वरभंडगमंडियाइं करेइ, करेत्ता जेणेव वाहणसाला तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता वाहणसालं अणुपविसइ, अणुपविसित्ता वाहणाइं पच्चुवेक्खेइ, पच्चुवेक्खेत्ता वाहणाइं सपमज्जइ, सपमज्जित्ता वाहणाइं णीणेइ, णीणेत्ता वाहणाइं अप्फालेइ, अप्फालेत्ता दूसे पवीणेइ, पवीणेत्ता वाहणाइं समलंकरेइ, समलंकरेत्ता वाहणाइं वरभंडग-मडियाइं करेइ, करेत्ता वाहणाइं जाणाइं जोएइ, जोएत्ता पओयलट्ठि पओयधरए य समं आडहइ, आडहित्ता वट्टमग्गं गाहेइ, गाहेत्ता जेणेव बलवाउए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता बलवाउयस्स एयमाणत्तियं पच्चप्पिणइ।

४४—यानशालिक ने सेनानायक का आदेश-वचन विनयपूर्वक स्वीकार किया। स्वीकार कर वह, जहाँ यानशाला थी, वहाँ आया। आकर यानो का निरीक्षण किया। निरीक्षण कर उनका प्रमार्जन किया—अच्छी तरह सफाई की। सफाई कर उन्हे वहाँ से हटाया। वहाँ से हटाकर बाहर निकाला। बाहर निकाल कर उनके दूष्य—आच्छादक वस्त्र—उन पर लगी खोलियाँ दूर की। खोलियाँ हटाकर यानो को सजाया। सजाकर उन्हे उत्तम आभरणो से विभूषित किया। विभूषित कर वह जहा वाहनशाला थी, आया। आकर वाहनशाला मे प्रविष्ट हुआ। प्रविष्ट होकर वाहनो (बैल आदि) का निरीक्षण किया। निरीक्षण कर उन्हे सप्रमार्जित किया—उन पर लगी हुई धूल आदि को दूर किया वैसा कर उन्हे वाहनशाला से बाहर निकाला। बाहर निकाल कर उनकी पीठ थपथपाई। वैसा कर उन पर लगे आच्छादक वस्त्र—झूल आदि हटाये। आच्छादक वस्त्र हटाकर वाहनो को सजाया। सजाकर उन्हे उत्तम आभरणो से विभूषित किया। विभूषित कर उन्हे यानो मे—गाडियो, रथो आदि मे जोता। जोतकर प्रतोत्रयष्टिकाए—गाडी, रथ आदि हाँकने की लकडियाँ या चाबुक तथा प्रतोत्रधर—गाडी हाँकने वालो—गाड़ीवानो को प्रस्थापित किया—उन्हें यष्टिकाएँ देकर यान-चालन का कार्य सौपा। वैसा कर यानो को राजमार्ग पकडवाया—गाडीवान उसकी आज्ञानुसार यानो को राजमार्ग पर लाये। वैसा करवाकर वह, जहाँ सेनानायक था, वहाँ आया। आकर सेनानायक को आज्ञा-पालन किये जा चुकने की सूचना दी।

४५—तए णं से बलवाउए णयरगुत्तियं आमंतेइ, आमंतेत्ता एवं वयासी—खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! चपं णयरिं सब्भिंतरबाहिरियं आसित्त जाव[1] (सम्मज्जिउवलित्तं, सिंघाडगतियचउक्क-चच्चरचउम्मुहमहापहपहेसु आसित्तसित्तसुइसम्मट्ठरत्थंतरावणवीहियं, मंचाइमंचकलियं, णाणाविह-रागउच्छियज्झयपडागाइपडागमंडियं, लाउल्लोइयमहियं) कारवेत्ता एयमाणत्तियं पच्चप्पिणाहि।

---

१ देखें सूत्र-सख्या ४०

४५—फिर सेनानायक ने नगरगुप्तिक—नगर की स्वच्छता, सद्व्यवस्था आदि के नियामक, नगररक्षक या कोतवाल को बुलाया। बुलाकर उससे कहा—देवानुप्रिय! चम्पा नगरी के बाहर और भीतर, उसके संघाटक, त्रिक, चतुष्क, चत्वर, चतुर्मुख, राजमार्ग—इन सबकी सफाई कराओ। वहाँ पानी का छिड़काव कराओ, गोबर आदि का लेप कराओ। (नगरी के रथ्यान्तर—गलियों के मध्य-भागो तथा आपणवीथियो—बाजार के रास्तो की भी सफाई कराओ, पानी का छिड़काव कराओ, उन्हे स्वच्छ व सुहावने कराओ। मचातिमच—सीढ़ियो से समायुक्त प्रेक्षा-गृहो की रचना कराओ। तरह-तरह के रगो की, ऊँची, सिंह, चक्र आदि चिह्नों से युक्त ध्वजाएँ, पताकाएँ तथा अतिपताकाएँ, जिनके परिपार्श्व अनेकानेक छोटी पताकाओ—झडियो से सजे हो, ऐसी बडी पताकाएँ लगवाओ। नगरो की दीवारो को लिपवाओ, पुतवाओ· ·) नगरी के वातावरण को उत्कृष्ट सौरभमय करवा दो। यह सब करवाकर मुझे सूचित करो कि आज्ञा का अनुपालन हो गया है।

४६—तए णं से णयरगुत्तिए बलवाउयस्स एयमट्ठं आणाए विणएणं पडिसुणेइ, पडिसुणित्ता चंपं णयरिं सब्भितरबाहिरियं आसित्त जाव[1] कारवेत्ता, जेणेव बलवाउए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता एयमाणत्तियं पच्चप्पिणइ।

४६—नगरपाल ने सेनानायक का आदेश विनयपूर्वक स्वीकार किया। स्वीकार कर चम्पा नगरी की बाहर से, भीतर से सफाई, पानी का छिड़काव आदि करवाकर, वह जहाँ सेनानायक था, वहाँ आया। आकर आज्ञापालन किये जा चुकने की सूचना दी।

४७—तए णं से बलवाउए कोणियस्स रण्णो भंभसारपुत्तस्स आभिसेक्कं हत्थिरयणं पडिकप्पियं पासइ, हयगय जाव (रहपवरजोहकलियं च चाउरंगिणिं सेणं) सण्णाहियं पासइ, सुभद्दापमुहाण देवीण पडिजाणाइं उवट्ठवियाइं पासइ, चंपं णयरिं सब्भितरं जाव[2] गंधवट्टिभूयं कयं पासइ, पासित्ता हट्ठतुट्ठचित्तमाणंदिए, पीअमणे जाव[3] हियए जेणेव कूणिए राया भंभसारपुत्ते, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता करयल जाव (-परिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु) एवं वयासी—कप्पिए णं देवाणुप्पियाणं आभिसेक्के हत्थिरयणे, हयगयरहपवरजोहकलिया य चाउरंगिणी सेणा सण्णाहिया, सुभद्दापमुहाण य देवीणं बाहिरियाए उवट्ठाणसालाए पाडिएक्कपाडिएक्काइं जत्ताभिमुहाइं जुत्ताइं जाणाइं उवट्ठावियाइं, चंपा णयरी सब्भितरबाहिरिया आसित्त जाव[4] गंधवट्टिभूया कया, तं णिज्जंतु णं देवाणुप्पिया! समणं भगवं महावीरं अभिवंदया।

४७—तदनन्तर सेनानायक ने भंभसार के पुत्र राजा कूणिक के प्रधान हाथी को सजा हुआ देखा। (घोड़े, हाथी, रथ, उत्तम योद्धाओ से परिगठित) चतुरंगिणी सेना को सन्नद्ध—सुसज्जित देखा। सुभद्रा आदि रानियो के लिए उपस्थापित—तैयार कर लाये हुए यान देखे। यह भी देखा,

१ देखें सूत्र-सख्या ४०

२ देखें सूत्र-सख्या ४० तथा सूत्र-सख्या ४५

३ देखें सूत्र-सख्या १८

४ देखें यही, सूत्र-सख्या ४० तथा सूत्र-सख्या ४५

चम्पा नगरी की भीतर और बाहर से सफाई की जा चुकी है, वह सुगंध से महक रही है। यह सब देखकर वह मन में हर्षित, परितुष्ट, आनन्दित एवं प्रसन्न हुआ। भंभसार का पुत्र राजा कूणिक जहाँ था, वह वहाँ आया। आकर हाथ जोड़े, (उन्हें सिर के चारों ओर घुमाया, अंजलि को मस्तक से लगाया) राजा से निवेदन किया—

देवानुप्रिय! आभिषेक्य हस्तिरत्न तैयार है। घोड़े, हाथी, रथ, उत्तम योद्धाओं से परिगठित चतुरंगिणी सेना सन्नद्ध है। सुभद्रा आदि रानियों के लिए, प्रत्येक के लिए अलग-अलग जुते हुए यात्राभिमुख—गमनोद्यत यान बाहरी सभा-भवन के निकट उपस्थापित—हाजिर हैं। चम्पा नगरी की भीतर और बाहर से सफाई करवा दी गई है, पानी का छिड़काव करवा दिया गया है, वह सुगंध से महक रही है। देवानुप्रिय! श्रमण भगवान् महावीर के अभिवन्दन हेतु आप पधारें।

४८—तए णं से कूणिए राया भंभसारपुत्ते बलवाउयस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा, णिसम्म हट्ठतुट्ठ जाव[1] हियए, जेणेव अट्टणसाला तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता अट्टणसालं अणुपविसइ, अणुपविसित्ता अणेगवायामजोग्गवग्गण-वामद्दण-मल्लजुद्धकरणेहिं संते, परिस्संते, सयपाग-सहस्सपागेहिं सुगंधतेल्लमाइएहिं पीणणिज्जेहिं दप्पणिज्जेहिं मयणिज्जेहिं विहणिज्जेहिं सव्विंदियगायपल्हायणिज्जेहिं अब्भिंगेहिं अब्भिंगिए समाणे, तेल्लचम्मंसि पडिपुण्णपाणिपायसुउमालकोमलतलेहिं पुरिसेहिं छेएहिं, दक्खेहिं पत्तट्ठेहिं कुसलेहिं मेहावीहिं निउणसिप्पोवगएहिं अब्भिंगणपरिमद्दणुव्वलणकरणगुणणिम्माएहिं, अट्ठिसुहाए, मंससुहाए, तयासुहाए, रोमसुहाए चउव्विहाए संबाहणाए संबाहिए समाणे, अवगयखेय-परिस्समे अट्टणसालाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता जेणेव मज्जणघरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता मज्जणघरं अणुपविसइ, अणुपविसित्ता समुत्तजालाउलाभिरामे विचित्तमणिरयणकुट्टिमतले रमणिज्जे ण्हाणमंडवंसि, णाणामणिरयणभत्तिचित्तंसि ण्हाणपीढंसि सुहणिसण्णे सुद्धोदएहिं, गंधोदएहिं, पुप्फोदएहिं, सुहोदएहिं पुणो कल्लाणगपवरमज्जणविहीए मज्जिए, तत्थ कोउयसएहिं बहुविहेहिं कल्लाणगपवरमज्जणावसाणे पम्हलसुकुमालगंधकासाइयलूहियंगे, सरससुरहिगोसीसचंदणाणुलित्तगत्ते, अहयसुमहग्घदूसरयणसुसंवुए, सुइमालावण्णगविलेवणे य आविद्धमणिसुवण्णे, कप्पियहारद्धहारतिसरयपालंबपलंबमाणकडिसुत्तसुकयसोभे, पिणद्धगेविज्जअंगुलिज्जगललियंगयललियकयाभरणे, वरकडगतुडियथंभियभुए, अहियरूवसस्सिरीए, मुद्दियापिंगलंगुलीए कुंडलउज्जोवियाणणे मउडदित्तसिरए, हारोत्थयसुकयरइयवच्छे, पालंबपलंबमाणपडसुकयउत्तरिज्जे, णाणामणिकणगरयणविमलमहरिहणिउणोवियमिसिमिसंतविरइयसुसिलिट्ठविसिट्ठलट्ठआविद्धवीरवलए किं बहुणा, कप्परुक्खए चेव अलंकियविभूसिए णरवई सकोरंटमल्लदामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं, चउचामरवालवीइयंगे, मंगलजय-सद्दकयालोए, मज्जणघराओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता अणेगगणनायग-दंडनायग-राईसर-तलवर-माडंबिय-कोडुंबिय-इब्भ-सेट्ठि-सेणावइ-सत्थवाह-दूय-संधिवालसद्धिं संपरिवुडे धवलमहामेहणिग्गए इव गहगणदिप्पंत-रिक्ख-तारागणाण मज्झे ससिव्व पियदंसणे णरवई जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला, जेणेव आभिसेक्के हत्थिरयणे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता अंजणगिरिकूडसण्णिभं गयवइं णरवई दुरूढे।

४८—भंभसार के पुत्र राजा कूणिक ने सेनानायक से यह सुना। वह प्रसन्न एवं परितुष्ट हुआ। जहाँ व्यायामशाला थी, वहाँ आया। आकर व्यायामशाला में प्रवेश किया। प्रवेश कर अनेक

1 देखें सूत्र-संख्या १८

प्रकार से व्यायाम किया। अगो को खींचना, उछलना-कूदना, अंगों को मोड़ना, कुश्ती लड़ना, व्यायाम के उपकरण—मुद्गर आदि घुमाना—इत्यादि क्रियाओं द्वारा अपने को श्रान्त, परिश्रान्त किया—थकाया, विशेष रूप से थकाया। फिर प्रीणनीय रस, रक्त आदि धातुओं मे समता-निष्पादक, दर्पणीय—बलवर्धक, मदनीय—कामोद्दीपक, बृ हणीय – मासवर्धक, शरीर तथा सभी इन्द्रियो के लिए आह्लादजनक—आनन्दकर या लाभप्रद शतपाक, सहस्रपाक सज्ञक सुगंधित तैलो, अभ्यगो—उबटनो आदि द्वारा शरीर को मसलवाया।

फिर तैलचर्म पर—आसन-विशेष पर—वैसे आसन पर, तैल मालिश किये हुए पुरुष को जिस पर बिठाकर संवाहन किया जाता है, देहचपी की जाती है, स्थित होकर ऐसे पुरुषो द्वारा, जिनके हाथों और पैरो के तलुए अत्यन्त सुकुमार तथा कोमल थे, जो छेक – अवसरज्ञ, कलाविद्—बहत्तर कलाओं के ज्ञाता, दक्ष—अविलम्ब कार्य-सपादन मे सक्षम, प्राप्तार्थ—अपने व्यवसाय मे सुशिक्षित, कुशल, मेधावी—उर्वर प्रतिभाशील, सवाहन-कला मे निपुण—तत्सम्बद्ध क्रिया-प्रक्रिया के मर्मज्ञ, अभ्यंगन—तैल, उबटन आदि के मर्दन, परिमर्दन—तैल आदि को अगो के भीतर तक पहुँचाने हेतु किये जाने वाले विशेष मर्दन, उद्वलन—उलटे रूप मे—नीचे से ऊपर या उलटे रोओ से किये जाते मर्दन से जो गुण, लाभ होते हैं, उनका निष्पादन करने मे समर्थ थे, हड्डियो के लिए सुखप्रद, मांस के लिए सुखप्रद, चमडी के लिए सुखप्रद तथा रोमो के लिए सुखप्रद—यो चार प्रकार से मालिश व देहचंपी करवाई, शरीर को दबवाया।

इस प्रकार थकावट, व्यायामजनित परिश्रान्ति दूर कर राजा व्यायामशाला से बाहर निकला। बाहर निकल कर, जहाँ स्नानघर था, वहाँ आया। आकर स्नानघर मे प्रविष्ट हुआ। वह (स्नानघर) मोतियो से बनी जालियो द्वारा सुन्दर लगता था अथवा सब ओर जालियाँ होने से वह बडा मनोरम था। उसका प्रागण तरह-तरह की मणियो, रत्नो से खचित था। उसमे रमणीय स्नान-मडप था। उसकी भीतो पर अनेक प्रकार की मणियो तथा रत्नो को चित्रात्मक रूप मे जडा गया था। ऐसे स्नानघर मे प्रविष्ट होकर राजा वहाँ स्नान हेतु अवस्थापित चौकी पर सुखपूर्वक बैठा। शुद्ध, चन्दन आदि सुगन्धित पदार्थों के रस से मिश्रित, पुष्परस-मिश्रित शुभ या सुखप्रद—न ज्यादा उष्ण, न ज्यादा शीतल जल से आनन्दप्रद, अतीव उत्तम स्नान-विधि द्वारा पुन· पुनः—अच्छी तरह स्नान किया। स्नान के अनन्तर राजा ने दृष्टिदोष, नजर आदि के निवारणहेतु रक्षाबन्धन आदि के रूप मे अनेक, सैकडो विधि-विधान सपादित किये। तत्पश्चात् रोएँदार, सुकोमल, काषायित—हरीतकी, विभीतक, आमलक आदि कसैली वनौषधियो से रगे हुए अथवा काषाय—लाल या गेरुए रग के वस्त्र से शरीर को पोछा। सरस—रसमय—आर्द्र, सुगन्धित गोलोचन तथा चन्दन का देह पर लेप किया। अहत—अदूषित, चूहो आदि द्वारा नही कुतरे हुए, निर्मल, दूष्यरत्न—उत्तम या प्रधान वस्त्र भलीभाँति पहने। पवित्र माला धारण की। केसर आदि का विलेपन किया। मणियो से जडे सोने के आभूषण पहने। हार—अठारह लडो के हार, अर्धहार—नौ लडो के हार, तथा तीन लडो के हार और लम्बे, लटकते कटिसूत्र—करधनी या कदोरे से अपने को सुशोभित किया। गले के आभरण धारण किये। अगुलियो मे अगूठियाँ पहनी। इस प्रकार अपने सुन्दर अगो को सुन्दर आभूषणों से विभूषित किया। उत्तम ककणो तथा त्रुटितो—तोडो—भुजबधो द्वारा भुजाओ को स्तम्भित किया—कसा। यो राजा की शोभा और अधिक बढ गई। मुद्रिकाओ—सोने की अगूठियो के कारण राजा की अंगुलियाँ पीली लग रही थीं। कुंडलो से मुख उद्योतित था—चमक रहा था। मुकुट से मस्तक

दीप्त—देदीप्यमान था। हारो से ढका हुआ उसका वक्ष स्थल सुन्दर प्रतीत हो रहा था। राजा ने एक लम्बे, लकटते हुए वस्त्र को उत्तरीय (दुपट्टे) के रूप मे धारण किया। सुयोग्य शिल्पियों द्वारा मणि, स्वर्ण, रत्न—इनके योग से सुरचित विमल—उज्ज्वल, महार्ह—बडे लोगो द्वारा धारण करने योग्य, सुश्लिष्ट—सुन्दर जोड युक्त, विशिष्ट—उत्कृष्ट, प्रशस्त—प्रशसनीय आकृतियुक्त वीरवलय—विजय-कंकण धारण किया। अधिक क्या कहे, इस प्रकार अलकृत—अलकारयुक्त, विभूषित—वेषभूषा, विशिष्ट सज्जायुक्त राजा ऐसा लगता था, मानो कल्पवृक्ष हो। अपने ऊपर लगाये गये कोरट पुष्पो की मालाओ से युक्त छत्र, दोनो ओर डुलाये जाते चार चवर, देखते ही लोगों द्वारा किये गये मगलमय जय शब्द के साथ राजा स्नान-गृह से बाहर निकला। स्नानघर से बाहर निकल कर अनेक गण-नायक—जनसमुदाय के प्रतिनिधि, दण्डनायक—आरक्षि-अधिकारी, राजा—माण्डलिक नरपति, ईश्वर—ऐश्वर्यशाली या प्रभावशील पुरुष, तलवर—राजसम्मानित विशिष्ट नागरिक, माडबिक—जागीरदार, भूस्वामी, कौटुम्बिक—बडे परिवारो के प्रमुख, इभ्य—वैभवशाली, श्रेष्ठी—सम्पत्ति और सुव्यवहार से प्रतिष्ठा प्राप्त सेठ, सेनापति, सार्थवाह—अनेक छोटे व्यापारियो को साथ लिये देशान्तर में व्यापार-व्यवसाय करने वाले, दूत—सदेशवाहक, सन्धिपाल—राज्य के सीमान्त-प्रदेशो के अधिकारी—इन सबसे घिरा हुआ वह राजा धवल महामेघ—श्वेत, विशाल बादल से निकले नक्षत्रो, आकाश को देदीप्यमान करते तारो के मध्यवर्ती चन्द्र के सदृश देखने मे बडा प्रिय लगता था। वह, जहाँ बाहरी सभा-भवन था, प्रधान हाथी था, वहाँ आया। वहाँ आकर अंजनगिरि के शिखर के समान विशाल, उच्च गजपति पर वह नरपति आरूढ हुआ।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र मे राजा कूणिक के शरीर की मालिश के प्रसग मे शतपाक तथा सहस्रपाक तैलो का उल्लेख हुआ है। वृत्तिकार आचार्य अभयदेवसूरि ने अपनी वृत्ति मे तीन प्रकार से इनकी व्याख्या की है। उनके अनुसार जो तैल विभिन्न औषधियो के साथ क्रमश सौ बार तथा हजार बार पकाये जाते थे, वे शतपाक तथा सहस्रपाक तैल कहे जाते थे। दूसरी व्याख्या के अनुसार जो, क्रमश सौ प्रकार की तथा हजार प्रकार की औषधियो से पकाये जाते थे, वे शतपाक एव सहस्रपाक तैल के नाम से सज्ञित होते थे। तीसरी व्याख्या के अनुसार जिनके निर्माण मे क्रमश सौ कार्षापण तथा हजार कार्षापण व्यय होते थे, वे शतपाक एव सहस्रपाक तैल कहे जाते थे।

कार्षापण प्राचीन भारत मे प्रयुक्त एक सिक्का था। वह सोना, चाँदी तथा ताँबा—इनका पृथक्-पृथक् तीन प्रकार का होता था। स्वर्ण-कार्षापण का वजन १६ मासे, रजत-कार्षापण का वजन १६ पण (तोलविशेष) और ताम्र-कार्षापण का वजन ८० रत्ती होता था।[1]

इस सूत्र मे राजा के पारिपार्श्विक विशिष्ट पुरुषो मे सबसे पहले गणनायक शब्द का प्रयोग हुआ है। तत्कालीन साहित्य मे गण शब्द विशेष रूप से जन-समूह के अर्थ में प्रयुक्त दिखाई देता है। यहाँ संभवत. वह ऐसे व्यक्तियो के लिए प्रयुक्त हुआ हो, जो आज की भाषा में स्वायत्त-शासन (Local Self-Government) के—पचायतो, नगरपालिकाओ आदि के प्रतिनिधि रहे हो।

प्रस्थान

४९—तए णं तस्स कूणियस्स रण्णो भंभसारपुत्तस्स आभिसेक्कं हत्थिरयणं दुरूढस्स समाणस्स

1. Sanskrit-English Dictionary Sir Monier Williams, Page 276

तप्पढमयाए इमे अट्ठट्ठ मंगलया पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठिया। त जहा—सोवत्थिय-सिरिवच्छ णंदियावत्त-वद्धमाणग-भद्दासण-कलस-मच्छ-दप्पणा।

तयाणंतरं च णं पुण्णकलसभिंगारं, दिव्वा य छत्तपडागा सचामरा, दंसणरइयआलोयदरिसणिज्जा वाउद्धूयविजयवेजयंती य, ऊसिया गगणतलमणुलिहंती पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठिया। तयाणंतरं च णं वेरुलियभिसंतविमलदंडं, पलंबकोरंटमल्लदामोवसोभियं, चंदमण्डलणिभं, समूसियं, विमलं आयवत्तं, पवरं सीहासणं वरमणिरयणपादपीढं, सपाउयाजोयसमाउत्तं, बहुकिंकरकम्मकरपुरिसपायत्तपरिक्खित्तं पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठियं।

तयाणंतर च णं बहवे लट्ठिग्गाहा कुंतग्गाहा चावग्गाहा चामरग्गाहा पासग्गाहा पोत्थयग्गाहा फलगग्गाहा पीढग्गाहा वीणग्गाहा कूवग्गाहा हडप्पयग्गाहा पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठिया।

तयाणंतरं च णं बहवे दंडिणो मुंडिणो सिहंडिणो जडिणो पिच्छिणो हासकरा डमरकरा चाडुकरा वादकरा कंदप्पकरा दवकरा कोक्कुइया किडकरा य, वायंता य गायंता य हसंता य नच्चंता य भासंता य सावेंता य रक्खंता य रवेंता य आलोयं च करेमाणा, जयसद्दं पउंजमाणा पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठिया।

तयाणंतर च णं जच्चाणं तरमल्लिहायणाणं हरिमेलामउलमल्लियच्छाणं चंचुच्चिय-ललिय-पुलियचल-चवल-चंचलगईणं, लंघण-वग्गण-धावण-धोरण-तिवई-जइणसिक्खियगईणं, ललंत-लामगललायवरभूसणाणं, मुहभंडग-ओचूलग-थासग-अहिलाण-चामर-गण्ड-परिमण्डियकडीणं, किंकरवर-तरुणपरिग्गहियाणं अट्ठसयं वरतुरगाणं पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठियं।

तयाणंतरं च णं ईसीदंताणं ईसीमत्ताणं ईसीतुंगाणं ईसीउच्छंगविसालधवलदंताणं कंचणकोसी-पविट्ठदंताणं कंचणमणिरयणभूसियाणं, वरपुरिसारोहगसंपउत्ताणं अट्ठसयं गयाणं पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठियं।

तयाणंतरं च णं सच्छत्ताणं सज्झयाणं सघंटाणं सपडागाणं सतोरणवराणं सणंदिघोसाणं सखिंखिणीजालपरिक्खित्ताणं हेमवयचित्ततिणिसकणगणिज्जुत्तदारुयाणं, कालायससुकयणेमिजंतकम्माणं, सुसिलिट्ठ-वत्तमंडलधुराणं, आइण्णवरतुरगसंपउत्ताणं, कुसलनरच्छेयसारहिसुसंपग्गहियाणं बत्तीसतोण-परिमंडियाणं सकंकडवडेंसगाणं सचावसरपहरणावरण-भरियजुद्धसज्जाणं अट्ठसयं रहाणं पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठियं। तयाणंतरं च णं असि-सत्ति-कुंत-तोमर-सूल-लउड-भिंडिमाल-धणुपाणिसज्जं पायत्ताणीयं पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठियं।

४९—तब भंभसार के पुत्र राजा कूणिक के प्रधान हाथी पर सवार हो जाने पर सबसे पहले स्वस्तिक, श्रीवत्स, नन्द्यावर्त, वर्द्धमानक, भद्रासन, कलश, मत्स्य तथा दर्पण—ये आठ मंगल क्रमश रवाना किये गये।

उसके बाद जल से परिपूर्ण कलश, झारियाँ, दिव्य छत्र, पताका, चंवर तथा दर्शन-रचित-राजा के दृष्टिपथ मे अवस्थित—राजा को दिखाई देने वाली, आलोक-दर्शनीय—देखने में सुन्दर प्रतीत होने वाली, हवा से फहराती, उच्छ्रत—ऊँची उठी हुई, मानो आकाश को छूती हुई-सी विजय-वैजयन्ती—विजय-ध्वजा लिये राजपुरुष चले।

तदनन्तर वैडूर्य—नीलम की प्रभा से देदीप्यमान उज्ज्वल दंडयुक्त, लटकती हुई कोरंट पुष्पो की मालाओ से सुशोभित, चन्द्रमडल के सदृश आभामय, समुच्छ्रित—ऊँचा फैलाया हुआ निर्मल आतपत्र—धूप से बचाने वाला—छत्र, अति उत्तम सिहासन, श्रेष्ठ मणि-रत्नो से विभूषित—जिसमे मणियाँ तथा रत्न जड़े थे, जिस पर राजा की पादुकाओ की जोडी रखी थी, वह पादपीठ—राजा के पैर रखने का पीढा, चौकी, जो (उक्त वस्तु-समवाय) किङ्करो—आज्ञा कीजिए, क्या करे—हरदम यो आज्ञा-पालन में तत्पर सेवकों, विभिन्न कार्यों में नियुक्त भृत्यो तथा पदातियो- पैदल चलने वाले लोगो से घिरे हुए थे, क्रमश आगे रवाना किये गये।

तत्पश्चात् बहुत से लष्टिग्राह—लट्ठीधारी, कुन्तग्राह—भालाधारी, चापग्राह—धनुर्धारी, चमरग्राह—चवर लिये हुए, पाशग्राह—उद्धत घोडो, बैलो को नियन्त्रित करने हेतु चाबुक आदि लिये हुए अथवा पासे आदि द्यूत-सामग्री लिये हुए, पुस्तकग्राह—पुस्तकधारी—ग्रन्थ लिये हुए अथवा हिसाब-किताब रखने के बहीखाते आदि लिये हुए, फलकग्राह—काष्ठपट्ट लिये हुए, पीठग्राह—आसन लिये हुए, वीणाग्राह—वीणा धारण किये हुए, कूप्यग्राह-पक्व तैलपात्र लिये हुए, हडप्पयग्राह—द्रम्म नामक सिक्को के पात्र अथवा ताम्बूल—पान के मसाले, सुपारी आदि के पात्र लिये हुए पुरुष यथाक्रम आगे रवाना हुए।

उसके बाद बहुत से दण्डी—दण्ड धारण करने वाले, मुण्डी—सिरमुण्डे, शिखण्डी—शिखाधारी, जटी—जटाधारी, पिच्छी—मयूरपिच्छ—मोरपख आदि धारण किये हुए, हासकर—हास-परिहास करने वाले—विदूषक, डमरकर—हल्लेबाज, चाटुकर—खुशामदी—खुशामदयुक्त प्रिय वचन बोलने वाले, वादकर—वादविवाद करने वाले, कन्दर्पकर—कामुक या शृगारी चेष्टाएँ करने वाले, दवकर—मजाक करने वाले, कौत्कुचिक—भाड आदि, क्रीडाकर—खेल-तमाशे करने वाले, इनमे से कतिपय बजाते हुए—तालिया पीटते हुए अथवा वाद्य बजाते हुए, गाते हुए, हसते हुए, नाचते हुए बोलते हुए, सुनाते हुए, रक्षा करते हुए, अवलोकन करते हुए, तथा जय शब्द का प्रयोग करते हुए - जय बोलते हुए यथाक्रम आगे बढे।

तदनन्तर जात्य—उच्च जाति के—ऊँची नसल के एक सौ आठ घोडे यथाक्रम रवाना किये गये। वे वेग, शक्ति और स्फूर्ति मय वय—यौवन वय मे स्थित थे। हरिमेला नामक वृक्ष की कली तथा मल्लिका—चमेली के पुष्प जैसी उनकी आँखे थी। तोते की चोच की तरह वक्र—टेढे पैर उठाकर वे शान से चल रहे थे अथवा चञ्चुरित—कुटिल ललित गतियुक्त थे। वे चपल, चचल चाल लिये हुए थे अथवा उनकी गति बिजली के सदृश चचल—तीव्र थी। गड्ढे आदि लाघना, ऊँचा कूदना, तेजी से सीधा दौडना, चतुराई से दौडना, भूमि पर तीन पैर टिकाना, जयिनी सज्ञक सर्वातिशायिनी तेज गति से दौड़ना, चलना इत्यादि विशिष्ट गतिक्रम वे सीखे हुए थे। उनके गले में पहने हुए, श्रेष्ठ आभूषण लटक रहे थे। मुख के आभूषण अवचूलक—मस्तक पर लगाई गई कलगी, दर्पण की आकृति-युक्त विशेष अलकार, अभिलान—मुखबन्ध या मोरे (मोहरे) बडे सुन्दर दिखाई देते थे। उनके कटिभाग चामर-दण्ड से सुशोभित थे। सुन्दर, तरुण सेवक उन्हे थामे हुए थे।

तत्पश्चात् यथाक्रम एक सौ आठ हाथी रवाना किये गये। वे कुछ कुछ मत्त—मदमस्त एव उन्नत थे। उनके दाँत (तरुण होने के कारण) कुछ कुछ बाहर निकले हुए थे। दाँतो के पिछले भाग

कुछ विशाल थे, धवल—अति उज्ज्वल, श्वेत थे। उन पर सोने के खोल चढ़े थे। वे हाथी स्वर्ण, मणि तथा रत्नों से—इनसे निर्मित आभरणो से शोभित थे। उत्तम, सुयोग्य महावत उन्हें चला रहे थे।

उसके बाद एक सौ आठ रथ यथाक्रम रवाना किये गये। वे छत्र, ध्वज—गरुड आदि चिह्नों से युक्त झण्डे, पताका—चिह्नरहित झण्डे, घण्टे, सुन्दर तोरण, नन्दिघोष—बारह प्रकार की वाद्य-ध्वनि[1] से युक्त थे। छोटी छोटी घंटियो से युक्त जाल उन पर फैलाये हुए—लगाये हुए थे। हिमालय पर्वत पर उत्पन्न तिनिश—शीशम-विशेष का काठ, जो स्वर्ण-खचित था, उन रथो मे लगा था। रथो के पहियो के घेरों पर लोहे के पट्टे चढाये हुए थे। पहियों की धुराएँ गोल थी, सुन्दर, सदृढ बनी थी। उनमें छटे हुए, उत्तम श्रेणी के घोडे जुते थे। सुयोग्य, सुशिक्षित सारथियों ने उनकी बागडोर सम्हाल रखी थी। वे बत्तीस तरकशो से सुशोभित थे—एक एक रथ में बत्तीस बत्तीस तरकश रखे थे। कवच, शिरस्त्राण—शिरोरक्षक टोप, धनुष, बाण तथा अन्यान्य शस्त्र उनमें रखे थे। इस प्रकार वे युद्ध-सामग्री से सुसज्जित थे।

तदनन्तर हाथो मे तलवारे, शक्तियाँ—त्रिशूले, कुन्त—भाले, तोमर—लोह-दड, शूल, लट्ठियाँ भिन्दिमाल—हाथ से फेके जानेवाले छोटे भाले या गोफिये, जिनमे रखकर पत्थर फेंके जाते हैं तथा धनुष धारण किये हुए सैनिक क्रमश रवाना हुए—आगे बढे।

विवेचन—चतुरगिणी सेना, उच्च अधिकारी, सभ्रान्त नागरिक, सेवक, किङ्कर, भृत्य, राज-वैभव की अनेकविध सज्जा के साथ इन सबसे सुसज्जित बहुत बडे जलूस के साथ भगवान् महावीर के दर्शन हेतु राजगृह-नरेश कूणिक, जो बौद्ध वाङ्मय मे अजातशत्रु के नाम से प्रसिद्ध है, जो अपने युग का उत्तर भारत का बहुत बडा नृपति था, रवाना होता है। जैन आगम-वाङ्मय मे अन्यत्र भी प्राय इसी प्रकार के वर्णन हैं, जहाँ सम्राट्, राजा सामन्त, श्रेष्ठी आदि भौतिक सत्ता, वैभव एव समृद्धिसम्पन्न पुरुष भगवान् के दर्शनार्थ जाते है। प्रश्न होता है, अध्यात्म से अनुप्रेरित हो, एक महान् तपस्वी, महान् ज्ञानी की सन्निधि मे जाते समय यह सब क्यो आवश्यक प्रतीत होता है कि ऐसी प्रदर्शनात्मक, आडम्बरपूर्ण साजसज्जा के साथ कोई जाए? सीधा-सा उत्तर है, राजा का रुतबा, गरिमा, शक्तिमत्ता जन-जन के समक्ष परिदृश्यमान रहे, जिसके कारण राजप्रभाव अक्षुण्ण बना रह सके। किसी दृष्टि से यह ठीक है पर गहराई मे जाने पर एक बात और भी प्रकट होती है। ऐसे महान् साधक, जिनके पास भौतिक सत्ता, स्वामित्व, समृद्धि और परिग्रह के नाम पर कुछ भी नहीं है, जो सर्वथा अकिञ्चन होते है पर जो कुछ उनके पास होता है, वह इतना महान्, इतना पावन तथा इतना उच्च होता है कि सारे जागतिक वैभवसूचक पदार्थ उसके समक्ष तुच्छ एवं नगण्य है। यथार्थ के जगत् मे त्याग के आगे भोग की गणना ही क्या! जहाँ त्याग आत्म-पराक्रम या शक्तिमत्ता का सस्फोट है, परम सशक्त अभिव्यञ्जना है, वहाँ भोग जीवन के दौर्बल्य और शक्तिशून्यता का सूचक है। अत एव जैसा ऊपर वर्णित हुआ है, भोग त्याग के आगे—समक्ष झुकने जाता है। इसलिए कहा जाता है कि जन-जन यह जान सके कि जिस भौतिक विभूति तथा भोगासक्ति मे वे मदोन्मत्त रहते हैं, वह सब मिथ्या है, वह वैभव भी, वह मदोन्माद भी। सम्भव है, ऐसा ही कुछ उच्च एव आदर्श भाव इस परम्परा के साथ जुडा हो।

---

१ १ भभा २ मउद ३ मद्दल ४ कडब ५ झल्लरि ६ हुडुक्क ७ कसाला। ८ काहल ९ तलिमा १० वसो ११ सखो १२ पणवो य बारसमो॥ —औपपातिकसूत्र वृत्ति पत्र ७१

५०—तए णं से कूणिए राया हारोत्थयसुकयरइयवच्छे कुंडलउज्जोवियाणणे मउडदित्तसिरए णरसीहे णरवई णरिंदे णरवसहे मणुयरायवसभकप्पे अब्भहियं रायतेयलच्छीए दिप्पमाणे, हत्थिक्खंधवरगए, सकोरंटमल्लदामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं, सेयवरचामरांहि उद्धुव्वमाणीहिं उद्धुव्वमाणीहिं वेसमणे चेव णरवई अमरवइसण्णिभाए इड्ढीए पहियकित्ती हय-गय-रह-पवरजोहकलियाए चाउरंगिणीए सेणाए समणुगम्ममाणमग्गे जेणेव पुण्णभद्दे चेइए, तेणेव पहारेत्थ गमणाए ।।

५०—तब नरसिंह—मनुष्यो मे सिंहसदृश शौर्यशाली, नरपति—मनुष्यो के स्वामी—परिपालक, नरेन्द्र—मनुष्यो के इन्द्र—परम ऐश्वर्यशाली अधिपति, नरवृषभ—मनुष्यो मे वृषभ के समान स्वीकृत कार्य-भार के निर्वाहक, मनुजराजवृषभ—नरपतियो मे वृषभसदृश परम धीर एव सहिष्णु चक्रवर्ती तुल्य—उत्तर भारत के आधे भाग को साधने मे—स्वायत्त करने मे सप्रवृत्त, भभसारपुत्र राजा कूणिक ने जहाँ पूर्णभद्र चैत्य था, वहाँ जाने का विचार किया, प्रस्थान किया। अश्व, हस्ती, रथ एव पैदल—इस प्रकार चतुरंगिणी सेना उसके पीछे-पीछे चल रही थी।

राजा का वक्षस्थल हारो से व्याप्त, सुशोभित तथा प्रीतिकार था। उसका मुख कुण्डलो से उद्योतित—द्युतिमय था। मस्तक मुकुट से देदीप्यमान था। राजोचित तेजस्वितारूप लक्ष्मी से वह अत्यन्त दीप्तिमय था। वह उत्तम हाथी पर आरूढ हुआ। कोरट के पुष्पो की मालाओ से युक्त छत्र उस पर तना था। श्रेष्ठ, श्वेत चवर डुलाये जा रहे थे। वैश्रमण—यक्षराज कुबेर, नरपति—चक्रवर्ती, अमरपति—देवराज इन्द्र के तुल्य उसकी समृद्धि सुप्रशस्त थी, जिससे उसकी कीर्ति विश्रुत थी।

५१—तए णं तस्स कूणियस्स रण्णो भंभसारपुत्तस्स पुरओ महं आसा, आसवरा, उभओ पासिं णागा, णागवरा, पिट्ठओ रहसंगेल्लि।

५१—भंभसार के पुत्र राजा कूणिक के आगे बडे-बडे घोडे और घुडसवार थे। दोनो ओर हाथी तथा हाथियो पर सवार पुरुष—महावत थे पीछे रथ-समुदाय था।

५२—तए णं से कूणिए राया भंभसारपुत्ते अब्भुग्गयभिंगारे, पग्गहियतालयटे, ऊसवियसेयच्छत्ते, पवीइयबालवीयणीए, सव्विड्ढीए, सव्वजुतीए सव्वबलेणं, सव्वसमुदएण, सव्वादरेणं, सव्वविभूईए, सव्वविभूसाए सव्वसंभमेणं, सव्वपुप्फगंधमल्लालंकारेणं, सव्वतुडियसद्दसण्णिणाएणं, महया इड्ढीए, महया जुईए, महया बलेणं, महया समुदएणं, महया वरतुडियजमगसमगप्पवाइएणं संख-पणव-पडह-भेरि-झल्लरि-खरमुहि हुडुक्क-मुरय-मुअंग-दुंदुहि-णिग्घोसणाइयरवेणं चंपाए णयरीए मज्झंमज्झेणं णिग्गच्छइ ।।

५२—तदनन्तर भंभसार का पुत्र राजा कूणिक चम्पानगरी के बीचोबीच होता हुआ आगे बढा। उसके आगे-आगे जल से भरी झारियाँ लिये पुरुष चल रहे थे। सेवक दोनो ओर पखे झल रहे थे। ऊपर सफेद छत्र तना था। चवर ढोले जा रहे थे। वह सब प्रकार की समृद्धि, सब प्रकार की द्युति—आभा, सब प्रकार के सैन्य, समुदय—सभी परिजन, समादरपूर्ण प्रयत्न, सर्वविभूति—सब प्रकार के वैभव, सर्वविभूषा—सब प्रकार की वेशभूषा—वस्त्र, आभरण आदि द्वारा सज्जा, सर्वसम्भ्रम—स्नेहपूर्ण उत्सुकता, सर्व-पुष्प गन्धमाल्यालकार—सब प्रकार के फूल, सुगन्धित पदार्थ, फूलो की मालाएं, अलकार या फूलो की मालाओ से निर्मित आभरण, सर्व तूर्यशब्द-सन्निपात—

सब प्रकार के वाद्यो की ध्वनि-प्रतिध्वनि, महाऋद्धि—अपने विशिष्ट वैभव, महाद्युति—विशिष्ट आभा, महाबल—विशिष्ट सेना महासमुदय—अपने विशिष्ट पारिवारिक जन-समुदाय से सुशोभित था तथा शख, पणव—पात्र-विशेष पर मढे हुए ढोल, पटह—बडे ढोल, छोटे ढोल, भेरी, झालर, खरमुही—वाद्य, हुडुक्क—वाद्य विशेष, मुरज—ढोलक, मृदग तथा दुन्दुभि—नगाडे एक साथ विशेष रूप से बजाए जा रहे थे।

५३—तए ण तस्स कूणियस्स रण्णो चपाए णयरीए मज्झमज्झेण निग्गच्छमाणस्स बहवे अत्थत्थिया, कामत्थिया, भोगत्थिया लाभत्थिया किब्बिसिया, करोडिया, कारवाहिया, संखिया, चक्किया, नगलिया, मुहमगलिया, वद्धमाणा, पूसमाणया, खंडियगणा ताहि इट्ठाहि कताहि पियाहि मणुण्णाहि मणामाहि मणाभिरामाहि हिययगमणिज्जाहि वग्गूहि जयविजयमगलसएहि अणवरय अभिणंदंता य अभित्थुणंता य एव वयासी—जय जय णंदा ! जय जय भद्दा ! भद्दं ते अजियं जिणाहि, जियं च पालेहि, जियमज्झे वसाहि। इंदो इव देवाणं, चमरो इव असुराणं, धरणो इव नागाण, चदो इव ताराणं, भरहो इव मणुयाणं बहूइं वासाइं, बहूइं वाससयाइं, बहूइं वाससहस्साइ अणहसमग्गो, हट्ठतुट्ठो परमाउ पालयाहि, इट्ठजणसंपरिवुडो चंपाए णयरीए अण्णेसि च बहूण गामागर-णयर-खेड-कब्बड-दोणमुह-मडंब-पट्टण-आसम-निगम-संवाह-सनिवेसाणं आहेवच्चं, पोरेवच्चं, सामित्त, भट्टित्त, महत्तरगत्त, आणाईसरसेणावच्चं कारेमाणे, पालेमाणे महयाहयनट्टगीयवाइयतंतीतलतालतुडियघणमु-अंगपडुप्पवाइयरवेणं विउलाइं भोगभोगाइ भुंजमाणे विहराहित्ति कट्टु जय जय सद्दं पउंजंति।

५३—जब राजा कूणिक चपा नगरी के बीच से गुजर रहा था, बहुत से अभ्यर्थी—धन के अभिलाषी, कामार्थी—सुख या मनोज्ञ शब्द तथा सुन्दर रूप के अभिलाषी, भोगार्थी—सुखप्रद गन्ध, रस एव स्पर्श आदि के अभिलाषी, लाभार्थी—मात्र भोजन आदि के अभिलाषी, किल्विषिक—भाड आदि, कापालिक—खप्पर धारण करने वाले भिक्षु, करबाधित—करपीडित—राज्य के कर आदि से कष्ट पाने वाले, शाखिक—शख बजाने वाले, चाक्रिक—चक्रधारी, लागलिक—हल चलाने वाले कृषक, मुखमागलिक—मु ह से मगलमय शुभ वचन बोलने वाले या खुशामदी, वर्धमान—औरो के कन्धो पर स्थितपुरुष, पुष्यमानव—मागध—भाट, चारण आदि स्तुतिगायक, खडिकगण—छात्र-समुदाय, इष्ट—वाञ्छित, कान्त—कमनीय, प्रिय—प्रीतिकर, मनोज्ञ—मनोनुकूल, मनाम—चित्त को प्रसन्न करने वाली, मनोभिराम—मन को रमणीय लगने वाली तथा हृदयगमनीय—हृदय मे आनन्द उत्पन्न करने वाली वाणी से एव जय विजय आदि सैकडो मागलिक शब्दो से राजा का अनवरत—लगातार अभिनन्दन करते हुए, अभिस्तवन करते हुए—प्रशस्ति कहते हुए इस प्रकार बोले—जन-जन को आनन्द देने वाले राजन् ! आपकी जय हो, आपकी जय हो। जन-जन के लिए कल्याण-स्वरूप राजन् ! आप सदा जयशील हो। आपका कल्याण हो। जिन्हे नही जीता है, उन पर आप विजय प्राप्त करे। जिनको जीत लिया है, उनका पालन करे। उनके बीच निवास करे। देवो मे इन्द्र की तरह, असुरो मे चमरेन्द्र की तरह, नागो मे धरणेन्द्र की तरह, तारो मे चन्द्रमा की तरह, मनुष्यो मे चक्रवर्ती भरत की तरह आप अनेक वर्षों तक, अनेक शत वर्षों तक, अनेक सहस्र वर्षों तक, अनेक लक्ष वर्षों तक अनघसमग्र—सर्व प्रकार के दोष या विघ्न रहित अथवा सपत्ति, परिवार आदि से सर्वथा सम्पन्न, हृष्ट, तुष्ट रहे और उत्कृष्ट आयु प्राप्त करे। आप अपने इष्ट—प्रिय जन सहित चपानगरी के तथा अन्य बहुत से ग्राम, आकर—नमक आदि के उत्पत्ति स्थान, नगर—जिनमे कर नही लगता हो,

ऐसे शहर, खेट—धूल के परकोटो से युक्त गाव, कर्बट-अति साधारण कस्बे, द्रोण-मुख—जल-मार्ग तथा स्थल-मार्ग से युक्त स्थान, मडब—आस-पास गाँव रहित बस्ती, पत्तन—बन्दरगाह अथवा बड़े नगर, जहाँ या तो जलमार्ग से या स्थलमार्ग से जाना सभव हो, आश्रम—तापसो के आवास, निगम—व्यापारिक नगर, सबाह—पर्वत की तलहटी मे बसे गाव, सन्निवेश झोंपडियो से युक्त बस्ती अथवा सार्थवाह तथा सेना आदि के ठहरने के स्थान—इन सबका आधिपत्य, पौरोवृत्य—अग्रेसरता या आगेवानी, स्वामित्व, भर्तृत्व—प्रभुत्व, महत्तरत्व—अधिनायकत्व, आज्ञेश्वरत्व-सैनापत्य—जिसे आज्ञा देने का सर्व अधिकार होता है, ऐसा सैनापत्य—सेनापतित्व—इन सबका सर्वाधिकृत रूप मे पालन करते हुए निर्बाध—निरन्तर अविच्छिन्न रूप मे नृत्य, गीत, वाद्य, वीणा, करताल, तूर्य—तुरही एव घनमृदग—बादल जैसी आवाज करने वाले मृदग के निपुणतापूर्ण प्रयोग द्वारा निकलती सुन्दर ध्वनियों से आनन्दित होते हुए, विपुल—प्रचुर—अत्यधिक भोग भोगते हुए सुखी रहे, यो कहकर उन्होने जय-घोष किया।

दर्शन-लाभ

५४—तए ण से कूणिए राया भभसारपुत्ते नयणमालासहस्सेहिं पेच्छिज्जमाणे पेच्छिज्जमाणे, हियमालासहस्सेहिं अभिणंदिज्जमाणे अभिणंदिज्जमाणे, उन्नइज्जमाणे मणोरहमालासहस्सेहिं विच्छिप्पमाणे विच्छिप्पमाणे, वयणमालासहस्सेहिं अभिथुव्वमाणे अभिथुव्वमाणे, कंति-सोहग्गगुणेहिं पत्थिज्जमाणे पत्थिज्जमाणे, बहूणं नरनारिसहस्साणं दाहिणहत्थेणं अंजलिमालासहस्साइं पडिच्छमाणे पडिच्छमाणे, मंजुमंजुणा घोसेणं पडिबुज्झमाणे पडिबुज्झमाणे, भवणपंतिसहस्साइं समइच्छमाणे समइच्छमाणे चंपाए नयरीए मज्झंमज्झेणं निग्गच्छइ, निग्गच्छइत्ता जेणेव पुण्णभद्दे चेइए, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते छत्ताईए तित्थयराइसेसे पासइ, पासित्ता आभिसेक्कं हत्थिरयणं ठवेइ, ठवित्ता आभिसेक्काओ हत्थिरयणाओ पच्चोरुहइ, पच्चोरुहित्ता अवहट्टु पच रायकउहाइं, तं जहा—खग्ग छत्तं उप्फेसं वाहणाओ बालवीयणिं, जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता समणं भगव महावीरं पंचविहेणं अभिगमेणं अभिगच्छइ। तं जहा—१ सचित्ताण दव्वाण विओसरणयाए, २ अचित्ताणं दव्वाणं अविओसरणयाए, ३ एगसाडियं उत्तरासंगकरणेण, ४ चक्खुप्फासे अंजलिपग्गहेण, ५ मणसो एगत्तीभावकरणेणं समण भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिण करेइ, करेत्ता वंदइ, वंदित्ता नमसइ, नमंसित्ता तिविहाए पज्जुवासणयाए पज्जुवासइ, त जहा—काइयाए, वाइयाए, माणसियाए। काइयाए—ताव संकुइयग्गहत्थपाए सुस्सूसमाणे णमसमाणे अभिमुहे विणएणं पजलिउडे पज्जुवासइ। वाइयाए—'जं ज भगवं वागरेइ एवमेयं भंते! तहमेयं भते! अवितहमेयं भते! असदिद्धमेयं भंते! इच्छियमेयं भंते! पडिच्छियमेय भंते! इच्छियपडिच्छियमेय भते! से जहेयं तुब्भे वदह', अपडिकूलमाणे पज्जुवासइ। माणसियाए-महयासंवेगं जणइत्ता तिव्वधम्माणुरागरत्ते पज्जुवासइ।

५४—भभसार के पुत्र राजा कूणिक का सहस्रो नर-नारी अपने नेत्रो से बार-बार दर्शन कर रहे थे। सहस्रो नर-नारी हृदय से उसका बार-बार अभिनन्दन कर रहे थे। सहस्रो नर-नारी अपने शुभ मनोरथ—हम इनकी सन्निधि मे रह पाएँ, इत्यादि उत्सुकतापूर्ण मन.कामनाएं लिये हुए थे। सहस्रो नर-नारी उसका बार-बार अभिस्तवन—गुणसंकीर्तन कर रहे थे। सहस्रों नर-नारी उसकी

कान्ति—देहदीप्ति, उत्तम सौभाग्य आदि गुणों के कारण—ये स्वामी हमे सदा प्राप्त रहें, बार-बार ऐसी अभिलाषा करते थे।

नर-नारियो द्वारा अपने हजारो हाथो से उपस्थापित अजलिमाला—प्रणामांजलियो को अपना दाहिना हाथ ऊचा उठाकर बार-बार स्वीकार करता हुआ, अत्यन्त कोमल वाणी से उनका कुशल पूछता हुआ, घरो की हजारो पक्तियो को लाघता हुआ राजा कूणिक चम्पा नगरी के बीच से निकला। निकल कर, जहाँ पूर्णभद्र चैत्य था, वहाँ आया। आकर भगवान् के न अधिक दूर न अधिक निकट—समुचित स्थान पर रुका। तीर्थंकरो के छत्र आदि अतिशयो को देखा। देख कर अपनी सवारी के प्रमुख उत्तम हाथी को ठहराया, हाथी से नीचे उतरा, उतर कर तलवार, छत्र, मुकुट, चवर—इन राज चिह्नो को अलग किया, जूते उतारे। भगवान् महावीर जहाँ थे, वहाँ आया। आकर, सचित्त—सजीव पदार्थों का व्युत्सर्जन—अलग करना, अचित्त—अजीव पदार्थों का अव्युत्सर्जन—अलग न करना, अखण्ड—अनसिले वस्त्र का उत्तरासग—उत्तरीय की तरह कन्धे पर डालकर धारण करना, धर्म-नायक पर दृष्टि पडते ही हाथ जोडना, मन को एकाग्र करना—इन पाँच नियमो के अनुपालनपूर्वक राजा कूणिक भगवान् के सम्मुख गया। भगवान् को तीन बार आदक्षिण—प्रदक्षिणा कर वन्दना की, नमस्कार किया। वन्दना, नमस्कार कर कायिक, वाचिक, मानसिक रूप से पर्युपासना की। कायिक पर्युपासना के रूप मे हाथो-पैरो को सकुचित किये हुए—सिकोडे हुए, शुश्रूषा—सुनने की इच्छा करते हुए, नमन करते हुए भगवान् की ओर मुँह किये, विनय से हाथ जोडे हुए स्थित रहा। वाचिक पर्युपासना के रूप मे—जो-जो भगवान् बोलते थे, उसके लिए "यह ऐसा ही है भन्ते! यही तथ्य है भगवन्! यही सत्य है प्रभो! यही सन्देह-रहित है स्वामी! यही इच्छित है भन्ते! यही प्रतीच्छित—स्वीकृत है, प्रभो! यही इच्छित-प्रतीच्छित है भन्ते! जैसा आप कह रहे हैं।" इस प्रकार अनुकूल वचन बोलता रहा। मानसिक पर्युपासना के रूप मे अपने मे अत्यन्त सवेग—मुमुक्षु भाव उत्पन्न करता हुआ तीव्र धर्मानुराग से अनुरक्त रहा।

रानियों का सपरिजन आगमन, वन्दन

५५—तए ण ताओ सुभद्दप्पमुहाओ देवीओ अतोअतेउरंसि ण्हायाओ जाव (कयबलिकम्माओ कयकोउय-मगल-पायच्छित्ताओ), सव्वालकारविभूसियाओ बहूहिं खुज्जाहिं चिलाईहिं वामणीहिं वडभीहिं, बब्बरीहिं बउसियाहिं जोणियाहिं पल्हवियाहिं ईसिणियाहिं चारुणियाहिं लासियाहिं लउसियाहिं सिंहलीहिं दमिलीहिं आरबीहिं पुलिंदीहिं पक्कणीहिं बहलीहिं मुरुंडीहिं सबरीहिं पारसीहिं णाणादेसीहिं विदेसपरिमडियाहिं इंगियचिंतियपत्थियवियाणियाहिं, सदेसणेवत्थग्गहियवेसाहिं चेडियाचक्कवालवरिसधरकचुइज्जमहत्तरवंदपरिक्खित्ताओ अतेउराओ णिग्गच्छंति, णिग्गच्छित्ता जेणेव पाडियक्कजाणाइ, तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता पाडियक्कपाडियक्काइ जत्ताभिमुहाइ जुत्ताइं जाणाइं दुरूहंति, दुरूहित्ता णियगपरियालसद्धिं सपरिवुडाओ चंपाए णयरीए मज्झमज्झेणं णिग्गच्छंति, णिग्गच्छित्ता जेणेव पुण्णभद्दे चेइए, तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामते छत्तादीए तित्थयराइसेसे पासंति, पासित्ता पाडियक्कपाडियक्काइं जाणाइं ठवेंति, ठवित्ता जाणेहिंतो पच्चोरुहंति, पच्चोरुहित्ता बहूहिं खुज्जाहिं जाव परिक्खित्ताओ जेणेव समणे भगवं महावीरे, तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं पंचविहेणं अभिगमेणं अभिगच्छन्ति। तं जहा—१ सचित्ताण दव्वाणं विओसरणयाए, २ अचित्ताणं दव्वाणं अविओसरणयाए, ३ विणओ-

नयाए गायलट्ठीए, ४ चक्खुफासे अंजलिपग्गहेणं, ५ मणसो एगत्तीभावकरणेणं समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेंति, वंदंति, णमंसंति, वंदित्ता, णमंसित्ता कूणियरायं पुरओकट्टु ठिइयाओ चेव सपरिवाराओ अभिमुहाओ विणएण पंजलिउडाओ पज्जुवासंति ।।

५५—तत्पश्चात् सुभद्रा आदि रानियो ने अन्त पुर मे स्नान किया, नित्य-नैमित्तिक कार्य किये । कौतुक—देह-सज्जा की दृष्टि से आँखो मे काजल आजा, ललाट पर तिलक लगाया, प्रायश्चित्त—दु:स्वप्नादि दोष-निवारण हेतु चन्दन, कु कुम, दधि, अक्षत, आदि मे मगल-विधान किया । वे सभी अलंकारो से विभूषित हुईं ।

फिर बहुत सी देश-विदेश की दासियो, जिनमे से अनेक कुबडी थी, अनेक किरात देश की, थी, अनेक बौनी थी, अनेक ऐसी थी, जिनकी कमर झुकी थी, अनेक बर्बर देश की, बकुश देश की, यूनान देश की, पह्लव देश की, इसिन देश की, चारुकिनिक देश की, लासक देश की, लकुश देश की, सिंहल देश की, द्रविड देश की, अरब देश की, पुलिन्द देश की, पक्कण देश की, बहल देश की, मुरु ड देश की, शबर देश की, पारस देश की—यो विभिन्न देशो की थी जो स्वदेशी—अपने-अपने देश की वेशभूषा से सज्जित थी, जो चिन्तित और अभिलषित भाव को सकेत या चेष्टा मात्र से समझ लेने मे विज्ञ थी, अपने अपने देश के रीति-रिवाज के अनुरूप जिन्होने वस्त्र आदि धारण कर रखे थे, ऐसी दासियो के समूह से घिरी हुई, वर्षधरो—नपु सको कचुकियो—अन्त पुर (जनानी ड्योढी) के पहरेदारो —तथा अन्त पुर के प्रामाणिक रक्षाधिकारियो से घिरी हुई बाहर निकली ।

अन्त.पुर से निकल कर सुभद्रा आदि रानियाँ, जहाँ उनके लिए अलग-अलग रथ खडे थे, वहाँ आई । वहाँ आकर अपने लिए अलग-अलग अवस्थित यात्राभिमुख -गमनोद्यत, जुते हुए रथो पर सवार हुईं । सवार होकर अपने परिजन वर्ग—दासियो आदि से घिरी हुई चम्पा नगरी के बीच से निकली । निकलकर जहाँ पूर्णभद्र चैत्य था, वहाँ आईं । आकर श्रमण भगवान् महावीर के न अधिक दूर, न अधिक निकट—समुचित स्थान पर ठहरी । तीर्थंकरो के छत्र आदि अतिशयो को देखा । देखकर अपने अपने रथो को रुकवाया । रुकवाकर वे रथो से नीचे उतरी । नीचे उतरकर अपनी बहुत-सी कुब्जा आदि पूर्वोक्त दासियो से घिरी हुई बाहर निकली । जहाँ श्रमण भगवान् महावीर थे, वहाँ आईं । आकर भगवान् के निकट जाने हेतु पाँच प्रकार के अभिगमन— नियम जैसे सचित्त—सजीव पदार्थों का व्युत्सर्जन, करना, अचित्त—अजीव पदार्थों का अव्युत्सर्जन, गात्रयष्टि- -देह को विनय से नम्र करना —झुकाना, भगवान् पर दृष्टि पडते ही हाथ जोडना तथा मन को एकाग्र करना—धारण किये । फिर उन्होने तीन बार भगवान् महावीर को आदक्षिण-प्रदक्षिणा दी । वैसा कर वन्दन-नमस्कार किया । वन्दन-नमस्कार कर वे अपने पति महाराज कूणिक को आगे कर अपने परिजनो सहित भगवान् के सम्मुख विनयपूर्वक हाथ जोडे पर्यु पासना करने लगी ।

भगवान् द्वारा धर्म-देशना

५६—एत णं समणे भगव महावीरे कूणियस्स रण्णो भभसारपुत्तस्स सुभद्दापमुहाणं देवीणं तीसे य महतिमहालियाए परिसाए इसिपरिसाए, मुणिपरिसाए, जइपरिसाए, देवपरिसाए, अणेगसयाए, अणेगसयवदाए, अणेगसयवदपरिवाराए, ओहबले, अइबले, महब्बले, अपरिमियबलवीरियतेयमाहप्प-कंतिजुत्ते, सारय-णवत्थणिय-महुर-गभीर-कोंचणिग्घोस-दु दुभिस्सरे, उरे वित्थडाए कठे वट्टियाए सिरे

समाइण्णाए अगरलाए अमम्मणाए सुव्वत्तक्खरसण्णिवाइयाए पुण्णरत्ताए सव्वभासाणुगामिणीए सरस्सईए जोयणणीहारिणा सरेणं अद्धमागहाए भासाए भासइ अरिहा धम्मं परिकहेइ। तेसिं सव्वेसिं आरियमणारियाणं अगिलाए धम्मं आइक्खइ, सावि य णं अद्धमागहा भासा तेसिं सव्वेसिं आरियमणारियाणं अप्पणो सभासाए परिणामेणं परिणमइ।

तं जहा—अत्थि लोए, अत्थि अलोए, एवं जीवा, अजीवा, बंधे, मोक्खे, पुण्णे, पावे, आसवे, संवरे, वेयणा, णिज्जरा, अरिहंता, चक्कवट्टी, बलदेवा, वासुदेवा, नरगा, णेरइया, तिरिक्खजोणिया, तिरिक्खजोणिणीओ, माया, पिया, रिसओ, देवा, देवलोया, सिद्धि, सिद्धा, परिणिव्वाणे परिणिव्वुया।

अत्थि, १ पाणाइवाए, २ मुसावाए, ३ अदिण्णादाणे, ४ मेहुणे, ५ परिग्गहे; अत्थि ६ कोहे, ७ माणे, ८ माया, ९ लोभे, अत्थि जाव (१० पेज्जे, ११ दोसे, १२ कलहे, १३ अब्भक्खाणे, १४ पेसुण्णे, १५ परपरिवाए, १६ अरइरई, १७ मायामोसे,) १८ मिच्छादंसणसल्ले।

अत्थि पाणाइवायवेरमणे, मुसावायवेरमणे, अदिण्णादाणवेरमणे, मेहुणवेरमणे, परिग्गहवेरमणे जाव (कोहवेरमणे, माणवेरमणे, मायावेरमणे, लोभवेरमणे, पेज्जवेरमणे, दोसवेरमणे, कलहवेरमणे, अब्भक्खाणवेरमणे, पेसुण्णवेरमणे, परपरिवायवेरमणे, अरइरइवेरमणे मायामोसवेरमणे) मिच्छादंसणसल्लविवेगे।

सव्वं अत्थिभावं अत्थित्ति वयइ, सव्वं णत्थिभावं णत्थित्ति वयइ, सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णफला भवंति, दुचिण्णा कम्मा दुचिण्णफला भवंति, फुसइ पुण्णपावे, पच्चायंति जीवा, सफले कल्लाणपावए।

धम्ममाइक्खइ—इणमेव णिग्गंथे पावयणे सच्चे, अणुत्तरे, केवलिए, संसुद्धे, पडिपुण्णे, णेयाउए, सल्लकत्तणे, सिद्धिमग्गे, मुत्तिमग्गे, णिव्वाणमग्गे, णिज्जाणमग्गे, अवितहमविसंधि, सव्वदुक्खप्पहीणमग्गे। इहट्ठिया जीवा सिज्झंति, बुज्झंति, मुच्चंति, परिणिव्वायंति, सव्वदुक्खाणमंतं करेंति।

एकच्चा पुण एगे भयंतारो पुव्वकम्मावसेसेणं अण्णयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति, महड्ढिएसु जाव (महज्जुइएसु, महब्बलेसु, महायसेसु,) महासुक्खेसु दूरंगइएसु चिरट्ठिइएसु। ते णं तत्थ देवा भवंति महिड्ढिया जाव महज्जुइया, महब्बला, महायसा, महासुखा) चिरट्ठिइया, हारविराइयवच्छा जाव (कडयतुडियथंभियभुया, अंगयकुंडलमट्ठगंडयलकण्णपीढधारी, विचित्तहत्थाभरणा दिव्वेणं संघाएणं दिव्वेणं संठाणेणं, दिव्वाए इड्ढीए, दिव्वाए जुईए, दिव्वाए पभाए, दिव्वाए छायाए, दिव्वाए अच्चीए, दिव्वेणं तेएणं, दिव्वाए लेसाए दस दिसाओ उज्जोवेमाणा,) पभासेमाणा, कप्पोवगा, गतिकल्लाणा, आगमेसिभद्दा जाव (चित्तमाणदिया, पीइमणा, परमसोमणस्सिया, हरिसवसविसप्पमाण—) पडिरूवा।

तमाइक्खइ एवं खलु चउहिं ठाणेहिं जीवा णेरइयत्ताए कम्मं पकरेंति, णेरइयत्ताए कम्मं पकरेत्ता णेरइएसु उववज्जंति तं जहा—१ महारंभयाए, २ महापरिग्गहयाए, ३ पंचिंदियवहेणं, ४ कुणिमाहारेणं, एवं एएणं अभिलावेणं। तिरिक्खजोणिएसु—१ माइल्लयाए णियडिल्लयाए, २ अलियवयणेणं, ३ उक्कंचणयाए, ४ वंचणयाए। मणुस्सेसु—१ पगइभद्दयाए, २ पगइविणीययाए, ३ साणुक्कोसयाए, ४ अमच्छरिययाए। देवेसु— १ सरागसंजमेणं, २ संजमासंजमेणं, ३ अकामणिज्जराए, ४ बालतवोकम्मेणं तमाइक्खइ—

जह णरगा गम्मंती जे णरगा जा य वेयणा णरए ।
सारीरमाणुसाइं दुक्खाइं तिरिक्खजोणीए ।।१।।

माणुस्सं च अणिच्चं वाहि-जरा-मरण-वेयणापउरं ।
देवे य देवलोए देविड्ढि देवसोक्खाइं ।।२।।

णरग तिरिक्खजोणिं माणुसभाव च देवलोगं च ।
सिद्धे अ सिद्धवसहिं छज्जीवणिय परिकहेइ ।।३।।

जह जीवा बज्झंती मुच्चंती जह य संकिलिस्संति ।
जह दुक्खाणं अंत करेंति केई अपडिबद्धा ।।४।।

अट्टा अट्टियचित्ता जह जीवा दुक्खसागरमुवेंति ।
जह वेरग्गमुवगया कम्मसमुग्गं विहाडेंति ।।५।।

जह रागेण कडाण कम्माण पावगो फलविवागो ।
जह य परिहीणकम्मा सिद्धा सिद्धालयमुवेंति ।।६।।

५६—तत्पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर ने भभसारपुत्र राजा कूणिक, सुभद्रा आदि रानियो तथा महती परिषद् को धर्मोपदेश किया । भगवान् महावीर की धर्मदेशना सुनने को उपस्थित परिषद् मे ऋषि—द्रष्टा—अतिशय ज्ञानी साधु, मुनि—मौनी या वाक् सयमी साधु, यति—चारित्र के प्रति अति यत्नशील श्रमण, देवगण तथा सैकडो-सैकडो श्रोताओ के समूह उपस्थित थे ।

ओघ बली—अव्यवच्छिन्न या एक समान रहने वाले बल के धारक, अतिबली—अत्यधिक बल सम्पन्न, महाबली—प्रशस्त बलयुक्त, अपरिमित—असीमवीर्य—आत्मशक्तिजनित बल, तेज महत्ता तथा कातियुक्त, शरत् काल के नूतन मेघ के गर्जन, क्रौंच पक्षी के निर्घोष तथा नगाडे की ध्वनि के समान मधुर गभीर स्वर युक्त भगवान् महावीर ने हृदय मे विस्तृत होती हुई, कठ मे अवस्थित होती हुई तथा मूर्धा मे परिव्याप्त होती हुई सुविभक्त अक्षरो को लिए हुए--पृथक् स्व-स्व स्थानीय उच्चारण युक्त अक्षरो सहित, अस्पष्ट उच्चारणवर्जित या हकलाहट से रहित, सुव्यक्त अक्षर-सन्निपात--वर्ण-सयोग--वर्णों की व्यवस्थित शृ खला लिए हुए, पूर्णता तथा स्वर-माधुरी युक्त, श्रोताओ की सभी भाषाओ मे परिणत होने वाली, एक योजन तक पहुँचने वाले स्वर मे, अर्द्धमागधी भाषा मे धर्म का परिकथन किया । उपस्थित सभी आर्य-अनार्य जनो को अग्लान भाव से—बिना परिश्रान्त हुए धर्म का आख्यान किया । भगवान् द्वारा उद्‌गीर्ण अर्द्धमागधी भाषा उन सभी आर्यों और अनार्यों की भाषाओ मे परिणत हो गई ।

भगवान् ने जो धर्मदेशना दी, वह इस प्रकार है—

लोक का अस्तित्व है, अलोक का अस्तित्व है । इसी प्रकार जीव, अजीव, बन्ध, मोक्ष, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, वेदना, निर्जरा, अर्हत्, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, नरक, नैरयिक, तिर्यंचयोनि, तिर्यंचयोनिक जीव, माता, पिता, ऋषि, देव, देवलोक, सिद्धि, सिद्ध, परिनिर्वाण—कर्मजनित आवरण के क्षीण होने से आत्मिक स्वस्थता—परम शान्ति, परिनिर्वृत्त—परिनिर्वाणयुक्त व्यक्ति—इनका अस्तित्व है । प्राणातिपात—हिंसा, मृषावाद—असत्य, अदत्तादान—चोरी, मैथुन और परिग्रह हैं । क्रोध, मान, माया, लोभ, (प्रेम-अप्रकट माया व लोभजनित प्रिय या रोचक भाव, द्वेष—अव्यक्त मान

व क्रोध जनित अप्रिय या अप्रीति रूप भाव, कलह—लड़ाई-झगड़ा, अभ्याख्यान—मिथ्यादोषारोपण, पैशुन्य—चुगली तथा पीठ पीछे किसी के होते-अनहोते दोषो का प्रकटीकरण, परपरिवाद—निन्दा, रति—मोहनीय-कर्म के उदय के परिणाम-स्वरूप असयम मे सुख मानना, रुचि दिखाना, अरति—मोहनीय कर्म के उदय के परिणाम-स्वरूप सयम मे अरुचि रखना, मायामृषा—माया या छलपूर्वक झूठ बोलना) यावत् मिथ्यादर्शन शल्य है।

प्राणातिपातविरमण—हिंसा से विरत होना, मृषावादविरमण-असत्य से विरत होना, अदत्तादानविरमण—चोरी से विरत होना, मैथुनविरमण—मैथुन से विरत होना, परिग्रहविरमण—परिग्रह से विरत होना, क्रोध से विरत होना, मान से विरत होना, माया से विरत होना, लोभ से विरत होना प्रेम से विरत होना, द्वेष से विरत होना, कलह से विरत होना, अभ्याख्यान से विरत होना, पैशुन्य से विरत होना, पर-परिवाद से विरत होना, अरति-रति से विरत होना,) यावत् मिथ्यादर्शनशल्यविवेक—मिथ्या विश्वास रूप काँटे या यथार्थ ज्ञान होना, और त्यागना यह सब है—

सभी अस्तिभाव—अपने-अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल एव भाव की अपेक्षा से अस्तित्व को लिए हुए हैं। सभी नास्तिभाव—पर द्रव्य, क्षेत्र काल, भाव की अपेक्षा से नही है—किन्तु वे भी अपने स्वरूप से हैं। सुचीर्ण—सुन्दर रूप मे—प्रशस्तरूप मे सपादित दान, शील तप आदि कर्म उत्तम फल देने वाले हैं तथा दुश्चीर्ण—अप्रशस्त—पापमय कर्म अशुभ—दु खमय फल देने वाले हैं। जीव पुण्य तथा पाप का स्पर्श करता है, बन्ध करता है। जीव उत्पन्न होते हैं—ससारी जीवो का जन्म-मरण है। कल्याण—शुभ कर्म, पाप—अशुभ कर्म फल युक्त हैं, निष्फल नही होते।

प्रकारान्तर से भगवान् धर्म का आख्यान—प्रतिपादन करते हैं—यह निर्ग्रन्थप्रवचन, जिनशासन अथवा प्राणी की अन्तर्वर्ती ग्रन्थियो को छुडाने वाला आत्मानुशासनमय उपदेश सत्य है, अनुत्तर—सर्वोत्तम है, केवल—अद्वितीय है, अथवा केवली—सर्वज्ञ द्वारा भषित है, सशुद्ध—अत्यन्त शुद्ध, सर्वथा निर्दोष है, प्रतिपूर्ण—प्रवचन गुणो मे सर्वथा परिपूर्ण हैं, नैयायिक—न्यायसगत है—प्रमाण से अबाधित है तथा शल्य-कर्तन—माया आदि शल्यो—काँटो का निवारक है, यह सिद्धि या सिद्धावस्था प्राप्त करने का मार्ग—उपाय है, मुक्ति—कर्मरहित अवस्था या निर्लोभता का मार्ग—हेतु है, निर्वाण—सकल सताप रहित अवस्था प्राप्त कराने का पथ है, निर्याण—पुन नही लौटाने वाले—जन्म-मरण के चक्र मे नही गिराने वाले गमन का मार्ग है, अवितथ—सद्भूतार्थ—वास्तविक, अविसन्धि—पूर्वापरविरोध से रहित तथा सब दु खो को प्रहीण—सर्वथा क्षीण करने का मार्ग है। इसमे स्थित जीव सिद्धि-सिद्धावस्था प्राप्त करते है अथवा अणिमा आदि महती सिद्धियो को प्राप्त करते है, बुद्ध—ज्ञानी—केवल-ज्ञानी होते है, मुक्त-भवोपग्राही—जन्ममरण मे लाने वाले कर्मांश से रहित हो जाते है, परिनिर्वृत होते है—कर्मकृत सताप से रहित—परमशान्तिमय हो जाते हैं तथा सभी दु खो का अन्त कर देते है। एकार्च्चा—जिनके एक ही मनुष्य-भव धारण करना बाकी रहा है, ऐसे भदन्त—कल्याणान्वित अथवा निर्ग्रन्थ प्रवचन के भक्त पूर्व कर्मों के बाकी रहने से किन्ही देवलोको मे देव के रूप मे उत्पन्न होते हैं। वे देवलोक महर्द्धिक—विपुल ऋद्धियो से परिपूर्ण, (अत्यन्त द्युति, बल तथा यशोमय,) अत्यन्त सुखमय दूरगतिक—दूर गति से युक्त एव चिरस्थितिक—लम्बी स्थिति वाले होते हैं।

वहाँ देवरूप में उत्पन्न वे जीव अत्यन्त ऋद्धिसम्पन्न (अत्यन्त द्युतिसम्पन्न, अत्यन्त बलसम्पन्न, अत्यन्त यशस्वी, अत्यन्त सुखी) तथा चिरस्थितिक—दीर्घ आयुष्ययुक्त होते हैं। उनके वक्षःस्थल हारो

से सुशोभित होते हैं। (वे कटक, त्रुटित, अंगद, कुण्डल, कर्णाभरण आदि अलकार धारण किये रहते हैं। वे अपने दिव्य संघात, दिव्य संस्थान, दिव्य ऋद्धि, दिव्य द्युति, दिव्य प्रभा, दिव्य कान्ति, दिव्य आभा, दिव्य तेज तथा दिव्य लेश्या द्वारा दशो दिशाओ को उद्योतित करते हैं, प्रभासित करते हैं।) वे कल्पोपग देवलोक में देव-शय्या से युवा रूप मे उत्पन्न होते है। वे वर्तमान मे उत्तम देवगति के धारक तथा भविष्य मे भद्र—कल्याण या निर्वाण रूप अवस्था को प्राप्त करने वाले होते हैं। (वे आनन्द, प्रीति, परम सौमनस्य तथा हर्षयुक्त होते हैं) असाधारण रूपवान् होते हैं।

भगवान् ने आगे कहा—जीव चार स्थानो—कारणो से—नैरयिक—नरक योनि का आयुष्य-बन्ध करते हैं, फलत वे विभिन्न नरको मे उत्पन्न होते है।

वे स्थान या कारण इस प्रकार हैं—१ महाआरम्भ—घोर हिसा के भाव व कर्म, २ महापरिग्रह—अत्यधिक सग्रह के भाव व वैसा आचरण, ३ पचेन्द्रिय-वध—मनुष्य, तिर्यंच—पशु पक्षी आदि पाँच इन्द्रियो वाले प्राणियो का हनन तथा ४ मास-भक्षण।

इन कारणो से जीव तिर्यंच-योनि मे उत्पन्न होते है—१ मायापूर्ण निकृति—छलपूर्ण जालसाजी, २ अलीक वचन—असत्य भाषण, ३ उत्कचनता—झूठी प्रशसा या खुशामद अथवा किसी मूर्ख व्यक्ति को ठगने वाले धूर्त का समीपवर्ती विचक्षण पुरुष के सकोच से कुछ देर के लिए निश्चेष्ट रहना या अपनी धूर्तता को छिपाए रखना, ४ वचनता—प्रतारणा या ठगी।

इन कारणो से जीव मनुष्य-योनि मे उत्पन्न होते हैं—

१ प्रकृति-भद्रता—स्वाभाविक भद्रता—भलापन, जिससे किसी को भीति या हानि की आशका न हो, २ प्रकृति-विनीतता—स्वाभाविक विनम्रता, ३ सानुक्रोशता—सदयता, करुणाशीलता तथा ४ अमत्सरता—ईर्ष्या का अभाव।

इन कारणो से जीव देवयोनि मे उत्पन्न होते है—

१ सरागसयम—राग या आसक्तियुक्त चारित्र, २ सयमासयम—देशविरति—श्रावकधर्म, ३. अकाम-निर्जरा—मोक्ष की अभिलाषा के बिना या विवशतावश कष्ट सहना, ४ बाल-तप मिथ्यात्वी या अज्ञानयुक्त अवस्था में तपस्या।

तत्पश्चात् भगवान् ने बतलाया—जो नरक मे जाते है, वे वहां नैरयिको जैसी वेदना पाते हैं। तिर्यंच योनि मे गये हुए वहाँ होने वाले शारीरिक और मानसिक दु ख प्राप्त करते है। मनुष्य-जीवन अनित्य है। उसमे व्याधि, वृद्धावस्था, मृत्यु और वेदना आदि प्रचुर कष्ट है। देवलोक मे देव दैवी ऋद्धि और दैवी सुख प्राप्त करते है।

भगवान् ने सिद्ध, सिद्धावस्था एव छह जीवनिकाय का विवेचन किया। जैसे—जीव बधते हैं—कर्म-बन्ध करते हैं, मुक्त होते है, परिक्लेश पाते हैं। कई अप्रतिबद्ध—अनासक्त व्यक्ति दु.खो का अन्त करते हैं, पीडा वेदना व आकुलतापूर्ण चित्तयुक्त जीव दु ख-सागर को प्राप्त करते हैं, वैराग्य प्राप्त जीव कर्म-दल को ध्वस्त करते हैं, रागपूर्वक किये गये कर्मों का फलविपाक पापपूर्ण होता है, कर्मों से सर्वथा रहित होकर जीव सिद्धावस्था प्राप्त करते हैं—यह सब (भगवान् ने) आख्यात किया।

५७—तमेव धम्मं दुविहं आइक्खइ । तं जहा—अगारधम्मं (च) अणगारधम्मं च । अणगार-धम्मो ताव—इह खलु सव्वओ सव्वत्ताए मु डे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइयस्स सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं, मुसावाय-अदिण्णादाण-मेहुण-परिग्गह-राईभोयणाओ वेरमणं। अयमाउसो ! अणगारसामाइए धम्मे पण्णत्ते, एयस्स धम्मस्स सिक्खाए उवट्ठिए णिग्गंथे वा णिग्गंथी वा विहरमाणे आणाए आराहए भवति ।

अगारधम्मं दुवालसविहं आइक्खइ, तं जहा—१ पंच अणुव्वयाइं, २ तिण्णि गुणव्वयाइं, ३ चत्तारि सिक्खावयाइं । पंच अणुव्वयाइं तं जहा—१ थूलाओ पाणाइवायाओ वेरमणं, २ थूलाओ मुसावायाओ वेरमणं, ३ थूलाओ अदिण्णादाणाओ वेरमणं, ४ सदारसंतोसे, ५ इच्छापरिमाणे । तिण्णि गुणव्वयाइं, तं जहा—६ अणत्थदंडवेरमणं, ७ दिसिव्वयं, ८ उवभोगपरिभोगपरिमाणं । चत्तारि सिक्खावयाइं, तं जहा—९ सामाइयं, १० देसावयासियं, ११ पोसहोववासे, १२ अतिहिसंविभागे, अपच्छिमा मारणंतिया संलेहणाझूसणाराहणा । अयमाउसो ! अगारसामाइए धम्मे पण्णत्ते । एयस्स धम्मस्स सिक्खाए उवट्ठिए समणोवासए वा समणोवासिया वा विहरमाणे आणाए आराहए भवइ ।

५७—आगे भगवान् ने बतलाया—धर्म दो प्रकार का है—अगार-धर्म और अनगार धर्म । अनगार-धर्म मे साधक सर्वत सर्वात्मना—सम्पूर्ण रूप मे, सर्वात्मभाव से सावद्य कार्यों का परित्याग करता हुआ मु डित होकर, गृहवास से अनगार दशा—मुनि-अवस्था मे प्रव्रजित होता है । वह सम्पूर्णत· प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह तथा रात्रि-भोजन से विरत होता है ।

भगवान् ने कहा—आयुष्मान् ! यह अनगारो के लिए समाचरणीय धर्म कहा गया है । इस धर्म की शिक्षा—अभ्यास या आचरण मे उपस्थित—प्रयत्नशील रहते हुए निर्ग्रन्थ—साधु या निर्ग्रन्थी साध्वी आज्ञा (अर्हत्-देशना) के आराधक होते हैं ।

भगवान् ने अगारधर्म १२ प्रकार का बतलाया—५ अणुव्रत ३ गुणव्रत तथा ४ शिक्षाव्रत । ५ अणुव्रत इस प्रकार है—१ स्थूल प्राणातिपात—त्रस जीव की सकल्पपूर्वक की जाने वाली हिंसा से निवृत्त होना, २. स्थूल मृषावाद से निवृत्त होना, ३ स्थूल अदत्तादान से निवृत्त होना, ४ स्वदार-सन्तोष—अपनी परिणीता पत्नी तक मैथुन की सीमा, ५ इच्छा—परिग्रह की इच्छा का परिमाण या सीमाकरण ।

३ गुणव्रत इस प्रकार है—१ अनर्थदण्ड—विरमण—आत्मा के लिए अहितकर या आत्मगुण-घातक निरर्थक प्रवृत्ति का त्याग, २ दिग्व्रत—विभिन्न दिशाओ मे जाने के सम्बन्ध मे मर्यादा या सीमाकरण, ३ उपभोग-परिभोग-परिमाण—उपभोग—जिन्हे अनेक बार भोगा जा सके ऐसी वस्तुए—जैसे वस्त्र आदि तथा परिभोग—उन्हे एक ही बार भोगा जा सके—जैसे भोजन आदि—इनका परिमाण—सीमाकरण । ४ शिक्षाव्रत इस प्रकार है—१ सामायिक—समता या समत्वभाव की साधना के लिए एक नियत समय (न्यूनतम एक मुहूर्त—४८ मिनट) मे किया जाने वाला अभ्यास, २ देशावकाशिक—नित्य प्रति अपनी प्रवृत्तियो मे निवृत्ति-भाव की वृद्धि का अभ्यास ३ पोषधोप-वास—अध्यात्म-साधना मे अग्रसर होने हेतु यथाविधि आहार, अब्रह्मचर्य आदि का त्याग तथा ४ अतिथि-सविभाग—जिनके आने की कोई तिथि नही, ऐसे अनिमत्रित सयमी साधको को साधर्मिक बन्धुओं को सयमोपयोगी एव जीवनोपयोगी अपनी अधिकृत सामग्री का एक भाव आदरपूर्वक देना, सदा मन मे ऐसी भावना बनाए रखना कि ऐसा अवसर प्राप्त हो ।

तितिक्षापूर्वक अन्तिम मरण रूप सलेखणा—तपश्चरण, आमरण, अनशन की आराधनापूर्वक देहत्याग श्रावक की इस जीवन की साधना का पर्यवसान है, जिसकी एक गृही साधक भावना लिए रहता है।

भगवान् ने कहा—आयुष्मान्! यह गृही साधको का आचरणीय धर्म है। इस धर्म के अनुसरण मे प्रयत्नशील होते हुए श्रमणोपासक-श्रावक या श्रमणोपासिका—श्राविका आज्ञा के आराधक होते हैं।

परिषद्-विसर्जन

५८—तए णं सा महतिमहालिया मणूसपरिसा समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा, णिसम्म हट्ठतुट्ठ जाव[1] हियया उट्ठाए उट्ठेइ, उट्ठित्ता समण भगव महावीर तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ, करेत्ता वदइ णमंसइ, वंदित्ता णमसित्ता अत्थेगइया मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइया, अत्थेगइया पंचाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइयं दुवालसविहं गिहिधम्म पडिवण्णा।

५८—तब वह विशाल मनुष्य-परिषद् श्रमण भगवान् महावीर से धर्म सुनकर, हृदय मे धारण कर, हृष्ट-तुष्ट—अत्यन्त प्रसन्न हुई, चित्त मे आनन्द एव प्रीति का अनुभव किया, अत्यन्त सौम्य मानसिक भावो से युक्त तथा हर्षातिरेक से विकसित-हृदय होकर उठी। उठकर श्रमण भगवान् महावीर को तीन बार आदक्षिण-प्रदक्षिणा, वदन-नमस्कार किया, वदन-नमस्कार कर उनमे से कई गृहस्थ-जीवन का परित्याग कर मुडित होकर, अनगार या श्रमण के रूप मे प्रव्रजित—दीक्षित हुए। कइयो ने पाँच अणुव्रत तथा सात शिक्षाव्रत रूप बारह प्रकार का गृहि-धर्म- श्रावक-धर्म स्वीकार किया।

५९—अवसेसा णं परिसा समण भगव महावीर वदइ णमसइ, वंदित्ता णमसित्ता एव वयासी—"सुअक्खाए ते भते! निग्गंथे पावयणे एव सुपण्णत्ते, सुभासिए, सुविणीए, सुभाविए, अणुत्तरे ते भते! निग्गंथे पावयणे, धम्म ण आइक्खमाणा तुब्भे उवसम आइक्खह, उवसम आइक्खमाणा विवेगं आइक्खह, विवेग आइक्खमाणा वेरमण आइक्खह, वेरमण आइक्खमाणा अकरण पावाण कम्माण आइक्खह, णत्थि ण अण्णे केइ समणे वा माहणे वा, जे एरिस धम्ममाइक्खित्तए, किमग पुण एत्तो उत्तरतर?" एवं वंदित्ता जामेव दिसं पाउब्भूया, तामेव दिस पडिगया।

५९—शेष परिषद् ने श्रमण भगवान् महावीर को वदन किया, नमस्कार किया, वदन-नमस्कार कर कहा "भगवन्! आप द्वारा सुआख्यात—सुन्दर रूप मे कहा गया, सुप्रज्ञप्त—उत्तम रीति से समझाया गया, सुभाषित—हृदयस्पर्शी भाषा मे प्रतिपादित किया गया, सुविनीत—शिष्यो मे सुष्ठु रूप मे विनियोजित—अन्तेवासियो द्वारा सहजरूप मे अगीकृत, सुभावित—प्रशस्त भावो से युक्त निर्ग्रन्थ-प्रवचन—धर्मोपदेश, अनुत्तर—सर्वश्रेष्ठ है। आपने धर्म की व्याख्या करते हुए उपशम-क्रोध आदि के निरोध का विश्लेषण किया। उपशम की व्याख्या करते हुए विवेक—बाह्य ग्रन्थियो के त्याग को समझाया। विवेक की व्याख्या करते हुए आपने विरमण—विरति या निवृत्ति का निरूपण किया। विरमण की व्याख्या करते हुए आपने पाप-कर्म न करने की विवेचना की। दूसरा कोई श्रमण

१ देखें सूत्र-सख्या १८

या ब्राह्मण नही है, जो ऐसे धर्म का उपदेश कर सके। इससे श्रेष्ठ धर्म के उपदेश की तो बात ही कहाँ ?" यो कहकर वह परिषद् जिस दिशा से आई थी, उसी ओर लौट गई।

६०—तए णं से कूणिए राया भंभसारपुत्ते समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा, णिसम्म हट्ठतुट्ठ जाव[1] हियए उट्ठाए उट्ठेइ, उट्ठित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ, करेत्ता वंदइ णमंसइ, वंदित्ता णमंसित्ता एवं वयासी—"सुयक्खाए ते भंते! निग्गंथे पावयणे जाव (धम्मं णं आइक्खमाणा तुब्भे उवसमं आइक्खह, उवसमं आइक्खमाणा विवेगं आइक्खह, विवेगं आइक्खमाणा वेरमणं आइक्खह, वेरमणं आइक्खमाणा अकरणं पावाणं कम्माणं आइक्खह, नत्थि णं अण्णे केइ समणे वा माहणे वा जे एरिसं धम्ममाइक्खित्तए,) किमंग पुण एत्तो उत्तरतरं ?" एवं वंदित्ता जामेव दिसं पाउब्भूए, तामेव दिसं पडिगए।

६०—तत्पश्चात् भंभसार का पुत्र राजा कूणिक श्रमण भगवान् महावीर से धर्म का श्रवण कर हृष्ट, तुष्ट हुआ, मन मे आनन्दित हुआ। अपने स्थान से उठा। उठकर श्रमण भगवान् महावीर को तीन बार आदक्षिण प्रदक्षिणा की। वैसा कर वन्दन-नमस्कार किया। वन्दन-नमस्कार कर, वह बोला—"भगवन्! आप द्वारा सुआख्यात—सुन्दर रूप मे कहा गया, सुप्रज्ञप्त—उत्तम रीति से समझाया गया, सुभाषित—हृदयस्पर्शी भाषा मे प्रतिपादित किया गया, सुविनीत—शिष्यो मे सुष्ठु रूप मे विनियोजित—अन्तेवासियो द्वारा सहज रूप मे अगीकृत, सुभावित—प्रशस्त भावो से युक्त निर्ग्रन्थ प्रवचन—धर्मोपदेश, अनुत्तर—सर्वश्रेष्ठ है। (आपने धर्म की व्याख्या करते हुए उपशम—क्रोध आदि के निरोध का विश्लेषण किया। उपशम की व्याख्या करते हुए विवेक—बाह्य ग्रन्थियो के त्याग को समझाया। विवेक की व्याख्या करते हुए आपने विरमण—विरति या निवृत्ति का निरूपण किया। विरमण की व्याख्या करते हुए आपने पाप-कर्म न करने की विवेचना की। दूसरा कोई श्रमण या ब्राह्मण नही है, जो ऐसे धर्म का उपदेश कर सके)। इससे श्रेष्ठ धर्म के उपदेश की तो बात ही कहाँ ?"

यो कहकर वह जिस दिशा से आया था, उसी दिशा मे लौट गया।

६१—तए णं ताओ सुभद्दापमुहाओ देवीओ समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा, णिसम्म हट्ठतुट्ठ जाव[2] हिययाओ उट्ठाए उट्ठित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेंति, करेत्ता वंदंति णमंसंति, वंदित्ता णमंसित्ता एवं वयासी—"सुयक्खाए णं भंते! निग्गंथे पावयणे जाव[3] किमंग पुण एत्तो उत्तरतरं ?" एवं वंदित्ता जामेव दिसिं पाउब्भूयाओ, तामेव दिसिं पडिगयाओ।

६१—सुभद्रा आदि रानियाँ श्रमण भगवान् महावीर से धर्म का श्रवण कर हृष्ट, तुष्ट हुई, मन मे आनन्दित हुई। अपने स्थान से उठी। उठकर श्रमण भगवान् महावीर की तीन बार आदक्षिण-

---

१ देखें सूत्र-सख्या १८

२ देखे सूत्र-सख्या १८

३ देखें सूत्र-सख्या ६०

प्रदक्षिणा की। वैसा कर भगवान् को वन्दन-नमस्कार किया। वन्दन-नमस्कार कर वे बोली—"निर्ग्रन्थ प्रवचन सुआख्यात है सर्वश्रेष्ठ है इत्यादि पूर्ववत्।"

यो कह कर वे जिस दिशा से आई थी, उसी दिशा की ओर चली गई।

इन्द्रभूति गौतम की जिज्ञासा

६२—तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी इंदभूई णामं अणगारे गोयमगोत्तेणं सत्तुस्सेहे, समचउरससंठाणसंठिए, वइररिसहणारायसंघयणे, कणगपुलगणिघस-पम्हगोरे, उग्गतवे, जित्ततवे, तत्ततवे, महातवे, घोरतवे, उराले, घोरे, घोरगुणे, घोरतवस्सी, घोरबंभचेरवासी, उच्छूढसरीरे, सखित्तविउलतेउलेस्से समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते उड्ढंजाणू, अहोसिरे, झाणकोट्ठोवगए सजमेणं तवसा अप्पाण भावेमाणं विहरइ।

६२—उस काल, उस समय श्रमण भगवान् महावीर के ज्येष्ठ अन्तेवासी गौतमगोत्रीय इन्द्रभूति नामक अनगार, जिनकी देह की ऊँचाई सात हाथी थी, जो समचतुरस्र-सस्थान संस्थित थे—देह के चारो अशों की सुसगत, अगो के परस्पर समानुपाती, सन्तुलित और समन्वित रचनामय शरीर के धारक थे, जो वज्र-ऋषभ-नाराच-सहनन—सुदृढ अस्थि-बन्धयुक्त विशिष्ट-देह-रचनायुक्त थे, कसौटी पर खचित स्वर्ण-रेखा की आभा लिए हुए कमल के समान जो गौर वर्ण थे, जो उग्र तपस्वी थे, दीप्त तपस्वी—कर्मो को भस्मसात् करने मे अग्नि के समान प्रदीप्त तप करने वाले थे, तप्त तपस्वी—जिनकी देह पर तपश्चर्या की तीव्र झलक व्याप्त थी, जो कठोर एव विपुल तप करने वाले थे, जो उराल—प्रबल साधना मे सशक्त घोरगुण—परम उत्तम—जिनको धारण करने मे अद्भुत शक्ति चाहिए—ऐसे गुणो के धारक, घोर तपस्वी—प्रबल तपस्वी, घोर ब्रह्मचर्यवासी—कठोर ब्रह्मचर्य के पालक, उत्क्षिप्तशरीर—दैहिक सार-सम्भाल या सजावट से रहित थे, जो विशाल तेजोलेश्या अपने शरीर के भीतर समेटे हुए थे, भगवान् महावीर से न अधिक दूर न अधिक समीप—समुचित स्थान पर सस्थित हो, घुटने ऊँचे किये, मस्तक नीचे किये, ध्यान की मुद्रा मे, सयम और तप से आत्मा को भावित करते हुए अवस्थित थे।

६३—तए ण से भगवं गोयमे जायसड्ढे जायससए जायकोऊहल्ले, उप्पण्णसड्ढे उप्पण्णससए उप्पण्णकोऊहल्ले, सजायसड्ढे सजायससए सजायकोऊहल्ले, समुप्पण्णसड्ढे समुप्पणससए समुप्पण्ण-कोऊहल्ले उट्ठाए उट्ठेइ, उट्ठाए उट्ठित्ता जेणेव समणे भगव महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता समण भगव महावीर तिक्खुत्तो आयाहिणं, पयाहिणं करेइ, तिक्खुत्तो आयाहिण पयाहिण करेत्ता वदइ णमसइ, वदित्ता णमसित्ता नच्चासण्णे नाइदूरे सुस्सूसमाणे, णमसमाणे अभिमुहे विणएण पजलिउडे पज्जुवासमाणे एव वयासी—

६३—तब उन भगवान् गौतम के मन मे श्रद्धापूर्वक इच्छा पैदा हुई, सशय—अनिर्धारित अर्थ मे शका—जिज्ञासा एव कुतूहल पैदा हुआ। पुन उनके मन मे श्रद्धा का भाव उमडा, सशय उभरा, कुतूहल समुत्पन्न हुआ। वे उठे, उठकर जहाँ भगवान् महावीर थे, आए। आकर भगवान् महावीर को तीन बार आदक्षिण-प्रदक्षिणा की, वन्दना-नमस्कार किया। वैसा कर भगवान् के न अधिक समीप न अधिक दूर शुश्रूषा—सुनने की इच्छा रखते हुए, प्रमाण करते हुए, विनयपूर्वक सामने हाथ जोडे हुए, उनकी पर्युपासना-अभ्यर्थना करते हुए बोले—

पापकर्म का बन्ध

६४—जीवे णं भंते ! असंजए अविरए अप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे सकिरिए असंवुडे एगंतदंडे एगंतबाले एगंतसुत्ते पावकम्मं अण्हाइ ?

हंता अण्हाइ ।

६४—भगवन् ! वह जीव, जो असयत है—जिसने सयम की आराधना नहीं की, जो अविरत है—हिंसा आदि से विरत नही है, जिसने प्रत्याख्यान द्वारा पाप-कर्मों को प्रतिहत नही किया—सम्यक् श्रद्धापूर्वक पापो का त्याग नही किया, हलका नही किया, जो सक्रिय— कायिक, वाचिक तथा मानसिक क्रियाओ से युक्त है—क्रियाएँ करता है, जो असवृत है—सवर रहित है—जिसने इन्द्रियो का सवरण या निरोध नही किया, जो एकान्तदड युक्त है—जो अपने को तथा औरो को पाप-कर्म द्वारा एकान्तत.—सर्वथा दण्डित करता है, जो एकान्तबाल है—सर्वथा मिथ्या दृष्टि—अज्ञानी है, जो एकान्तसुप्त है—मिथ्यात्व की निद्रा मे बिलकुल सोया हुआ है, क्या वह पाप-कर्म से लिप्त होता है—पाप-कर्म का बध करता है ?

हाँ, गौतम ! करता है ।

६५—जीवे णं भंते ! असंजए जाव (अविरए, अप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे, सकिरिए, असवुडे, एगतदडे एगतबाले) एगंतसुत्ते मोहणिज्जं पावकम्मं अण्हाइ ?

हंता अण्हाइ ।

६५—भगवन् ! वह जीव, जो असयत है—जिसने सयम की आराधना नही की, जो अविरत है—हिंसा आदि से विरत नही है, जिससे प्रत्याख्यान द्वारा पाप कर्मों को प्रतिहत नही किया—सम्यक् श्रद्धापूर्वक पापो का त्याग नही किया, हलका नही किया, जो सक्रिय— कायिक, वाचिक तथा मानसिक क्रियाओ से युक्त है—क्रियाएँ करता है, जो असवृत है— सवर रहित है—जिसने इन्द्रियो का सवरण या निरोध नही किया, जो एकान्तदडयुक्त है—जो अपने को तथा औरो को पाप कर्म द्वारा एकान्तत — सर्वथा दण्डित करता है, जो एकान्त-बाल है—सर्वदा मिथ्यादृष्टि—अज्ञानी है, जो एकान्त-सुप्त है—मिथ्यात्व की निद्रा मे बिलकुल सोया हुआ है, क्या वह मोहनीय पाप-कर्म से लिप्त होता है—मोहनीय पाप-कर्म का बध करता है ?

हाँ गौतम ! करता है ।

६६—जीवे ण भते ! मोहणिज्जं कम्मं वेदेमाणे किं मोहणिज्जं कम्मं बंधइ ? वेयणिज्जं कम्मं बंधइ ?

गोयमा ! मोहणिज्ज पि कम्म बंधइ, वेयणिज्ज पि कम्म बधइ, णण्णत्थ चरिममोहणिज्ज कम्म वेदेमाणे वेयणिज्जं कम्म बंधइ, णो मोहणिज्ज कम्मं बधइ ।

६६—भगवन् ! क्या जीव मोहनीय कर्म का वेदन—अनुभव करता हुआ मोहनीय कर्म का बध करता है ? क्या वेदनीय कर्म का बध करता है ?

गौतम ! वह मोहनीय कर्म का बध करता है, वेदनीय कर्म का भी बंध करता है। किन्तु (सूक्ष्मसपराय नामक दशम गुणस्थान मे) चरम मोहनीय कर्म का वेदन करता हुआ जीव वेदनीय कर्म का ही बध करता है, मोहनीय का नही।

एकान्तबाल : एकान्त सुप्त का उपपात

६७—जीवे णं भंते ! असंजए, अविरए, अपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे, सकिरिए, असवुडे, एगंतदंडे, एगतबाले, एगतसुत्ते, ओसण्णतसपाणघाई कालमासे काल किच्चा णेरइएसु उववज्जति ?

हता उववज्जति।

६७—भगवन् ! जो जीव असयत—सयमरहित है, अविरत है, जिसने सम्यक्त्वपूर्वक पाप-कर्मों को प्रतिहत नही किया है—हलका नही किया है, नही मिटाया है, जो सक्रिय है—(मिथ्यात्वयुक्त) कायिक, वाचिक एव मानसिक क्रियाओ मे सलग्न है, असवृत है—सवररहित है—अशुभ का निरोध नही किये हुए है, एकान्त दण्ड है—पापपूर्ण प्रवृत्तियो द्वारा अपने को तथा औरो को सर्वथा दण्डित करता है, एकान्तबाल है—सर्वथा मिथ्यादृष्टि है तथा एकान्तसुप्त-मिथ्यात्व की प्रगाढ निद्रा मे सोया हुआ है, त्रस-द्वीन्द्रिय आदि स्पन्दनशील, हिलने डुलनेवाले अथवा जिन्हे त्रास का वेदन करते हुए अनुभव किया जा सके, वैसे जीवो का प्राय—बहुलतया घात करता है—त्रस प्राणियो की हिसा मे लगा रहता है, क्या वह मृत्यु-काल आने पर मरकर नैरयिको मे उत्पन्न होता है ?

हाँ, गौतम ऐसा होता है।

६८—जीवे णं भंते ! असजए अविरए अप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे इओ चुए पेच्च देवे सिया ?

गोयमा ! अत्थेगइया देवे सिया, अत्थेगइया णो देवे सिया।

६८—भगवन् जिन्होने संयम नही साधा, जो अविरत है—हिसा, असत्य आदि से विरत नही है, जिन्होने प्रत्याख्यान द्वारा पाप-कर्मों को प्रतिहत नही किया—सम्यक् श्रद्धापूर्वक पापो का त्याग कर उन्हे नही मिटाया, वे यहाँ से च्युत होकर—मृत्यु प्राप्त कर आगे के जन्म मे क्या देव होते है ? क्या देवयोनि मे जन्म लेते है ?

गौतम ! कई देव होते है, कई देव नही होते है।

६९—से केणट्ठेणं भंते ! एव वुच्चइ—अत्थेगइया देवे सिया, अत्थेगइया णो देवे सिया ?

गोयमा ! जे इमे जीवा गामागर-णयर-णिगम-रायहाणि-खेड-कब्बड-मडब-दोणमुह-पट्टणा-सम-सबाह-सण्णिवेसेसु अकामतण्हाए, अकामछुहाए, अकामबभचेरवासेणं, अकामअण्हाणग-सीयायव-दंसमसग-सेय-जल्ल-मल्ल-पंकपरितावेण अप्पतरो वा भुज्जतरो वा काल अप्पाणं परिकिलेसंति, अप्पतरो वा भुज्जतरो वा कालमासे काल किच्चा अण्णयरेसु वाणमतरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति। तहिं तेसिं गई, तहिं तेसिं ठिई, तहिं तेसिं उववाए पण्णत्ते।

तेसि णं भंते ! देवाणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?

गोयमा ! दसवाससहस्साइं ठिई पण्णत्ता ।

अत्थि णं भंते ! तेसिं देवाणं इड्ढी इ वा, जुई इ वा, जसे इ वा, बले इ वा, वीरिए इ वा, पुरिसक्कारपरक्कमे इ वा ?

हंता अत्थि ।

ते णं भंते ! देवा परलोगस्स आराहगा ?

णो इणट्ठे समट्ठे ।।

६९—भगवन् ! आप किस अभिप्राय से ऐसा कहते है कि कई देव होते हैं, कई देव नही होते ?

गौतम ! जो जीव मोक्ष की अभिलाषा के बिना या कर्म-क्षय के लक्ष्य के बिना ग्राम, आकर—नमक आदि के उत्पत्तिस्थान, नगर—जिनमे कर नही लगता हो ऐसे शहर, खेट—धूल के परकोटो से युक्त गाँव, कर्बट—अति साधारण कस्बे, द्रोणमुख—जल-मार्ग तथा स्थल-मार्ग से युक्त स्थान, मडब—आस-पास गाँव रहित बस्ती, पत्तन—बन्दरगाह अथवा बडे नगर, जहाँ या तो जल मार्ग से या स्थल मार्ग से जाना सम्भव हो, आश्रम—तापसो के आवास, निगम—व्यापारिक नगर, सवाह-पर्वत की तलहटी मे बसे गाँव, सन्निवेश झोपडियो से युक्त बस्ती अथवा सार्थवाह तथा सेना आदि के ठहरने के स्थान मे तृषा प्यास, क्षुधा—भूख, ब्रह्मचर्य, अस्नान, शीत, आतप, डास—मच्छर, स्वेद—पसीना, जल्ल - रज, मल्ल—मैल, जो सूखकर कठोर बन गया हो, पक—मैल जो पसीने से गोला बना हो—इन परितापो से अपने आपको थोडा या अधिक क्लेश देते है, कुछ समय तक अपने आप को क्लेशित कर मृत्यु का समय आने पर देह का त्यागकर वे वानव्यन्तर देवलोको मे से किसी लोक मे देव के रूप मे पैदा होते है । वहाँ उनकी अपनी विशेष गति, स्थिति तथा उपपात होता है ।

भगवन् ! वहाँ उन देवो की स्थिति—आयु कितने समय की बतलाई गई है ?

गौतम ! वहाँ उनकी स्थिति दश हजार वर्ष की बतलायी गयी है ।

भगवन् ! क्या उन देवो की ऋद्धि—समृद्धि, परिवार आदि सम्पत्ति, द्युति—काति, यश—कीर्ति, बल—शरीर-निष्पन्न शक्ति, वीर्य—जीव-निष्पन्न प्राणमयी शक्ति, पुरुषाकार—पुरुषाभिमान, पौरुष की अनुभूति या पुरुषार्थ तथा पराक्रम—ये सब अपनी अपनी विशेषता के साथ होते हैं ?

हाँ, गौतम ऐसा होता है ।

भगवन् ! क्या वे देव परलोक के आराधक होते है ?

गौतम ! ऐसा नही होता ।

किलशित-उपपात

७०—से जे इमे गामागरणयरणिगमरायहाणिखेडकब्बडमडंबदोणमुहपट्टणासमसंबाहसण्णिवेसेसु मणुया भवंति, तं जहा—अंडबद्धगा, णिअलबद्धगा, हडिबद्धगा, चारगबद्धगा, हत्थछिण्णगा, पायछिण्णगा, कण्णछिण्णगा, नक्कछिण्णगा, ओट्ठछिण्णगा, जिब्भछिण्णगा, सीसछिण्णगा, मुखछिण्णगा,

मज्झछिण्णगा, वइकच्छछिण्णगा, हियय उप्पाडियगा, णयणुप्पाडियगा, दसणुप्पाडियगा, वसणुप्पाडियगा, गेवछिण्णगा, तंडुलच्छिण्णगा, कागणिमंसक्खावियगा, ओलंबियगा, लंबियगा, घंसियगा, घोलियगा, फालियगा, पीलियगा, सूलाइयगा, सूलभिण्णगा, खारवत्तिया, वज्झवत्तिया, सीहपुच्छियगा, दवग्गिदड्ढगा, पंकोसण्णगा, पंके खुत्तगा, वलयमयगा, वसट्टमयगा, णियाणमयगा, अंतोसल्लमयगा, गिरिपडियगा, तरुपडियगा, मरुपडियगा, गिरिपक्खंदोलगा, तरुपक्खंदोलगा, मरुपक्खंदोलगा, जलपवेसिगा, जलणपवेसिगा, विसभक्खियगा, सत्थोवाडियगा, वेहाणसिया, गिद्धपिट्ठगा, कंतारमयगा, दुब्भिक्खमयगा, असंकिलिट्ठपरिणामा ते कालमासे कालं किच्चा अण्णयरेसु वाणमंतरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति । तहिं तेसिं गई, तहिं तेसिं ठिई, तहिं तेसिं उववाए पण्णत्ते ।

तेसि णं भंते ! देवाणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?

गोयमा ! बारसवाससहस्साइं ठिई पण्णत्ता !

अत्थि णं भंते ! तेसिं देवाणं इड्ढी इ वा, जुई इ वा, जसे इ वा, बले इ वा, वीरिए इ वा, पुरिसक्कारपरिक्कमे इ वा ?

हंता अत्थि ।

ते णं भंते ! देवा परलोगस्स आराहगा ?

णो इणट्ठे समट्ठे ।।

७०—जो (ये) जीव ग्राम, आकर—नमक आदि के उत्पत्ति-स्थान, नगर,—जिनमे कर नही लगता हो, ऐसे शहर, खेट—धूल के परकोटो से युक्त गाँव, कर्बट—अति साधारण कस्बे, द्रोणमुख—जल-मार्ग तथा स्थल मार्ग से युक्त स्थान, मडब—आस-पास गाँव रहित बस्ती, पत्तन—बन्दरगाह अथवा बडे नगर, जहाँ या तो जल मार्ग से या स्थल मार्ग से जाना सम्भव हो, आश्रम—तापसो के आवास, निगम—व्यापारिक नगर, सवाह—पर्वत की तलहटी मे बसे गाँव, सन्निवेश-झोपडियों से युक्त बस्ती अथवा सार्थवाह तथा सेना आदि के ठहरने के स्थान मे मनुष्य होते है—मनुष्य के रूप मे जन्म लेते है, जिनके किसी अपराध के कारण काठ या लोहे के बंधन से हाथ पैर बाँध दिये जाते हैं, जो बेडियो से जकड दिये जाते है, जिनके पैर काठ के खोडे मे डाल दिये जाते है, जो कारागार में बन्द कर दिये जाते हैं, जिनके हाथ काट दिये जाते है, जिनके पैर काट दिये जाते हैं, कान काट दिये जाते हैं, नाक काट दिये जाते है, होठ छेद दिये जाते हैं, जिह्वाएं काट दी जाती हैं, मस्तक छेद दिये जाते हैं, मुँह छेद दिये जाते है, जिनके बाये कन्धे से लेकर दाहिनी काँख तक के देह-भाग मस्तक सहित विदीर्ण कर दिये जाते है, हृदय चीर दिये जाते है—कलेजे उखाड़ दिये जाते हैं, आँखे निकाल ली जाती हैं, दात तोड दिये जाते हैं, जिनके अण्डकोष उखाड दिये जाते है, गर्दन तोड दी जाती है, चावलो की तरह जिनके शरीर के टुकडे-टुकडे कर दिये जाते है, जिनके शरीर का कोमल मास उखाड कर जिन्हे खिलाया जाता है, जो रस्सी से बाँध कर कुए खड्डे आदि मे लटका दिये जाते हैं, वृक्ष की शाखा मे हाथ बाँध कर लटका दिये जाते हैं, चन्दन की तरह पत्थर आदि पर घिस दिये जाते हैं, पात्र-स्थित दही की तरह जो मथ दिये जाते हैं, काठ की तरह कुल्हाडे से फाड़ दिये जाते हैं, जो गन्ने की तरह कोल्हू मे पेल दिये जाते हैं, जो सूली में पिरो दिये जाते है, जो सूली से बींध दिये जाते है—जिनके देह से लेकर मस्तक मे से सूली निकाल दी जाती है, जो खार के बर्तन

में डाल दिये जाते हैं, जो बद्ध—गीले चमड़े से बांध दिये जाते हैं, जिनकी जननेन्द्रिय काट दी जाती है, जो दवाग्नि में जल जाते हैं, कीचड़ मे डूब जाते हैं, कीचड़ मे फस जाते हैं, सयम से भ्रष्ट होकर या भूख आदि से पीड़ित होकर—परिषहो से घबराकर मरते हैं, जो विषय-परतन्त्रता से पीड़ित या दु खित होकर मरते हैं, जो सासारिक इच्छा पूर्ति के सकल्प के साथ अज्ञानमय तपपूर्वक मरते हैं, जो अन्त शल्य—भावशल्य—कलुषित भावो के कांटे को निकाले बिना या भाले आदि से अपने आपको बेधकर मरते हैं, जो पर्वत से गिरकर मरते हैं अथवा अपने पर बहुत बडा पत्थर गिराकर मरते हैं, जो वृक्ष से गिरकर मरते हैं, मरुस्थल या निर्जल प्रदेश मे मर जाते हैं अथवा मरुस्थल के किसी स्थान से—बडे टीले आदि से गिरकर मरते हैं, जो पर्वत से झपापात कर—छलाग लगा कर मरते हैं, वृक्ष से छलाग लगा कर मरते हैं, मरुभूमि की बालू मे गिरकर मरते हैं, जल मे प्रवेश कर मरते हैं, अग्नि मे प्रवेश कर मरते हैं, जहर खाकर मरते हैं, शस्त्रो से अपने आपको विदीर्ण कर मरते हैं, जो वृक्ष की डाली आदि से लटककर फांसी लगाकर मरते हैं, जो मरे हुए मनुष्य, हाथी, ऊँट, गधे आदि की देह मे प्रविष्ट होकर गीधो की चोचो से विदारित होकर मरते हैं, जो जगल मे खोकर मर जाते हैं, दुर्भिक्ष मे भूख, प्यास आदि से मर जाते हैं, यदि उनके परिणाम संक्लिष्ट—अर्थात् आर्त-रौद्र ध्यान युक्त न हो तो उस प्रकार मृत्यु प्राप्त कर वे वानव्यन्तर देवलोको मे से किसी में देवरूप मे उत्पन्न होते है। वहाँ उस लोक के अनुरूप उनकी गति, स्थिति तथा उत्पत्ति होती है, ऐसा बतलाया गया है।

भगवन् ! उन देवो की वहाँ कितनी स्थिति होती है ?

गौतम ! वहाँ उनकी स्थिति बारह हजार वर्ष की होती है।

भगवन् ! उन देवो के वहाँ ऋद्धि, द्युति, यश, बल, वीर्य तथा पुरुषकार-पराक्रम होता है या नही ?

गौतम ! होता है।

भगवन् ! क्या वे देव परलोक के आराधक होते हैं ?

गौतम ! ऐसा नही होता--वे देव परलोक के आराधक नही होते।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र मे पहले ऐसे लोगो की चर्चा है, जिन्हे अपराधवश, वैमनस्य या द्वेषवश किन्ही द्वारा घोर कष्ट दिया जाता है, जिससे वे प्राण छोड देते हैं। यदि यो कष्टपूर्वक मरते समय उनके मन मे तीव्र आर्त, रौद्र परिणाम नही आते तो उनका वान-व्यन्तर देवो मे उत्पन्न होना बतलाया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि यद्यपि वे मिथ्यात्वी होते हैं, उन द्वारा कष्ट-सहन मोक्षाभिमुख या कर्मक्षयाभिमुख उच्च भाव से नही होता पर उनके परिणामो की इतनी-सी विशेषता रहती है, वे कष्ट सहते हुए आर्त, रौद्र भाव से अभिभूत नही होते, अविचल रहते हुए, अत्यन्त दृढ़ता से उन कष्टो को सहते हुए मर जाते हैं। अतएव उन द्वारा किया गया वह कष्ट-सहन अकाम-निर्जरा मे आता है, जिसके फलस्वरूप वे देवयोनि प्राप्त करते है।

आगे ऐसे लोगो की चर्चा है, जो सयम से पतित हो जाने से या सासारिक अभीप्साओ या भौतिक कामनाओ की पूर्ति न होने से इतने दु खित, निराश तथा विषादग्रस्त हो जाते हैं कि जीवन का भार ढो पाना उन्हें अशक्य प्रतीत होता है। फलत. वे फांसी लगाकर, पानी मे डूबकर, पर्वत से

झपापात कर, आग मे कूदकर, जहर खाकर या ऐसे ही किसी अन्य प्रकार से प्राण त्याग देते हैं। यदि दुःख झेलते हुए, मरते हुए उनके परिणाम संक्लेशमय, तीव्र आर्त-रौद्र ध्यानमय नही होते, तो वे मरकर वानव्यन्तर देवों मे उत्पन्न होते हैं।

यो प्राण-त्याग करना क्या आत्महत्या नही है ? आत्महत्या तो बहुत बडा पाप है, आत्मघाती देव कैसे होते हैं ? इत्यादि अनेक शकाए यहाँ खडी होती हैं।

बात सही है, 'आत्मघाती महापापी' के अनुसार आत्महत्या घोर पाप है, नरक का हेतु है पर यहाँ जो प्रसग वर्णित है, वह आत्महत्या मे नही जाता। क्योकि वैसे मरने वालो की भावना होती है, वह सांसारिक दुःखो से छूट नही पा रहा है, उसकी कामनाए पूर्ण नही हो रही हैं। उसका लक्ष्य सध नहीं पा रहा है। मरना ही उसके लिए शरण है। पर, वह मरते वक्त भयाक्रान्त नही होता, मन मे आकुल तथा उद्विग्न नही होता। वह परिणामो मे अत्यधिक दृढता लिये रहता है। उसके भाव सक्लिष्ट नही होते। वह आर्त, रौद्र ध्यान मे एकदम निमग्न नही होता। इस प्रकार उसके अकामनिर्जरा सध जाती है और वह देवयोनि प्राप्त कर लेता है।

जो आत्महत्या करता है, मरते समय वह अत्यन्त कलुषित, क्लिष्ट एव दूषित परिणामो से ग्रस्त होता है। इसीलिए वह घोर पापी कहा जाता है। वास्तव मे आत्महत्या करने वाले के अन्त समय के परिणामो की धारा बडी जघन्य तथा निम्न कोटि की होती है। वह घोर आर्त-रौद्र-भाव मे निपतित हो जाता है। वह बहुत ही शोक-विह्वल हो जाता है, सभवत यह सोचकर कि प्राण, जिनसे बढकर जगत् मे कुछ भी नही है, जो सर्वाधिक प्रिय हैं, हाय ! उनसे वह वचित हो रहा है। कितनी बडी भूल उससे हुई।

ऊपर स्वय मृत्यु स्वीकार करने वाले जिन लोगो की चर्चा है, वे अन्त समय मे मन मे ऐसे परिणाम नही लाते।

भद्र प्रकृति जनों का उपपात

७१—से जे इमे गामागर जाव (णयरणिगमरायहाणिखेडकब्बडमडंबदोणमुहपट्टणासमसंवाह) संनिवेसेसु मणुया भवंति, त जहा—पगइभद्दगा, पगइउवसता, पगइपतणुकोहमाणमायालोहा, मिउमद्दव-संपण्णा, अल्लीणा, विणीया, अम्मापिउसुस्सूसगा, अम्मापिईणं अणइक्कमणिज्जवयणा, अप्पिच्छा, अप्पारंभा, अप्परिग्गहा, अप्पेणं आरंभेणं, अप्पेण समारंभेण, अप्पेणं आरंभसमारंभेणं वित्ति कप्पेमाणा बहूइ वासाइ आउयं पालेंति, पालित्ता कालमासे कालं किच्चा अण्णयरेसु वाणमंतरेसु तं चेव सव्वं णवर ठिई चउद्दसवाससहस्साइं।

७१—(वे) जो जीव ग्राम, आकर, नगर, खेट, कर्बट, द्रोणमुख, मडब, पत्तन आश्रम, निगम, संवाह, सन्निवेश मे मनुष्यरूप में उत्पन्न होते हैं, जो प्रकृतिभद्र—सौम्य व्यवहारशील—परोपकारपरायण, शान्त, स्वभावत क्रोध, मान, माया एव लोभ की प्रतनुता—हलकापन लिये हुए—इनकी उग्रता से रहित, मृदु मार्दवसम्पन्न—अत्यन्त कोमल स्वभावयुक्त—अहंकार रहित, आलीन—गुरुजन के आश्रित—आज्ञापालक, विनीत—विनयशील, माता-पिता की सेवा करने वाले, माता-पिता के वचनो का अतिक्रमण—उल्लघन नही करने वाले, अल्पेच्छा—बहुत कम इच्छाएँ, आवश्यकताएँ रखनेवाले, अल्पारभ—अल्पहिंसायुक्त—कम से कम हिंसा करने वाले, अल्पपरिग्रह—धन, धान्य आदि परिग्रह के

अल्प परिमाण से परितुष्ट, अल्पारंभ-अल्पसमारभ—जीव-हिंसा एवं जीव-परितापन की न्यूनता द्वारा आजीविका चलानेवाले बहुत वर्षों का आयुष्य भोगते हुए, आयुष्य पूरा कर, मृत्यु-काल आने पर देह-त्याग कर वानव्यन्तर देवलोको मे से किसी मे देवरूप मे उत्पन्न होते हैं। अवशेष वर्णन पिछले सूत्र के सदृश है। केवल इतना अन्तर है—इनकी स्थिति आयुष्यपरिमाण चौदह हजार वर्ष का होता है।

परिक्लेशबाधित नारियों का उपपात

७२—से जाओ इमाओ गामागर जाव[1] सनिवेसेसु इत्थियाओ भवंति, त जहा—अंतो अंतेउरियाओ, गयपइयाओ, मयपइयाओ, बालविहवाओ, छड्डियल्लियाओ, माइरक्खियाओ, पियरक्खियाओ, भायरक्खियाओ, कुलघररक्खियाओ, ससुरकुलरक्खियाओ, मित्तनाइनियगसंबंधिरक्खियाओ, परूढणहकेसकक्खरोमाओ, ववगयधूवपुप्फगंधमल्लालंकाराओ, अण्हाणगसेयजल्लमल्लपंकपरितावियाओ, ववगयखीर-दहि-णवणीय-सप्पि-तेल्ल-गुल-लोण-महु-मज्ज-मस-परिचत्तकयाहाराओ, अप्पिच्छाओ, अप्पारंभाओ, अप्पपरिग्गहाओ, अप्पेणं आरंभेणं, अप्पेणं समारंभेणं, अप्पेणं आरंभसमारंभेणं वित्ति कप्पेमाणीओ अकामबंभचेरवासेणं तामेव पइसेज्जं णाइक्कमंति, ताओ णं इत्थियाओ एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणीओ बहूइं वासाइं (आउयं पालेंति, पालित्ता कालमासे कालं किच्चा अण्णयरेसु वाणमंतरेसु देवलोएसु देवत्ताए-उववत्तारीओ भवंति, तहिं तेसिं गई, तहिं तेसिं ठिई, तहिं तेसिं उववाए पण्णत्ते। तेसि णं भंते! देवाणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता? गोयमा!) चउसट्ठिं वाससहस्साइं ठिई पण्णत्ता।

७२—(ये) जो ग्राम, सन्निवेश आदि मे स्त्रियाँ होती है—स्त्रीरूप मे उत्पन्न होती हो, जो अन्त पुर के अन्दर निवास करती हो, जिनके पति परदेश गये हो, जिनके पति मर गये हो, जो बाल्यावस्था मे ही विधवा हो गई हो, जो पतियो द्वारा परित्यक्त कर दी गई हो, जो मातृरक्षिता हो—जिनका पालन-पोषण, सरक्षण माता द्वारा होता हो, जो पिता द्वारा रक्षित हो, जो भाइयो द्वारा रक्षित हो, जो कुलगृह—पीहर द्वारा—पीहर के अभिभावको द्वारा रक्षित हो, जो श्वसुर-कुल द्वारा—श्वसुर-कुल के अभिभावको द्वारा रक्षित हो, जो पति या पिता आदि के मित्रो, अपने हितैषियो माता, नाना आदि सम्बन्धियो, अपने सगोत्रीय देवर, जेठ आदि पारिवारिक जनो द्वारा रक्षित हो, विशेष परिष्कार-सस्कार के अभाव मे जिनके नख, केश, काख के बाल बढ गये हो, जो धूप (धूप, लोबान तथा सुरभित औषधियो द्वारा केश, देह आदि पर दिये जाने वाले, वासित किये जाने वाले धूएँ), पुष्प, सुगन्धित पदार्थ, मालाएँ धारण नही करती हो, जो अस्नान—स्नानभाव, स्वेद—पसीने, जल्ल—रज, मल्ल—सूखकर देह पर जमे हुए मैल, पक—पसीने से मिलकर गीले हुए मैल से पारितापित—पीडित रहती हो, जो दूध दही मक्खन घृत तैल गुड नमक मधु मद्य और मास रहित आहार करती हो, जिनकी इच्छाए बहुत कम हो, जिनके धन, धान्य आदि परिग्रह बहुत कम हो, जो अल्प आरम्भ समारभ—बहुत कम जीव-हिसा, जीव-परितापन द्वारा अपनी जीविका चलाती हो, अकाम—मोक्ष की अभिलाषा या लक्ष्य के बिना जो ब्रह्मचर्य का पालन करती हो, पति-शय्या का अतिक्रमण नही करती हो—उपपति स्वीकार नही करती हो—इस प्रकार के आचरण द्वारा जीवनयापन करती हो, वे बहुत वर्षों का आयुष्य भोगते हुए, आयुष्य पूरा कर, मृत्यु काल आनेपर

१ देखे सूत्र-सख्या ७१

देह-त्याग कर वानव्यन्तर देवलोको में से किसी मे देवरूप मे उत्पन्न होती हैं। प्राप्त देव-लोक के अनुरूप उनकी गति, स्थिति तथा उत्पत्ति होती है। वहाँ उनकी स्थिति चौसठ हजार वर्षों की होती है।

द्विद्रव्यादिसेवी मनुष्यों का उपपात

७३—से जे इमे गामागर जाव[1] सन्निवेसेसु मणुया भवंति, तं जहा—दगबिइया, दगतइया, दगसत्तमा, दगएक्कारसमा, गोयम-गोव्वइय-गिहिधम्म-धम्मचिंतग-अविरुद्ध-विरुद्ध-वुड्ढ-सावगप्पभितयो, तेसि णं मणुयाणं णो कप्पंति इमाओ नवरसविगइओ आहारेत्तए, तं जहा—खीरं, दहिं, णवणीयं, सप्पि, तेल्लं, फाणियं, महुं, मज्जं, मंसं, णो अण्णत्थ एक्काए सरिसवविगइए। ते णं मणुया अप्पिच्छा तं चेव सव्वं णवरं चउरासीइं वाससहस्साइं ठिई पण्णत्ता।

७३—जो ग्राम तथा सन्निवेश आदि पूर्वोक्त स्थानो मे मनुष्य रूप मे उत्पन्न होते हैं, जो उदक द्वितीय—एक भात—खाद्य पदार्थ तथा दूसरा जल, इन दो पदार्थों का आहार रूप में सेवन करनेवाले, उदकतृतीय—भात आदि दो पदार्थ तथा तीसरे जल का सेवन करने वाले, उदकसप्तम—भात आदि छह पदार्थ तथा सातवे जल का सेवन करने वाले, उदकैकादश—भात आदि दश पदार्थ तथा ग्यारहवे जल का सेवन करने वाले, गोतम—विशेष रूप से प्रशिक्षित ठिंगने बैल द्वारा विविध प्रकार के मनोरजक प्रदर्शन प्रस्तुत कर भिक्षा मागने वाले, गोव्रतिक—गो-सेवा का विशेष व्रत स्वीकार करने वाले, गृहधर्मी—गृहस्थधर्म—अतिथिसेवा दान आदि से सम्बद्ध गृहस्थ-धर्म को ही कल्याणकारी मानने वाले एव उनका अनुसरण करने वाले, धर्मचिन्तक—धर्मशास्त्र के पाठक, सभासद् या कथा-वाचक, अविरुद्ध—वैनयिक—विनयाश्रित भक्तिमार्गी, विरुद्ध—अक्रियावादी—आत्मा आदि को अस्वीकार कर बाह्य तथा आभ्यन्तर दृष्टियो से क्रिया-विरोधी, वृद्ध—तापस, श्रावक—धर्मशास्त्र के श्रोता, ब्राह्मण आदि, जो दूध, दही, मक्खन, घृत, तेल, गुड, मधु, मद्य तथा मास को अपने लिए अकल्प्य—अग्राह्य मानते है, सरसो के तैल के सिवाय इनमे से किसी का सेवन नही करते, जिनकी आकाक्षाए बहुत कम होती हैं, ... —ऐसे मनुष्य पूर्व वर्णन के अनुरूप मरकर वानव्यन्तर देव होते हैं। वहाँ उनका आयुष्य ८४ हजार वर्ष का बतलाया गया है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र मे ऐसे लोगो की चर्चा है, जो सम्यक्त्वी नही होते पर किन्ही विशेष कठिन व्रतो का आचरण करते हैं, अपनी मान्यता के अनुसार अपनी विशेष साधना मे लगे रहते है, जो कम से कम सुविधाए और अनुकूलताए स्वीकार करते हैं, कष्ट झेलते है, वे वानव्यन्तर देवो मे उत्पन्न होते है, ऐसा बतलाया गया है।

यहाँ आया हुआ गोव्रतिक शब्द विशेष रूप से विमर्शयोग्य है, वैदिक परम्परा मे गाय को बहुत पूज्य माना गया है, उसे देव-स्वरूप कहा गया है। अतएव गो-उपासना का एक विशेष क्रम भारत मे रहा है। महाकवि कालिदास ने रघुवश के दूसरे सर्ग मे इस सम्बन्ध में विस्तार से वर्णन किया है। अयोध्याधिपति महाराज दिलीप के कोई सन्तान नही थी। उनके गुरु महर्षि वशिष्ठ ने कहा कि कामधेनु की बेटी नन्दिनी की सेवा से उन्हे पुत्र-प्राप्ति होगी। राजा

---

१ देखें सूत्र-सख्या ७१

दिलीप ने सपत्नीक गुरु के आश्रम मे रहते हुए, जहाँ नन्दिनी थी, उसकी बहुत सेवा की। उसको परम उपास्य देवता और आराध्य मानकर तन मन से उसकी सेवा मे राजा और रानी जुट गये। महाकवि ने बड़े सुन्दर शब्दो मे लिखा है—

"नन्दिनी जब खडी होती, राजा खडा होता, जब वह चलती, राजा चलता, जब वह बैठती, राजा बैठता, जब वह पानी पीती, राजा पानी पीता। अधिक क्या, राजा छाया की तरह नन्दिनी के पीछे-पीछे चलता।"[1]

वृत्तिकार आचार्य अभयदेवसूरि ने भी प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या मे गोव्रत की विशेष रूप से चर्चा की है। उन्होने लिखा है—

"गायो के गाँव से बाहर निकलने पर गोव्रतिक बाहर निकलते हैं। वे जब चलती हैं, वे चलते हैं अथवा वे जब चरती है—घास खाती हैं, वे भोजन करते हैं। वे जब पानी पीती हैं, वे पानी पीते हैं। वे आती है, तब वे आते है। वे सो जाती हैं, तब वे सोते हैं।"[2]

महाकवि कालीदास तथा आचार्य अभयदेवसूरि द्वारा प्रकट किये गये भावो की तुलना करने पर दोनो की सन्निकटता स्पष्ट प्रतीत होती है।

जैसा प्रस्तुत सूत्र मे सकेत है, विनयाश्रित भक्तिवादी उपासना की भी भारतवर्ष मे एक विशिष्ट परम्परा रही है। इस परम्परा से सम्बद्ध उपासक हर किसी को विनतभाव से प्रणाम करना अपना धर्म समझते हैं। आज भी यत्र-तत्र व्रज आदि मे कुछ ऐसे व्यक्ति दिखाई देते हैं, जो सभी को प्रणाम करने मे तत्पर देखे जाते है।

वानप्रस्थों का उपपात

७४—से जे इमे गगाकूलगा वाणपत्था तावसा भवंति, तं जहा—होत्तिया, पोत्तिया, कोत्तिया, जण्णई, सड्ढई, थालई, हुबउट्ठा, दंतुक्खलिया, उम्मज्जगा, सम्मज्जगा, निमज्जगा, संपक्खाला, दक्खिणकूलगा, उत्तरकूलगा, संखधमगा, कूलधमगा, मिगलुद्धगा, हत्थितावसा, उद्दंडगा, दिसापोक्खिणो, वाकवासिणो, बिलवासिणो, वेलंवासिणो, जलवासिणो, रुक्खमूलिया, अंबुभक्खिणो,

---

१ स्थित स्थितामुच्चलित प्रयाता,
निषेदुषीमासनबन्धधीर,
जलाभिलाषी जलमाददाना,
छायेव ता भूपतिरन्वगच्छत्॥
—रघुवशमहाकाव्य २ ६

२ गोव्रत येषामस्ति ते गोव्रतिका। ते हि गोषु ग्रामान्निर्गच्छन्तीषु निर्गच्छन्ति, चरन्तीषु चरन्ति, पिबन्तीसु पिबन्ति, आयान्तीष्वायान्ति, शयनासु च शेरेते इति, उक्त च—
"गावीहि सम निग्गमपवेससयणासणाइ पकरेंति।
भु जति जहा गावी तिरिक्खवास विहाविता॥"
—औपपातिकसूत्र वृत्ति पत्र ८९, ९०

वाउभक्खिणो, सेवालभक्खिणो, मूलाहारा, कंदाहारा, तयाहारा, पत्ताहारा, पुप्फाहारा, बीयाहारा, परिसडियकंदमूलतयपत्तपुप्फलाहारा, जलाभिसेयकढिणगायभूया, आयावणाहिं, पंचग्गितावेहिं, इंगालसोल्लियं, कण्डुसोल्लियं, कट्ठसोल्लियं पिव अप्पाणं करेमाणा बहूइं वासाइं परियागं पाउणंति, बहूइं वासाइं परियागं पाउणित्ता कालमासे कालं किच्चा उक्कोसेणं जोइसिएसु देवेसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति । पलिओवमं वाससयसहस्समब्भहियं ठिई ।

आराहगा ?

णो इणट्ठे समट्ठे । सेसं तं चेव ।

७४—गगा के किनारे रहने वाले वानप्रस्थ तापस कई प्रकार के होते हैं—जैसे—होतृक—अग्नि मे हवन करने वाले, पोतृक—वस्त्र धारण करने वाले, कौतृक—पृथ्वी पर सोने वाले, यज्ञ करने वाले, श्राद्ध करने वाले, पात्र धारण करने वाले कुण्डी धारण करने वाले श्रमण, फल-भोजन करने वाले, उन्मज्जक—पानी मे एक बार डुबकी लगाकर नहाने वाले, सम्मज्जक—बार-बार डुबकी लगाकर नहाने वाले, निमज्जक—पानी मे कुछ देर तक डूबे रहकर स्नान करने वाले, सप्रक्षालक—मिट्टी आदि के द्वारा देह को रगडकर स्नान करने वाले, दक्षिणकूलक—गगा के दक्षिणी तट पर रहने वाले, उत्तरकूलक—गगा के उत्तरी तट पर निवास करने वाले, शंखध्मायक—तट पर शख बजाकर भोजन करने वाले, कूलध्मायक—तट पर खडे होकर, शब्द कर भोजन करने वाले, मृगलुब्धक—व्याधो की तरह हिरणो का मास खाकर जीवन चलाने वाले, हस्तितापस—हाथी का वध कर उसका मास खाकर बहुत काल व्यतीत करने वाले, उद्दण्डक—दण्ड को ऊचा किये घूमने वाले, दिशाप्रोक्षी—दिशाओ मे जल छिडककर फल-फूल इकट्ठे करने वाले, वृक्ष की छाल को वस्त्र की तरह धारण करने वाले, बिलवासी—बिलो मे—भूगर्भ गृहो मे या गुफाओ मे निवास करसे वाले, वेलवासी समुद्रतट के समीप निवास करने वाले, जलवासी—पानी मे निवास करने वाले, वृक्षमूलक—वृक्षो की जड मे निवास करने वाले, अम्बुभक्षी—जल का आहार करने वाले, वायुभक्षी—वायु का ही आहार करने वाले, शैवालभक्षी—काई का आहार करने वाले, मूलाहार—मूल का आहार करने वाले, कन्दाहार—कन्द का आहार करने वाले, त्वचाहार—वृक्ष की छाल का आहार करने वाले, पत्राहार—वृक्ष के पत्तो का आहार करने वाले, पुष्पाहार—फूलो का आहार करने वाले, बीजाहार—बीजो का आहार करने वाले, अपने आप गिरे हुए, पृथक् हुए कन्द, मूल, छाल, पत्र, पुष्प तथा फल का आहार करने वाले, पचाग्नि की आतापना से—अपने चारो ओर अग्नि जलाकर तथा पाँचवे सूर्य की आतापना से अपनी देह को अगारो मे पकी हुई-सी, भाड मे भुनी हुई-सी बनाते हुए बहुत वर्षों तक वानप्रस्थ पर्याय का पालन करते है । बहुत वर्षो तक वानप्रस्थ पर्याय का पालन कर मृत्यु-काल आने पर देह त्याग कर वे उत्कृष्ट ज्योतिष्क देवो मे देव रूप मे उत्पन्न होते है । वहाँ उनकी स्थिति एक लाख वर्ष अधिक एक पल्योपम-प्रमाण होती है ।

क्या वे परलोक के आराधक होते है ?

नहीं, ऐसा नही होता ।

अवशेष वर्णन पूर्व की तरह जानना चाहिए ।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त पल्योपम शब्द एक विशेष, अति दीर्घ काल का सूचक है। जैन वाङ्मय में इसका बहुलता से प्रयोग हुआ है।

पल्य या पल्ल का अर्थ कुआ या अनाज का बहुत बडा कोठा है। उसके आधार पर या उसकी उपमा से काल-गणना की जाने के कारण यह कालावधि 'पल्योपम' कही जाती है।

पल्योपम के तीन भेद हैं—१. उद्धार-पल्योपम, २. अद्धा-पल्योपम, ३. क्षेत्र-पल्योपम।

उद्धार-पल्योपम—कल्पना करे, एक ऐसा अनाज का बडा कोठा या कुआ हो, जो एक योजन (चार कोस) लम्बा, एक योजन चौडा और एक योजन गहरा हो। एक दिन से सात दिन की आयु वाले नवजात यौगलिक शिशु के बालो के अत्यन्त छोटे टुकडे किए जाए, उनसे ठूस-ठूस कर उस कोठे या कुए को अच्छी तरह दबा-दबा कर भरा जाय। भराव इतना सघन हो कि अग्नि उन्हे जला न सके, चक्रवर्ती की सेना उन पर से निकल जाय तो एक भी कण इधर से उधर न हो सके, गंगा का प्रवाह बह जाय तो उन पर कुछ असर न हो सके। यो भरे हुए कुए मे से एक-एक समय मे एक-एक बाल-खड निकाला जाय। यो निकालते-निकालते जितने काल मे वह कुआ खाली हो, उस काल-परिमाण को उद्धार-पल्योपम कहा जाता है। उद्धार का अर्थ निकालना है। बालो के उद्धार या निकाले जाने के आधार पर इसकी सज्ञा उद्धार-पल्योपम है। यह सख्यात समय प्रमाण माना जाता है।

उद्धार-पल्योपम के दो भेद हैं—सूक्ष्म एव व्यावहारिक। उपर्युक्त वर्णन व्यावहारिक उद्धार-पल्योपम का है। सूक्ष्म उद्धार-पल्योपम इस प्रकार है—

व्यावहारिक उद्धार-पल्योपम में कुए को भरने मे यौगलिक शिशु के बालो के टुकड़ो की जो चर्चा आई है, उनमे से प्रत्येक टुकडे के असख्यात अदृश्य खड किए जाए। उन सूक्ष्म खडो से पूर्ववर्णित कुआ ठूस-ठूस कर भरा जाय। वैसा कर लिए जाने पर प्रतिसमय एक-एक खड कुए मे से निकाला जाय। यो करते-करते जितने काल मे वह कुआ, बिलकुल खाली हो जाय, उस काल-अवधि को सूक्ष्म उद्धार-पल्योपम कहा जाता है। इसमे सख्यात वर्ष-कोटि परिमाण-काल माना जाना है।

अद्धा-पल्योपम—अद्धा देशी शब्द है, जिसका अर्थ काल या समय है। आगम के प्रस्तुत प्रसग मे जो पल्योपम का जिक्र आया है, उसका आशय इसी पल्योपम से है। इसकी गणना का क्रम इस प्रकार है—यौगलिक के बालो के टुकडो से भरे हुए कुए मे से सौ सौ वर्ष में एक एक टुकडा निकाला जाय। इस प्रकार निकालते-निकालते जितने काल मे वह कुआ बिलकुल खाली हो जाय, उस कालावधि को अद्धा-पल्योपम कहा जाता है। इसका परिमाण संख्यात वर्ष कोटि है।

अद्धा-पल्योपम भी दो प्रकार का होता है—सूक्ष्म और व्यावहारिक। यहाँ जो वर्णन किया गया है, वह व्यावहारिक अद्धा-पल्योपम का है। जिस प्रकार सूक्ष्म उद्धार-पल्योपम मे यौगलिक शिशु के बालो के टुकडो के असख्यात अदृश्य खड किए जाने की बात है, तत्सदृश यहा भी वैसे ही असख्यात अदृश्य केश-खडो से वह कुआ भरा जाय। प्रति सौ वर्ष मे एक खड निकाला जाय। यो निकालते-निकालते जब कुआ बिलकुल खाली हो जाय, वैसा होने में जितना काल लगे, वह सूक्ष्म अद्धा-पल्योपम कोटि मे आता है। इसका काल-परिमाण असख्यात वर्ष कोटि माना गया है।

क्षेत्र-पल्योपम—ऊपर जिस कूप या धान के विशाल कोठे की चर्चा है, यौगलिक के बाल खंडो से उपर्युक्त रूप मे दबा-दबा कर भर दिये जाने पर भी उन खडो के बीच मे आकाश प्रदेश—रिक्त स्थान रह जाते हैं। वे खड चाहे कितने ही छोटे हों, आखिर वे रूपी या मूर्त हैं, आकाश अरूपी या अमूर्त है। स्थूल रूप मे उन खडो के बीच रहे आकाश-प्रदेशो की कल्पना नही की जा सकती, पर सूक्ष्मता से सोचने पर वैसा नही है। इसे एक स्थूल उदाहरण से समझा जा सकता है—कल्पना करे, अनाज के एक बहुत बडे कोठे को कूष्माडो-कुम्हडो से भर दिया गया। सामान्यत देखने मे लगता है, वह कोठा भरा हुआ है, उसमे कोई स्थान खाली नही है, पर यदि उसमे नीबू भरे जाए तो वे अच्छी तरह समा सकते हैं, क्योकि सटे हुए कुम्हडो के बीच मे स्थान खाली जो है। यो नीबुओ से भरे जाने पर भी सूक्ष्म रूप मे और खाली स्थान रह जाता है, बाहर से वैसा लगता नही। यदि उस कोठे मे सरसो भरना चाहे तो वे भी समा जायेगे। सरसो भरने पर भी सूक्ष्म रूप मे और स्थान खाली रहता है। यदि नदी के रज.कण उसमे भरे जाए, तो वे भी समा सकते हैं।

दूसरा उदाहरण दीवाल का है। चुनी हुई दीवाल मे हमे कोई खाली स्थान प्रतीत नही होता पर, उसमे हम अनेक खूटियाँ, कीले गाड सकते हैं। यदि वास्तव मे दीवाल मे स्थान खाली नही होता तो यह कभी संभव नही था। दीवाल मे स्थान खाली है, मोटे रूप में हमे मालूम नही पड़ता। अस्तु।

क्षेत्र-पल्योपम की चर्चा के अन्तर्गत यौगलिक के बालो के खंडो के बीच-बीच मे जो आकाश-प्रदेश होने की बात है, उसे भी इसी दृष्टि से समझा जा सकता है। यौगलिक के बालो के खडो को सस्पृष्ट करने वाले आकाश-प्रदेशो मे से प्रत्येक को प्रति समय निकालने की कल्पना की जाय। यो निकालते-निकालते जब सभी आकाश-प्रदेश निकाल लिए जाए, कुआ बिलकुल खाली हो जाय, वैसा होने मे जितना काल लगे, उसे क्षेत्र-पल्योपम कहा जाता है। इसका काल-परिमाण असख्यात उत्सर्पिणी अवसर्पिणी है।

क्षेत्र-पल्योपम दो प्रकार का है—व्यावहारिक एव सूक्ष्म। उपर्युक्त विवेचन व्यावहारिक क्षेत्र-पल्योपम का है।

सूक्ष्मक्षेत्र-पल्योपम इस प्रकार है—कुए मे भरे यौगलिक के केश-खडो से स्पृष्ट तथा अस्पृष्ट सभी आकाश—प्रदेशो मे से एक-एक समय मे एक-एक प्रदेश निकालने की यदि कल्पना की जाय तथा यो निकालते-निकालते जितने काल मे वह कुआ समग्र आकाश-प्रदेशो से रिक्त हो जाय वह काल परिमाण सूक्ष्म—क्षेत्र-पल्योपम है। इसका भी काल-परिमाण असख्यात उत्सर्पिणी अवसर्पिणी है। व्यावहारिक क्षेत्र-पल्योपम से इसका काल असख्यात गुना अधिक होता है।

प्रव्रजित श्रमणों का उपपात

७५—से जे इमे जाव[१] सन्निवेसेसु पव्वइया समणा भवंति, त जहा—कंदप्पिया, कुक्कुइया, मोहरिया, गीयरइप्पिया, नच्चणसीला, ते णं एएणं विहारेणं विहरमाणा बहूइं वासाइं सामण्णपरियायं पाउणंति, बहूइं वासाइं सामण्णपरियायं पाउणित्ता तस्स ठाणस्स अणालोइयअप्पडिक्कंता कालमासे

१. देखें सूत्र-सख्या ७१

कालं किच्चा उक्कोसेणं सोहम्मे कप्पे कदप्पिएसु देवेसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति। तहिं तेसिं गई, सेसं तं चेव णवरं पलिओवमं वाससयसहस्समब्भहियं ठिई।

७५—(ये) जो ग्राम, सन्निवेश आदि मे मनुष्य रूप मे उत्पन्न होते हैं, प्रव्रजित होकर अनेक रूप में श्रमण होते हैं—

जैसे कान्दर्पिक—नानाविध हास-परिहास या हँसी-मजाक करने वाले, कौकुचिक—भौं, आँख, मु ह, हाथ पैर आदि से भाडो की तरह कुत्सित चेष्टाए कर हसाने वाले, मौखरिक—असम्बद्ध या ऊटपटाग बोलने वाले, गोतरतिप्रिय—गानयुक्त क्रीडा मे विशेष अभिरुचिशील अथवा गीतप्रिय लोगो को चाहने वाले तथा नर्तनशील—नाचने की प्रकृति वाले, जो अपने-अपने जीवन-क्रम के अनुसार आचरण करते हुए बहुत वर्षो तक श्रमण-जीवन का पालन करते हैं, पालन कर अन्त समय में अपने पाप-स्थानो का आलोचन-प्रतिक्रमण नही करते—गुरु के समक्ष आलोचना कर दोष-निवृत्त नही होते, वे मृत्युकाल आने पर देह-त्याग कर उत्कृष्ट सौधर्म-कल्प मे—प्रथम देवलोक मे—हास्य-क्रीडा-प्रधान देवो मे उत्पन्न होते हैं। वहाँ उनकी गति आदि अपने पद के अनुरूप होती है। उनकी स्थिति एक लाख वर्ष अधिक एक पल्योपम की होती है।

परिव्राजकों का उपपात

७६—से जे इमे जाव[१] सन्निवेसेसु परिव्वाया भवंति, त जहा—संखा, जोगी, काविला, भिउव्वा, हंसा, परमहंसा, बहुउदगा, कुलिव्वया, कण्हपरिव्वाया। तत्थ खलु इमे अट्ठ माहण-परिव्वायगा भवंति। तं जहा—

कण्हे य करकंडे य अंबडे य परासरे।
कण्हे दीवायणे चेव देवगुत्ते य नारए॥

तत्थ खलु इमे अट्ठ खत्तियपरिव्वाया भवंति, त जहा—

सीलई ससिहारे(य), नग्गई भग्गई ति य।
विदेहे रायाराया, राया रामे बलेति य॥

७६—जो ग्राम सन्निवेश आदि मे अनेक प्रकार के परिव्राजक होते है, जैसे—साख्य—पुरुष, प्रकृति, बुद्धि, अहकार, पञ्चतन्मात्राए, एकादश इन्द्रिय, पचमहाभूत—इन पच्चीस[२] तत्त्वो मे श्रद्धाशील, योगी—हठ योग के अनुष्ठाता, कापिल—महर्षि कपिल को अपनी परम्परा का आद्य प्रवर्तक मानने वाले, निरीश्वरवादी साख्य मतानुयायी, भार्गव—भृगु ऋषि की परम्परा के अनुसर्ता, हस, परमहस, बहूदक तथा कुटीचर सज्ञक चार प्रकार के यति एवं कृष्ण परिव्राजक—नारायण मे भक्तिशील विशिष्ट परिव्राजक आदि।

---

१ देखें सूत्र-सख्या ७१

२ पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो, यत्र तत्राश्रमे वसन्।
जटी मुण्डी शिखी वापि, मुच्यते नात्र सशय॥ —साख्यकारिका १ गौडपादभाष्य

उनमें आठ ब्राह्मण-परिव्राजक—ब्राह्मण जाति में दीक्षित परिव्राजक होते हैं, जो इस प्रकार हैं—१ कर्ण, २. करकण्ट, ३. अम्बड, ४. पाराशर, ५. कृष्ण, ६ द्वैपायन, ७. देवगुप्त तथा ८. नारद।

उनमे आठ क्षत्रिय-परिव्राजक—क्षत्रिय जाति मे से दीक्षिप्त परिव्राजक होते हैं—१ शीलधी, २. शशिधर (शशिधारक), ३ नग्नक, ४ भग्नक, ५. विदेह, ६. राजराज, ७ राजराम तथा ८ बल।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र मे जिन विभिन्न परिव्राजको का उल्लेख हुआ है, उससे प्रतीत होता है, उस समय साधना के क्षेत्र मे अनेक प्रकार के धार्मिक आम्नाय प्रचलित थे, जिनका आगे चलकर प्राय. लोप-सा हो गया। अतएव यहाँ वर्णित परिव्राजको के सम्बन्ध मे भारतीय वाङ्मय मे कोई विस्तृत या व्यवस्थित वर्णन प्राप्त नही होता। भारतीय धर्म-सम्प्रदायो के विकास, विस्तार तथा विलयक्रम पर शोध करने वाले अनुसन्धित्सु विद्वानो के लिए यह एक महत्त्वपूर्ण विषय है, जिस पर गहन अध्ययन तथा गवेषणा की आवश्यकता है।

वृत्तिकार आचार्य अभयदेवसूरि ने चार यति परिव्राजको का वृत्ति मे जो परिचय दिया है, उसके अनुसार हस परिव्राजक उन्हे कहा जाता था, जो पर्वतो की कन्दराओ मे, पर्वतीय मार्गों पर, आश्रमो मे, देवकुलो—देवस्थानो मे या उद्यानो मे वास करते थे, केवल भिक्षा हेतु गांव मे आते थे। परमहस उन्हे कहा जाता था, जो नदियो के तटो पर, नदियो के सगम-स्थानो पर निवास करते थे, जो देह-त्याग के समय परिधेय वस्त्र, कौपीन (लगोट), तथा कुश—डाभ के बिछौने का परित्याग कर देते थे, वैसा कर प्राण त्यागते थे। जो गाँव मे एक रात तथा नगर मे पाँच रात प्रवास करते थे, प्राप्त भोगो को स्वीकार करते थे, उन्हे बहूदक कहा जाता था। जो गृह मे वास करते हुए क्रोध, लोभ, मोह और अहकार का त्याग किये रहते थे, वे कुटीव्रत या कुटीचर कहे जाते थे।[1]

इस सूत्र मे आठ प्रकार के ब्राह्मण-परिव्राजक तथा आठ प्रकार के क्षत्रिय-परिव्राजको की दो गाथाओ मे चर्चा की गई है। वृत्तिकार ने उनके सम्बन्ध मे केवल इतना-सा सकेत किया—"कण्ड्वादय षोडश परिव्राजका लोकतोऽवसेया."।[2]

अर्थात् इन सोलह परिव्राजको के सम्बन्ध मे लोक से जानकारी प्राप्त करनी चाहिए। ऐसा प्रतीत होता है, वृत्तिकार के समय तक ये परम्पराएँ लगभग लुप्त हो गई थी। इनका कोई साहित्य उपलब्ध नही था।

क्षत्रिय परिव्राजको मे एक शशिधर, या शशिधारक नाम आया है। नाम से प्रतीत होता है, ये कोई ऐसे परिव्राजक रहे हो, जो मस्तक पर चन्द्रमा का आकार या प्रतीक धारण करते हो। आज भी शैवो मे 'जगम' सज्ञक परम्परा के लोग प्राप्त होते हैं, जो अपने आराध्य देव शिव के अनुरूप अपने मस्तक पर सर्प के प्रतीक के साथ-साथ चन्द्र का प्रतीक भी धारण किये रहते हैं। कुछ इसी प्रकार की स्थिति शशिधरो के साथ रही हो। निश्चित रूप से कुछ कहा नही जा सकता।

---

१ औपपातिकसूत्र वृत्ति पत्र ९२

२ औपपातिकसूत्र वृत्ति पत्र ९२

७७—ते णं परिव्वाया रिउव्वेद-यजुव्वेद-सामवेद-अहव्वणवेद-इतिहासपंचमाणं, निघण्टु-छट्ठाणं, संगोवंगाणं सरहस्साणं चउण्हं वेदाणं सारगा पारगा धारगा, सडंगवी, सट्ठितंतविसारया, संखाणे, सिक्खाकप्पे, वागरणे, छंदे, निरुत्ते, जोइसामयणे, अण्णेसु य बहूसु बंभण्णएसु य सत्थेसु परिव्वाएसु य नएसु सुपरिणिट्ठिया यावि होत्था।

७७—वे परिव्राजक ऋक्, यजु, साम, अथर्वण—इन चारो वेदो, पाँचवे इतिहास, छठे निघण्टु के अध्येता थे। उन्हे वेदो का सागोपाग रहस्य बोधपूर्वक ज्ञान था। वे चारो वेदो के सारक—अध्यापन द्वारा सम्प्रवर्तक अथवा स्मारक—औरो को स्मरण कराने वाले, पारग—वेदो के पारगामी, धारक—उन्हें स्मृति मे बनाये रखने मे सक्षम तथा वेदो के छहो अगो के ज्ञाता थे। वे षष्टितन्त्र—मे विशारद या निपुण थे। सख्यान—गणित विद्या, शिक्षा—ध्वनि विज्ञान—वेद मन्त्रो के उच्चारण के विशिष्ट विज्ञान, कल्प—याज्ञिक कर्मकाण्डविधि, व्याकरण—शब्दशास्त्र, छन्द—पिगलशास्त्र, निरुक्त—वैदिक शब्दो के निर्वचनात्मक या व्युत्पत्तिमूलक व्याख्या-ग्रन्थ, ज्योतिष शास्त्र तथा अन्य ब्राह्मण्य—ब्राह्मणो के लिए हितावह शास्त्र अथवा ब्राह्मण-ग्रन्थ—वैदिक कर्मकाण्ड के प्रमुख विषय मे विद्वानो के विचारो के सकलनात्मक ग्रन्थ—इन सब मे सुपरिनिष्ठित-सुपरिपक्व ज्ञानयुक्त होते है।

७८—ते ण परिव्वाया दाणधम्म च सोयधम्म च तित्थाभिसेय च आघवेमाणा, पण्णवेमाणा, परूवेमाणा विहरति। जं ण अम्हं किं चि असुई भवइ, त ण उदएण य मट्टियाए य पक्खालिय सुई भवति। एव खलु अम्हे चोक्खा, चोक्खायारा, सुई, सुइसमायारा भवित्ता अभिसेयजलपूयप्पाणो अविग्घेण सग्गं गमिस्सामो।

७८—वे परिव्राजक दान-धर्म, शौच-धर्म, दैहिक शुद्धि एव स्वच्छतामूलक आचार तीर्थाभिषेक—तीर्थस्थान का जनसमुदाय मे आख्यान करते हुए—कथन करते हुए, प्रज्ञापन करते हुए—विशेष रूप से समझाते हुए, प्ररूपण करते हुए—युक्तिपूर्वक स्थापित या सिद्ध करते हुए विचरण करते हैं। उनका कथन है, हमारे मतानुसार जो कुछ भी अशुचि—अपवित्र प्रतीत हो जाता है, वह मिट्टी लगाकर जल से प्रक्षालित कर लेने पर—धो लेने पर पवित्र हो जाता है। इस प्रकार हम स्वच्छ—निर्मल देह एव वेष युक्त तथा स्वच्छाचार—निर्मल आचार युक्त हैं, शुचि—पवित्र, शुच्याचार—पवित्राचार युक्त हैं, अभिषेक स्नान द्वारा जल से अपने आपको पवित्र कर निर्विघ्नतया स्वर्ग जायेगे।

७९—तेसि ण परिव्वायगाण णो कप्पइ अगड व तलाय वा नइं वा वावि वा पुक्खरिणि वा दीहिय वा गुंजालिय वा सर वा सागर वा ओगाहित्तए, णण्णत्थ अद्धाणगमणेणं। णो कप्पइ सगडं वा जाव (रहं वा जाण वा जुग्ग वा गिल्लि वा थिल्लि वा पवहणं वा सीय वा) सदमाणिय वा दुरूहित्ता ण गच्छित्तए। तेसि ण परिव्वायगाण णो कप्पइ आस वा हत्थि वा उट्ट वा गोण वा महिस वा खर वा दुरूहित्ता णं गमित्तए, णण्णत्थ बलाभिओगेणं। तेसिं णं परिव्वायगाण णो कप्पइ नडपेच्छा इ वा जाव (नट्टगपेच्छा इ वा, जल्लपेच्छा इ वा, मल्लपेच्छा इ वा, मुट्ठियपेच्छा इ वा, वेलबयपेच्छा इ वा पवगपेच्छा इ वा, कहगपेच्छा इ वा, लासगपेच्छा इ वा, आइक्खगपेच्छा इ वा, लंखपेच्छा इ वा, मखपेच्छा इ वा, तूणइल्लपेच्छा इ वा, तुंबवीणियपेच्छा इ वा, भुयगपेच्छा इ वा) मागहपेच्छा इ वा पेच्छित्तए। तेसि परिव्वायगाणं णो कप्पइ हरियाणं लेसणया वा, घट्टणया वा, थंभणया वा लूसणया

वा, उप्पाडणया वा करित्तए। तेसिं परिव्वायगाणं णो कप्पइ इत्थिकहा इ वा, भत्तकहा इ वा, देसकहा इ वा, रायकहा इ वा, चोरकहा इ वा, जणवयकहा इ वा, अणत्थदंडं करित्तए। तेसि णं परिव्वायगाण णो कप्पइ अयपायाणि वा, तउअपायाणि वा, तंबपायाणि वा, जसदपायाणि वा, सीसगपायाणि वा, रुप्पपायाणि वा, सुवण्णपायाणि वा, अण्णयराणि वा बहुमुल्लाणि धारित्तए, णण्णत्थ अलाउपाएण वा दारुपाएण वा मट्टियापाएण वा। तेसि णं परिव्वायगाण णो कप्पइ अयबंधणाणि वा जाव (तउअबंधणाणि वा, तंबबंधणाणि वा, जसदबंधणाणि वा, सीसगबंधणाणि वा, रुप्पबंधणाणि वा, सुवण्णबंधणाणि वा अण्णयराणि वा)। बहुमुल्लाणि धारित्तए। तेसि णं परिव्वायगाणं णो कप्पइ हारं वा, अद्धहारं वा, एगावलिं वा, मुत्तावलिं वा, कणगावलिं वा, रयणावलिं वा, मुरविं वा, कंठमुरविं वा पालंबं वा, तिसरयं वा, कडिसुत्तं वा दसमुद्दिआणंतगं वा, कडयाणि वा, तुडियाणि वा, अंगयाणि वा,केऊराणि वा, कुंडलाणि वा, मउडं वा, चूलामणिं वा पिणद्धित्तए, णण्णत्थ एगेण तंबिएणं पवित्तएणं। तेसि णं परिव्वायगाण णो कप्पइ गंथिमवेढिमपूरिमसंघाइमे चउव्विहे मल्ले धारित्तए, णण्णत्थ एगेणं कण्णपूरेणं। तेसिं णं परिव्वायगाणं णो कप्पइ अगलुएण वा, चदणेण वा, कुंकुमेण वा, गायं अणुलिंपित्तए, णणत्थ एक्काए गंगामट्टियाए।

७९--उन परिव्राजको के लिए मार्ग मे चलते समय के सिवाय अवट—कुए, तालाब, नदी, वापी—बावडी—चतुष्कोण जलाशय, पुष्करिणी—गोलाकार या कमलयुक्त बावडी, दीर्घिका—सारणी-क्यारी, विशाल सरोवर, गुंजालिका—वक्राकार बना तालाब तथा जलाशय मे प्रवेश करना कल्प्य नही है अर्थात् वे मार्ग-गमन के सिवाय इनमे प्रवेश नही करते, ऐसा उनका व्रत है।

शकट—गाडी (रथ, यान, युग्य—पुरातनकालीन गोल्ल देश मे सुप्रसिद्ध दो हाथ लम्बे चौडे डोली जैसे यान, गिल्लि—दो आदमियो द्वारा उठाई जाने वाली एक प्रकार की शिविका, थिल्लि—दो घोडो की बग्घी या दो खच्चरो से खीचा जाता यान, शिविका—पर्देदार पालखी) तथा स्यन्दमानिका—पुरुष-प्रमाण पालखी पर चढकर जाना उन्हे नही कल्पता—उनके लिए यह वर्जित है।

उन परिव्राजको को घोडे, हाथी, ऊँट, बैल, भैसे तथा गधे पर सवार होकर जाना—चलना नही कल्पता—वैसा करना उनके लिए वर्जित है। इसमे बलाभियोग का अपवाद है अर्थात् जबर्दस्ती कोई बैठा दे तो उनकी प्रतिज्ञा खण्डित नही होती।

उन परिव्राजको को नटो—नाटक दिखाने वालो के नाटक, (नर्तको—नाचने वालों के नाच, रस्सी आदि पर चढकर कलाबाजी दिखाने वालो के खेल, पहलवानो की कुश्तिया मौष्टिक या मुक्केबाजो के प्रदर्शन, मसखरो की मसखरिया, कथको के कथालाप, उछलने या नदी आदि के तैरने का प्रदर्शन करने वालो के खेल, वीर रस की गाथाए या रास गाने वालो के वीर गीत, शुभ अशुभ बाते बताने वालो के करिश्मे, बास पर चढकर खेल दिखाने वालो के खेल, चित्रपट दिखाकर आजीविका चलाने वालो की करतूते, तूण नामक तन्तु-वाद्य बजाकर आजीविका कमाने वालो के करतब, पूंगी बजाने वालो के गीत, ताली बजाकर मनोविनोद करने वालो के विनोदपूर्ण उपक्रम) तथा स्तुति-गायको के प्रशस्तिमूलक कार्य-कलाप आदि देखना, सुनना नही कल्पता।

उन परिव्राजको के लिए हरी वनस्पति का स्पर्श करना, उन्हे परस्पर घिसना, हाथ आदि

द्वारा अवरुद्ध करना, शाखाओ, पत्तो आदि को ऊँचा करना या उन्हे मोडना, उखाडना कल्प्य नही है ऐसा करना उनके लिए निषिद्ध है ।

उन परिव्राजको के लिए स्त्री-कथा, भोजन-कथा, देश-कथा, राज-कथा, चोर-कथा, जनपद-कथा, जो अपने लिए एव दूसरो के लिए हानिप्रद तथा निरर्थक है, करना कल्पनीय नही है ।

उन परिव्राजको के लिए तूंबे, काठ तथा मिट्टी के पात्र के सिवाय लोहे, रांगे, तांबे, जसद, शीशे, चाँदी या सोने के पात्र या दूसरे बहुमूल्य धातुओ के पात्र धारण करना कल्प्य नही है ।

उन परिव्राजको को लोहे, (रांगे, ताबे, जसद, शीशे, चाँदी और सोने) के या दूसरे बहुमूल्य बन्ध—इन से बधे पात्र रखना कल्प्य नही है ।

उन परिव्राजको को एक धातु से—गेरू से रगे हुए—गेरुए वस्त्रो के सिवाय तरह-तरह के रगो से रगे हुए वस्त्र धारण करना नही कल्पता ।

उन परिव्राजको को ताबे के एक पवित्रक—अगुलीयक या अगूठी के अतिरिक्त हार, अर्धहार, एकावली, मुक्तावली, कनकावली, रत्नावली, मुखी—हार विशेष, कण्ठमुखी—कण्ठ का आभरण विशेष, प्रालम्ब—लबी माला, त्रिसरक—तीन लडो का हार, कटिसूत्र—करधनी, दशमुद्रिकाएं, कटक—कडे, त्रुटित—तोडे, अगद, केयूर—बाजूबन्द कुण्डल—कर्णभूषण, मुकुट तथा चूडामणि रत्नमय शिरोभूषण—शीर्षफूल धारण करना नही कल्पता ।

उन परिव्राजको को फूलो से बने केवल एक कर्णपूर के सिवाय गूथकर बनाई गई मालाए, लपेट कर बनाई गई मालाए, फूलो को परस्पर सयुक्त कर बनाई मालाए या सहित कर परस्पर एक दूसरे मे उलझा कर बनाई गई मालाए- ये चार प्रकार की मालाए धारण करना नही कल्पता ।

उन परिव्राजको को केवल गगा की मिट्टी के अतिरिक्त अगर, चन्दन या केसर से शरीर को लिप्त करना नही कल्पता ।

८०—तेसि णं परिव्वायगाण कप्पइ मागहए पत्थए जलस्स पडिग्गाहित्तए, से वि य वहमाणे णो चेव ण अवहमाणे, से वि य थिमिओदए, णो चेव णं कद्दमोदए, से वि य बहुप्पसण्णे, णो चेव णं अबहुप्पसण्णे से वि य परिपूए, णो चेव अपरिपूए, से वि य ण दिण्णे, णो चेव णं अदिण्णे, से वि य पिबित्तए, णो चेव णं हत्थ-पाय-चरु चमस-पक्खालणट्ठाए सिणाइत्तए वा ।

तेसि ण परिव्वायगाण कप्पइ मागहए आढए जलस्स पडिग्गाहित्तए, से वि य वहमाणे, णो चेव णं अवहमाणे, (से वि य थिमिओदए, णो चेव ण कद्दमोदए, से वि य बहुप्पसण्णे, णो चेव णं अबहुप्पसण्णे, से वि य परिपूए, णो चेव ण अपरिपूए, से वि य ण दिण्णे, णो चेव.) णं अदिण्णे, से वि य हत्थ-पाय-चरु-चमस-पक्खालणट्ठयाए, णो चेव ण पिबित्तए सिणाइत्तए वा ।

८०—उन परिव्राजको के लिये मगध देश के तोल के अनुसार एक प्रस्थ जल लेना कल्पता है । वह भी बहता हुआ हो, एक जगह बधा हुआ या बन्द नही अर्थात् बहता हुआ एक प्रस्थ-परिमाण जल उनके लिये कल्प्य है, तालाब आदि का बन्द जल नही । वह भी यदि स्वच्छ हो तभी ग्राह्य है, कीचडयुक्त हो तो ग्राह्य नही है । स्वच्छ होने के साथ-साथ वह बहुत प्रसन्न—साफ और निर्मल हो,

तभी ग्राह्य है अन्यथा नही। वह परिपूत—वस्त्र से छाना हुआ हो तो उनके लिए कल्प्य है, अनछाना नही। वह भी यदि दिया गया हो—कोई दाता उन्हे दे, तभी ग्राह्य है, बिना दिया हुआ नही। वह भी केवल पीने के लिए ग्राह्य है, हाथ पैर, चरू—भोजन का पात्र, चमस—काठ की कुडछी या चम्मच धोने के लिए या स्नान करने के लिए नही।

उन परिव्राजको के लिए मागध तोल के अनुसार एक आढक जल लेना कल्पता है। वह भी बहता हुआ हो, एक जगह बधा हुआ या बन्द नही अर्थात् बहती हुई नदी का एक आढक-परिमाण जल उनके जिए कल्प्य है, तालाब आदि का बन्द जल नही। (वह भी यदि स्वच्छ हो तभी ग्राह्य है, कीचड़युक्त हो तो ग्राह्य नही है। स्वच्छ होने के साथ-साथ वह बहुत प्रसन्न—बहुत साफ और निर्मल हो तभी ग्राह्य है अन्यथा नही। वह परिपूत—वस्त्र से छाना हुआ हो तो उनके लिए कल्प्य है, अनछाना नही। वह भी यदि दिया गया हो—कोई दाता उन्हे दे, तभी ग्राह्य है, बिना दिया हुआ नही।) वह भी केवल हाथ, पैर, चरू—भोजन का पात्र, चमस—काठ की कुडछी या चम्मच धोने के लिए ग्राह्य है, पीने के लिए या स्नान करने के लिए नही।

विवेचन—आयुर्वेद के ग्रन्थो मे प्राचीन माप-तोल के सम्बन्ध मे चर्चाएँ है। प्राचीन काल मे मागधमान तथा कलिगमान—दो तरह के माप-तोल प्रचलित थे। मागधमान का अधिक प्रचलन और मान्यता थी। विशेष रूप मगध (दक्षिण बिहार) मे प्रचलित होने के कारण यह मागधमान कहलाता था। शताब्दियो तक मगध प्रशासनिक दृष्टि से उत्तर भारत का मुख्य केन्द्र रहा। अतएव मागधमान का मगध के अतिरिक्त भारत के अन्यान्य प्रदेशो मे भी प्रचलन हुआ। भावप्रकाश मे मान के सम्बन्ध मे विस्तृत चर्चा है।

वहाँ महर्षि चरक को आधार मानकर मागधमान का विवेचन करते हुए परमाणु से प्रारम्भ कर उत्तरोत्तर बढते हुए मानो—परिमाणो की है। वहाँ बतलाया गया है—

"तीस परमाणुओ का एक त्रसरेणु होता है। उसे वशी भी कहा जाता है। जाली मे पडती हुई सूर्य की किरणो मे जो छोटे-छोटे सूक्ष्म रजकण दिखाई देते है, उनमे प्रत्येक की सख्या त्रसरेणु या वशी है। छह त्रसरेणु की एक मरीचि होती है। छह मरीचि की एक राजिका या राई होती है। तीन राई का एक सरसो, आठ सरसो का एक जौ, चार जौ कि एक रत्ती, छह रत्ती का एक मासा होता है। मासे के पर्यायवाची हेम और धानक भी है। चार मासे का एक शाण होता है, धरण और टक इसके पर्यायवाची हैं। दो शाण का एक कोल होता है। उसे क्षुद्रक, वटक एव द्रड्क्षण भी कहा जाता है। दो कोल का एक कर्ष होता है। पाणिमानिक, अक्ष, पिचु, पाणितल, किंचित्पाणि, तिन्दुक, विडाल-पदक, षोडशिका, करमध्य, हसपद, सुवर्ण, कवलग्रह तथा उदुम्बर इसके पर्यायवाची हैं। दो कर्ष का एक अर्धपल (आधा पल) होता है। उसे शुक्ति या अष्टमिक भी कहा जाता है। दो शुक्ति का एक पल होता है। मुष्टि, आम्र, चतुर्थिका, प्रकुच, षोडशी तथा बिल्व भी इसके नाम है। दो पल की एक प्रसृति होती है, उसे प्रसृत भी कहा जाता है। दो प्रसृतियो की एक अजलि होती है। कुडव, अर्ध शरावक तथा अष्टमान भी उसे कहा जाता है। दो कुडव की एक मानिका होती है। उसे शराव तथा अष्टपल भी कहा जाता है। दो शराव का एक प्रस्थ होता है अर्थात् प्रस्थ मे ६४ तोले होते हैं। पहले ६४ तोले का ही सेर माना जाता था, इसलिए प्रस्थ को सेर का पर्यायवाची माना जाता है। चार

प्रस्थ का एक आढक होता है, उसको भाजन, कास्य-पात्र तथा चौसठ पल का होने से चतु:-षष्टिपल भी कहा जाता है।[1]

भावप्रकाश मे आगे बताया गया है कि चार आढक का एक द्रोण होता है। उसको कलश, नल्वण, अर्मण, उन्मान, घट तथा राशि भी कहा जाता है। दो द्रोण का एक शूर्प होता है, उसको कुंभ भी कहा जाता है तथा ६४ शराव का होने से चतुःषष्टि शरावक भी कहा जाता है।[2]

८१—ते णं परिव्वायगा एयारूवेणं विहारेण विहरमाणा बहूइं वासाइं परियायं पाउणंति, बहूइं वासाइं परियायं पाउणित्ता कालमासे कालं किच्चा उक्कोसेण बंभलोए कप्पे देवत्ताए उववत्तारो भवंति। तहिं तेसिं गई, तहिं तेसिं ठिई। दस सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता, सेसं तं चेव।

८१—वे परिव्राजक इस प्रकार के आचार या चर्या द्वारा विचरण करते हुए, बहुत वर्षों तक परिव्राजक-पर्याय का—परिव्राजक-धर्म का पालन करते है। बहुत वर्षों तक वैसा कर मृत्युकाल आने पर देह त्याग कर उत्कृष्ट ब्रह्मलोक कल्प मे देव रूप मे उत्पन्न होते है। तदनुरूप उनकी गति और स्थिति होती है। उनकी स्थिति या आयुष्य दस सागरोपम कहा गया है। अवशेष वर्णन पूर्ववत् है।

---

१ चरकस्य मतं वैद्यैराद्यैर्यस्मान्मतं ततः।
विहाय सर्वमानानि मागधं मानमुच्यते॥
त्रसरेणुर्बुधैः प्रोक्तस्त्रिंशता परमाणुभिः।
त्रसरेणुस्तु पर्यायनाम्ना वंशी निगद्यते॥
जालान्तरगतैः सूर्यकरैर्वंशी विलोक्यते।
षड्वंशीभिर्मरीचिः स्यात्ताभिः षड्भिश्च राजिका॥
तिसृभी राजिकाभिश्च सर्षपः प्रोच्यते बुधैः।
यवोऽष्टसर्षपैः प्रोक्तो गुञ्जा स्यात्तच्चतुष्टयम्॥
षड्भिस्तु रक्तिकाभिः स्यान्माषको हेमधानकौ।
माषैश्चतुर्भिः शाणः स्याद्धरणः स निगद्यते॥
टङ्कः स एव कथितस्तद्द्वयं कोल उच्यते।
क्षुद्रको वटकश्चैव द्रङ्क्षणः स निगद्यते॥
कोलद्वयन्तु कर्षः स्यात्स प्रोक्तः पाणिमानिका।
अक्षः पिचुः पाणितलं किञ्चित्पाणिश्च तिन्दुकम्॥
विडालपदकं चैव तथा षोडशिका मता।
करमध्यो हंसपदं सुवर्णं कवलग्रहः॥
उदुम्बरञ्च पर्यायैः कर्षमेव निगद्यते।
स्यात्कर्षाभ्यामर्द्धपलं शुक्तिरष्टमिका तथा॥
शुक्तिभ्याञ्च पलं ज्ञेयं मुष्टिराम्रं चतुर्थिका।
प्रकुञ्चः षोडशी बिल्वं पलमेवात्र कीर्त्यते॥
पलाभ्यां प्रसृतिर्ज्ञेया प्रसृतञ्च निगद्यते।
प्रसृतिभ्यामञ्जलिः स्यात्कुडवोऽर्द्धशरावकः॥
अष्टमानञ्च स ज्ञेयः कुडवाभ्याञ्च मानिका।
शरावोऽष्टपलं तद्वज्ज्ञेयमत्र विचक्षणैः॥
शरावाभ्यां भवेत्प्रस्थश्चतुःप्रस्थस्तथाऽऽढकः।
भाजनं कास्यपात्रं च चतुःषष्टिपलश्च सः॥

—भावप्रकाश, पूर्व खण्ड द्वितीय भाग, मानपरिभाषा प्रकरण—२-४

२ चतुर्भिराढकैर्द्रोणः कलशो नल्वणोऽर्मणः।
उन्मानञ्च घटो राशिर्द्रोणपर्यायसज्ञितः॥
शूर्पाभ्याञ्च भवेद् द्रोणी वाहो गोणी च सा स्मृता।
द्रोणाभ्यां शूर्पकुम्भौ च चतुःषष्टिशरावकः॥

—भावप्रकाश, पूर्व खण्ड, द्वितीय भाग, मानपरिभाषा प्रकरण १५, १६

अम्बड़ परिव्राजक के सात सौ अन्तेवासी

८२—तेणं कालेणं तेण समएणं अम्मडस्स परिव्वायगस्स सत्त अंतेवासिसयाइं गिम्हकालसमयंसि जेट्ठामूलमासंमि गंगाए महानईए उभओकूलेण कपिल्लपुराओ णयराओ पुरिमतालं णयरं संपट्ठिया विहाराए ।

८२—उस काल—वर्तमान अवसर्पिणी के चौथे आरे के अन्त मे, उस समय—जब भगवान् महावीर सदेह विद्यमान थे, एक बार जब ग्रीष्मऋतु का समय था, जेठ का महीना था, अम्बड परिव्राजक के सात सौ अन्तेवासी—शिष्य गगा महानदी के दो किनारो से काम्पिल्यपुर नामक नगर से पुरिमताल नामक नगर को रवाना हुए ।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र मे काम्पिल्यपुर तथा पुरिमताल नामक दो नगरो का उल्लेख हुआ है ।

काम्पिल्यपुर भारतवर्ष का एक प्राचीन नगर था । महाभारत आदि पर्व (१३७ ७३), उद्योग पर्व (१८९ १३, १९२ १४), शान्ति पर्व (१३९ ५) मे काम्पिल्य का उल्लेख आया है। आदिपर्व तथा उद्योग पर्व के अनुसार यह उस समय के दक्षिण पाचाल प्रदेश का नगर था । यह राजा द्रुपद की राजधानी था । द्रोपदी का स्वयवर यही हुआ था ।

नायाधम्मकहाओ (१६ वे अध्ययन) मे भी पाचाल देश के राजा द्रुपद के यहाँ काम्पिल्यपुर मे द्रौपदी के जन्म आदि का वर्णन है ।

भगवान् महावीर के समय काम्पिल्यपुर अत्यन्त समृद्ध नगर था । भगवान् के देश प्रमुख उपासको मे से एक कु डकौलिक वही का निवासी था, जिसका उपासकदशाग सूत्र के छठे अध्ययन मे वर्णन है ।

इस समय यह बदायू और फर्रु खाबाद के बीच बूढी गगा के किनारे कम्पिल नामक ग्राम के रूप मे विद्यमान है । यह नगर कभी जैनधर्म का प्रमुख केन्द्र था ।

८३—तए णं तेसिं परिव्वायगाण तीसे अगामियाए, छिण्णावायाए, दीहमद्धाए अडवीए कंचि देसंतरमणुपत्ताणं से पुव्वगहिए उदए अणुपुव्वेणं परिभु जमाणे झीणे ।

८३—वे परिव्राजक चलते-चलते एक ऐसे जगल मे पहुँच गये, जहाँ कोई गाँव नही था, न जहाँ व्यापारियो के काफिले, गोकुल—गायो के समूह, उनकी निगरानी करने वाले गोपालक आदि का ही आवागमन था, जिसके मार्ग बडे विकट थे । वे जंगल का कुछ भाग पार कर पाये थे कि चलते समय अपने साथ लिया हुआ पानी पीते-पीते क्रमश समाप्त हो गया ।

८४— तए णं से परिव्वायगा झीणोदगा समाणा तण्हाए पारब्भमाणा उदगदातारमपस्समाणा अण्णमण्णं सद्दावेंति, सद्दावित्ता एवं वयासी—

८४—तब वे परिव्राजक, जिनके पास का पानी समाप्त हो चुका था, प्यास से व्याकुल हो गये । कोई पानी देने वाला दिखाई नही दिया । वे परस्पर एक दूसरे को सबोधित कर कहने लगे—

८५—"एवं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हे इमीसे अगामियाए जाव (छिण्णोवायाए, दीहमद्धाए) अडवीए कंचि देसंतरमणुपत्ताणं से उदए जाव (अणुपुव्वेणं परिभुंजमाणे) झीणे। तं सेयं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हं इमीसे अगामियाए जाव[1] अडवीए उदगदातारस्स सव्वओ समंता मग्गणगवेसणं करित्तए" त्ति कट्टु अण्णमण्णस्स अंतिए एयमट्ठं पडिसुणेंति, पडिसुणित्ता तीसे अगामियाए जाव[2] अडवीए उदगदातारस्स सव्वओ समंता मग्गणगवेसणं करेंति, करित्ता उदगदातारमलभमाणा दोच्चंपि अण्णमण्णं सद्दावेंति, सद्दावेत्ता एवं वयासी--

८५—देवानुप्रियो ! हम ऐसे जगल का, जिसमे कोई गाँव नही है, (जिसमे व्यापारियो के काफिले तथा गोकुल आदि का आवागमन नही है, जिसके रास्ते बडे विकट हैं) कुछ ही भाग पार कर पाये कि हमारे पास जो पानी था, (पीते-पीते क्रमश·) समाप्त हो गया। अत. देवानुप्रियो ! हमारे लिए यही श्रेयस्कर है, हम इस ग्रामरहित वन मे सब दिशाओ में चारों ओर जलदाता की मार्गणा-गवेषणा—खोज करे।

उन्होने परस्पर ऐसी चर्चा कर यह तय किया। ऐसा तय कर उन्होने उस गाँव रहित जंगल मे सब दिशाओ मे चारो ओर जलदाता की खोज की। खोज करने पर भी कोई जलदाता नही मिला। फिर उन्होने एक दूसरे को सबोधित कर कहा—

८६—"इह णं देवाणुप्पिया ! उदगदातारो णत्थि, तं णो खलु कप्पइ अम्हं अदिण्णं गिण्हित्तए, अदिण्णं साइज्जित्तए, तं मा णं अम्हे इयाणिं आवइकालं पि अदिण्णं गिण्हामो, अदिण्णं साइज्जामो, मा णं अम्हं तवलोवे भविस्सइ। तं सेयं खलु अम्हं देवाणुप्पिया ! तिदंडयं कुंडियाओ य, कंचणियाओ य, करोडियाओ य, भिसियाओ य, छण्णालए य, अंकुसए य, केसरियाओ य, पवित्तए य, गणेत्तियाओ य, छत्तए य, वाहणाओ य, पाउयाओ य, धाउरत्ताओ एगंते एडित्ता गंगं महाणइं ओगाहित्ता वालुयासंथारए संथरित्ता संलेहणाझूसियाणं, भत्तपाणपडियाइक्खियाणं, पाओवगयाणं कालं अणवकंखमाणाणं विहरित्तए" त्ति कट्टु अण्णमण्णस्स अंतिए एयमट्ठं पडिसुणेंति, अण्णमण्णस्स अंतिए एयमट्ठं पडिसुणित्ता तिदंडए य जाव (कुंडियाओ य, कंचणियाओ य, करोडियाओ य, भिसियाओ य, छण्णालए य, अंकुसए य, केसरियाओ य, पवित्तए य, गणेत्तियाओ य, छत्तए य, वाहणाओ य, पाउयाओ य, धाउरत्ताओ य) एगंते एडेंति, एडित्ता गंगं महाणइं ओगाहेंति, ओगाहित्ता वालुआसंथारए संथरंति, संथरित्ता वालुयासंथारयं दुरुहिंति, दुरुहित्ता पुरत्थाभिमुहा संपलियंकनिसण्णा करयल जाव[3] कट्टु एवं वयासी—

८६—देवानुप्रियो ! यहाँ कोई पानी देनेवाला नही है। अदत्त—बिना दिया हुआ लेना, सेवन करना हमारे लिए कल्प्य—ग्राह्य नही है। इसलिए हम इस समय आपत्तिकाल में भी अदत्त का ग्रहण न करें, सेवन न करें, जिससे हमारे तप—व्रत का लोप—भग न हो। अतः हमारे लिए यही श्रेयस्कर है कि, हम त्रिदण्ड—तीन दडो या वृक्ष-शाखाओ को एक साथ बाँधकर या मिलाकर बनाया गया एक दड,

---

१. देखें सूत्र यही।

२ देखें सूत्र यही।

३. देखें सूत्र-सख्या ४७।

कुण्डिकाएँ-कमडलु, काञ्चनिकाएँ—रुद्राक्ष-मालाएँ, करोटिकाएँ—मृत्तिका या मिट्टी के पात्र-विशेष, वृषिकाएँ—बैठने की पटड़िया, षण्नालिकाएँ—त्रिकाष्ठिकाएँ, अकुश—देव पूजा हेतु वृक्षो के पत्ते सचीर्ण, संगृहीत करने मे उपयोग मे लेने के अकुश, केशरिकाएँ—प्रमार्जन के निमित्त—सफाई करने, पोछने आदि के उपयोग में लेने योग्य वस्त्र खण्ड, पवित्रिकाएँ—ताबे की अगूठिकाएँ, गणेत्रिकाएँ—हाथो में धारण करने की रुद्राक्ष-मालाएँ—सुमिरिनियाँ, छत्र—छाते, पैरो मे धारण करने की पादुकाएँ, काठ की खड़ाऊएँ, धातुरक्त—गेरू से रगी हुई– गेरुए रग की शाटिकाएँ—धोतियाँ एकान्त मे छोडकर गगा महानदी में (गगा के बालुका भाग मे) बालू का सस्तारक—बिछौना तैयार कर (गगा महानदी को पार कर) सलेखनापूर्वक—देह और मन को तपोमय स्थिति मे सलीन करते हुए—शरीर एव कषायो को—विराधक सस्कारो एव भावो को क्षीण करते हुए आहार-पानी का परित्याग कर, कटे हुए वृक्ष जैसी निश्चेष्टावस्था स्वीकार कर मृत्यु की आकाक्षा न करते हुए सस्थित हो।

परस्पर एक दूसरे से ऐसा कह उन्होने यह तय किया। ऐसा तय कर उन्होने त्रिदण्ड आदि अपने उपकरण एकान्त मे डाल दिये। वैसा कर महानदी गगा मे प्रवेश किया। फिर बालू का सस्तारक तैयार किया। सस्तारक तैयार कर वे उस पर आरूढ—अवस्थित हुए। अवस्थित होकर पूर्वाभिमुख हो पद्मासन मे बैठे। बैठकर दोनो हाथ जोडे और बोले—

८७—"नमोत्थु ण अरहताणं जाव (भगवताणं, आइगराण, तित्थगराणं, सयसबुद्धाणं, पुरिसुत्तमाण, पुरिससीहाणं, पुरिसवरपुडरीयाणं, पुरिसवरगंधहत्थीण, लोगुत्तमाण, लोगनाहाण, लोगहियाणं, लोगपईवाण, लोगपज्जोयगराणं, अभयदयाणं, चक्खुदयाण मग्गदयाण, सरणदयाणं जीवदयाणं, बोहिदयाणं, धम्मदयाणं, धम्मदेसयाणं, धम्मनायगाणं, धम्मसारहीणं, धम्मवरचाउरत-चक्कवट्टीणं, दीवो, ताण, सरणं, गई, पइट्ठा, अप्पडिहयवरनाणदसणधराणं वियट्टछउमाण, जिणाणं, जावयाण, तिण्णाणं, तारयाण, बुद्धाणं, बोहयाणं, मुत्ताणं, मोयगाणं, सव्वण्णूण, सव्वदरिसीणं, सिवमयलमरुयमणंतमक्खयमव्वाबाहमपुणरावत्तगं, सिद्धिगइणामधेज्ज, ठाणं) सपत्ताणं। नमोत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स जाव[1] संपाविउकामस्स, नमोत्थु णं अम्मडस्स परिव्वायगस्स अम्हं धम्मायरियस्स धम्मोवदेसगस्स।

पुव्वि ण अम्हेहिं अम्मडस्स परिव्वायगस्स अतिए थूलगपाणाइवाए पच्चक्खाए जावज्जीवाए, मुसावाए अदिण्णादाणे पच्चक्खाए जावज्जीवाए, सव्वे मेहुणे पच्चक्खाए जावज्जीवाए, थूलए परिग्गहे पच्चक्खाए जावज्जीवाए, इयाणि अम्हे समणस्स भगवओ महावीरस्स अतिए सव्व पाणाइवायं पच्चक्खामो जावज्जीवाए, एव जाव (सव्वं मुसावायं पच्चक्खामो जावज्जीवाए, सव्व अदिण्णादाणं पच्चक्खामो जावज्जीवाए, सव्व मेहुणं पच्चक्खामो जावज्जीवाए) सव्व परिग्गहं पच्चक्खामो जावज्जीवाए, सव्वं कोहं, माणं, मायं, लोहं, पेज्जं, दोस, कलहं, अब्भक्खाणं, पेसुण्णं, परपरिवाय, अरइरइं, मायामोस, मिच्छादंसणसल्लं, अकरणिज्ज जोग पच्चक्खामो जावज्जीवाए, सव्वं असणं, पाणं, खाइमं, साइमं—चउव्विह पि आहारं पच्चक्खामो जावज्जीवाए। जं पि य इमं सरीर इट्ठ, कतं, पियं, मणुण्णं, मणामं, पेज्जं, थेज्जं, वेसासियं, संमयं, बहुमयं, अणुमयं, भंडकरंडगसमाणं, मा णं सीयं, मा ण उण्हं, मा णं खुहा, मा णं पिवासा, मा णं वाला, मा णं चोरा, मा णं दंसा, मा णं मसगा, मा णं वाइयपित्तिय-

१ देखें सूत्र-सख्या २०

संनिवाइयविविहा रोगायंका, परीसहोवसग्गा फुसंतु त्ति कट्टु एयंपि णं चरमेहिं ऊसासणीसासेहिं वोसिरामि" त्ति कट्टु संलेहणाझूसणाझूसिया भत्तपाणपडियाइक्खिया पाओवगया कालं अणवकंखमाणा विहरंति ।

८७—अर्हत्—इन्द्र आदि द्वारा पूजित अथवा कर्मशत्रुओ के नाशक, भगवान्—आध्यात्मिक ऐश्वर्य सम्पन्न, आदिकर—अपने युग मे धर्म के आद्य प्रवर्तक, तीर्थंकर—साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध धर्मतीर्थ—धर्मसघ के प्रवर्तक, स्वयसबुद्ध—स्वय—विना किसी अन्य निमित्त के बोध-प्राप्त, पुरुषोत्तम—पुरुषो मे उत्तम, पुरुषसिंह—आत्मशौर्य मे पुरुषो मे सिंह-सदृश, पुरुषवरपुण्डरीक—सर्व प्रकार की मलिनता से रहित होने के कारण पुरुषो मे श्रेष्ठ श्वेत कमल के समान अथवा मनुष्यो मे रहते हुए कमल की तरह निर्लेप, पुरुषवर-गन्धहस्ती—उत्तम गन्धहस्ती के सदृश—जिस प्रकार गन्धहस्ती के पहुँचते ही सामान्य हाथी भाग जाते हैं, उसी प्रकार किसी क्षेत्र मे जिनके प्रवेश करते ही दुर्भिक्ष, महामारी आदि अनिष्ट दूर हो जाते हैं, अर्थात् अतिशय तथा प्रभावपूर्ण उत्तम व्यक्तित्व के धनी, लोकोत्तम—लोक के सभी प्राणियो मे उत्तम, लोकनाथ—लोक के सभी भव्य प्राणियो के स्वामी—उन्हे सम्यक् दर्शन सन्मार्ग प्राप्त कराकर उनका योग-क्षेम[1] साधने वाले, लोकहितकर—लोक का कल्याण करने वाले, लोकप्रदीप—ज्ञानरूपी दीपक द्वारा लोक का अज्ञान दूर करने वाले अथवा लोकप्रतीप—लोक-प्रवाह के प्रतिकूलगामी—अध्यात्मपथ पर गतिशील, लोकप्रद्योतकर—लोक, अलोक, जीव, अजीव आदि का स्वरूप प्रकाशित करने वाले अथवा लोक मे धर्म का उद्योत फैलाने वाले, अभयदायक—सभी प्राणियो के लिए अभयप्रद—सपूर्णत अहिंसक होने के कारण किसी के लिए भय उत्पन्न नही करने वाले, चक्षुदायक—आन्तरिक नेत्र या सद्ज्ञान देने वाले, मार्गदायक—सम्यक्ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप साधना-पथ के उद्‌बोधक, शरणदायक—जिज्ञासु, मुमुक्षु जनो के लिए आश्रयभूत, जीवनदायक—आध्यात्मिक जीवन के सबल, बोधिदायक—सम्यक् बोध देने वाले, धर्मदायक—सम्यक् चारित्ररूप धर्म के दाता, धर्मदेशक—धर्मदेशना देने वाले, धर्मनायक, धर्मसारथि—धर्मरूपी रथ के चालक, धर्मवर चातुरन्त-चक्रवर्ती—चार अन्त—सीमायुक्त पृथ्वी के अधिपति के समान धार्मिक जगत् के चक्रवर्ती, दीप—दीपक सदृश समस्त वस्तुओ के प्रकाशक अथवा द्वीप—ससार-समुद्र मे डूबते हुए जीवो के लिए द्वीप के समान बचाव के आधार, त्राण—कर्म-कदर्थित भव्य प्राणियो के रक्षक, शरण—आश्रय, गति एव प्रतिष्ठा स्वरूप, प्रतिघात, बाधा या आवरण रहित उत्तम ज्ञान, दर्शन आदि के धारक, व्यावृत्तछद्‌मा—अज्ञान आदि आवरण रूप छद्म से अतीत, जिन—राग आदि के जेता, ज्ञायक—राग आदि भावात्मक सम्बन्धो के ज्ञाता अथवा ज्ञापक—राग आदि को जीतने का पथ बताने वाले, तीर्ण—ससार-सागर को पार कर जाने वाले, तारक—ससार-सागर से पार उतारने वाले, बुद्ध—बोद्धव्य या जानने योग्य का बोध प्राप्त किए हुए, बोधक—औरो के लिए बोधप्रद, सर्वज्ञ सर्वदर्शी, शिव—कल्याणमय, अचल—स्थिर, निरुपद्रव, अन्तरहित, क्षयरहित, बाधारहित, अपुनरावर्तन—जहाँ से फिर जन्म-मरण रूप ससार मे आगमन नही होता, ऐसी सिद्धि-गति—सिद्धावस्था नामक स्थिति प्राप्त किये हुए—सिद्धो को नमस्कार हो ।

भगवान् महावीर को, जो सिद्धावस्था प्राप्त करने के समुद्यत हैं, हमारा नमस्कार हो ।

---

१ अप्राप्तस्य प्रापणं योग —जो प्राप्त नहीं है, उसका प्राप्त होना योग कहा जाता है ।
प्राप्तस्य रक्षण क्षेम —प्राप्त की रक्षा करना क्षेम है ।

हमारे धर्माचार्य, धर्मोपदेशक अम्बड परिव्राजक को नमस्कार हो। पहले हमने अम्बड परिव्राजक के पास—उनके साक्ष्य से स्थूल प्राणातिपात—स्थूल हिंसा, मृषावाद—असत्य, चोरी, सब प्रकार के अब्रह्मचर्य तथा स्थूल परिग्रह का जीवन भर के लिए प्रत्याख्यान—त्याग किया था। इस समय भगवान् महावीर के साक्ष्य से हम सब प्रकार की हिंसा, सब प्रकार के असत्य, सब प्रकार की चोरी, सब प्रकार के अब्रह्मचर्य तथा सब प्रकार के परिग्रह का जीवन भर के लिए त्याग करते हैं।

सब प्रकार के क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रेम—अप्रकट माया व लोभजनित प्रिय या रोचक भाव, द्वेष—अव्यक्त मान व क्रोधजनित अप्रिय या अप्रीति रूप भाव, कलह—लडाई-झगडा, अभ्याख्यान—मिथ्या दोषारोपण, पैशुन्य—चुगली तथा पीठ पीछे किसी के होते—अनहोते दोषो का प्रकटीकरण, परपरिवाद—निन्दा, रति—मोहनीय कर्म के उदय के परिणाम-स्वरूप असंयम में सुख मानना, रुचि दिखाना, अरति—मोहनीय कर्म के उदय के परिणाम-स्वरूप सयम मे अरुचि रखना, मायामृषा—माया या छलपूर्वक झूठ बोलना तथा मिथ्यादर्शन-शल्य—मिथ्या विश्वास रूप कांटे का जीवन भर के लिए त्याग करते हैं।

अकरणीय योग—न करने योग्य मन, वचन तथा शरीर की प्रवृत्ति—क्रिया का जीवन भर के लिए त्याग करते है। अशन—अन्नादि निष्पन्न भोज्य पदार्थ, पान—पानी, खादिम—खाद्य—फल, मेवा आदि पदार्थ, स्वादिम—स्वाद्य—पान, सुपारी, इलायची आदि मुखवासकर पदार्थ—इन चारो का जीवन भर के लिए त्याग करते हैं।

यह शरीर, जो इष्ट—वल्लभ, कान्त—काम्य, प्रिय—प्यारा, मनोज्ञ—सुन्दर, मनाम—मन मे बसा रहने वाला, प्रेय—अतिशय प्रिय, प्रेज्य—विशेष मान्य, स्थैर्यमय—अस्थिर या विनश्वर होते हुए भी अज्ञानवश स्थिर प्रतीत होने वाला, वैश्वासिक—विश्वसनीय, सम्मत—अभिमत, बहुमत—बहुत माना हुआ, अनुमत, गहनो की पेटी के समान प्रीतिकर है, इसे सर्दी न लग जाए, गर्मी न लग जाए, यह भूखा न रह जाए, प्यासा न रह जाय, इसे साप न डस ले, चोर उपद्रुत न करे—कष्ट न पहुँचाए डास न काटे, मच्छर न काटे, वात, पित्त, (कफ) सन्निपात आदि से जनित विविध रोगो द्वारा, तत्काल मार डालने वाली बीमारियो द्वारा यह पीडित न हो, इसे परिषह—भूख, प्यास आदि कष्ट, उपसर्ग—देवादि-कृत सकट न हो, जिसके लिए हर समय ऐसा ध्यान रखते हैं, उस शरीर का हम चरम—अन्तिम उच्छ्वास-निःश्वास तक व्युत्सर्जन करते हैं—उससे अपनी ममता हटाते हैं।

सलेखना द्वारा जिनके शरीर तथा कषाय दोनो ही कृश हो रहे थे, उन परिव्राजको ने आहार-पानी का परित्याग कर दिया। कटे हुए वृक्ष की तरह अपने शरीर को चेष्टा-शून्य बना लिया। मृत्यु की कामना न करते हुए शान्त भाव से वे अवस्थित रहे।

८८—तए णं ते परिव्वाया बहूइं भत्ताइं अणसणाए छेदेंति छेदित्ता आलोइयपडिक्कंता, समाहिपत्ता, कालमासे काल किच्चा बमलोए कप्पे देवत्ताए उववण्णा। तेहिं तेसिं गई, दससागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता, परलोगस्स आराहगा, सेसं तं चेव।

८८—इस प्रकार उन परिव्राजको ने बहुत से भक्त—चारों प्रकार के आहार अनशन द्वारा छिन्न किए—अनशन द्वारा चारो प्रकार के आहारों से सम्बन्ध तोडा अथवा बहुत से भोजन-काल

अनशन द्वारा व्यतीत किये। वैसा कर दोषो की आलोचना की—उनका निरीक्षण-परीक्षण किया, उनसे प्रतिक्रान्त—परावृत्त हुए—हटे, समाधि-दशा प्राप्त की। मृत्यु-समय आने पर देह त्यागकर ब्रह्मलोक कल्प मे वे देव रूप मे उत्पन्न हुए। उनके स्थान के अनुरूप उनकी गति बतलाई गई है। उनका आयुष्य दश सागरोपम कहा गया है। वे परलोक के आराधक हैं। अवशेष वर्णन पहले की तरह है।

विवेचन—सूत्र सख्या ७४ से ८८ के अन्तर्गत जिन तापस साधक, परिव्राजक आदि का वर्णन है, उनके आचार-व्यवहार, जीवन-क्रम तथा साधना-पद्धति का सूक्ष्मता से परिशीलन करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान् महावीर के समय मे, उसके आसपास साधको के कतिपय ऐसे समुदाय भी थे, जिन्हे न तो सर्वथा वैदिक मतानुयायी कहा जा सकता है और न पूर्णत. निर्ग्रन्थ-परम्परा से सम्बद्ध ही। उनके जीवन के कुछ आचार ऐसे थे—जिनका सम्बन्ध वैदिक साधना-पद्धति की किन्ही परम्पराओ से जोडा जा सकता है। उनकी साधना का शौच या बाह्य शुद्धिमूलक क्रम एक ऐसा ही रूप था, जिसका सामीप्य वैदिक धर्म से है। अनशनमय घोर तप, भिक्षा-विधि, अदत्त का ग्रहण आदि कुछ ऐसी स्थितियाँ थी जो जैन साधनापद्धति के सन्निकट हैं। इन साधकों मे कतिपय ऐसे भी थे, जो अन्तत. जैन श्रद्धा स्वीकार कर लेते थे, जैसा अम्बड परिव्राजक के शिष्यो ने किया।

आचार्य हरिभद्रसूरि रचित 'समराइच्च-कहा' आदि उत्तरवर्ती ग्रन्थो मे भी तापस साधको तथा परिव्राजको की चर्चाएँ आई है। लगता है, साधना के क्षेत्र मे एक ऐसी समन्वय-प्रधान पद्धति काफी समय तक चलती रही पर आगे चलकर वह ऐसी लुप्त हुई कि आज उन साधको के विषय मे विशेष कुछ परिज्ञात नही है। उनकी विचारधारा, साधना तथा सिद्धात आदि के सम्बन्ध मे न कोई स्वतन्त्र साहित्य ही प्राप्त है और न कोई अन्यविध ऐतिहासिक सामग्री ही।

धर्म, अध्यात्म, साधना एव दर्शन के क्षेत्र मे अनुसन्धान-रत मनीषी, शोधार्थी, अध्ययनार्थी इस ओर ध्यान दे, गहन अध्ययन तथा गवेषणा करे, अज्ञात एव अप्राप्त तथ्यो को प्राकट्य देने का प्रयत्न करे, यह सर्वथा वाञ्छनीय है।

चमत्कारी अम्बड परिव्राजक

८९—बहुजणे णं भंते ! अण्णमण्णस्स एवमाइक्खइ, एवं भासइ, एवं परूवेइ—एवं खलु अंबडे परिव्वायए कंपिल्लपुरे णयरे घरसए आहारमाहरेइ, घरसए वसहिं उवेइ, से कहमेयं भंते ! एवं ?

८९—भगवन् ! बहुत से लोग एक दूसरे से आख्यात करते हैं—कहते हैं, भाषित करते हैं—विशेष रूप से बोलते हैं, तथा प्ररूपित करते है—ज्ञापित करते हैं—बतलाते हैं कि अम्बड परिव्राजक काम्पिल्यपुर नगर मे सौ घरो मे आहार करता है, सौ घरो मे निवास करता है। अर्थात् एक ही समय मे वह सौ घरो मे आहार करता हुआ तथा सौ घरो मे निवास करता हुआ देखा जाता है। भगवन् ! यह कैसे है ?

९०—गोयमा ! जं णं से बहुजणे अण्णमण्णस्स एवमाइक्खइ जाव (एवं भासइ) एवं परूवेइ—एवं खलु अम्मडे परिव्वायए कंपिल्लपुरे जाव (घरसए आहारमाहरेइ) घरसए वसहिं उवेइ, सच्चे

णं एमट्ठं अहंपि णं गोयमा ! एवमाइक्खामि जाव (भासेमि) एवं परूवेमि, एवं खलु अम्मडे परिव्वायए जाव (कंपिल्लपुरे णयरे घरसए आहारमाहरेइ, घरसए) वसहिं उवेइ।

९०—बहुत से लोग आपस मे एक दूसरे से जो ऐसा कहते है, (बोलते हैं) प्ररूपित करते हैं कि अम्बड परिव्राजक काम्पिल्यपुर मे सौ घरो मे आहार करता है, सौ घरो मे निवास करता है, यह सच है। गौतम ! मैं भी ऐसा ही कहता हूँ, (बोलता हूँ) प्ररूपित करता हू कि अम्बड परिव्राजक यावत् (काम्पिल्यपुर नगर मे एक साथ सौ घरो मे आहार करता हैं, सौ घरो मे) निवास करता है।

९१—से केणट्ठे णं भंते ! एव वुच्चइ—अम्मडे परिव्वायए जाव[1] वसहिं उवेइ ?

९१—अम्बड परिव्राजक के सम्बन्ध मे सौ घरो मे आहार करने तथा सौ घरो मे निवास करने की जो बात कही जाती है, भगवन् ! उसमे क्या रहस्य है ?

९२—गोयमा ! अम्मडस्स णं परिव्वायगस्स पगइभद्दयाए जाव (पगइउवसंतयाए, पगइ-पतणुकोहमाणमायालोहयाए, मिउमद्दवसंपण्णयाए अल्लीणयाए,) विणीययाए छट्ठंछट्ठेणं अनिक्खित्तेणं तवोकम्मेण उड्ढं बाहाओ पगिज्झिय पगिज्झिय सूराभिमुहस्स आयावणभूमीए आयावेमाणस्स सुभेणं परिणामेणं, पसत्थेहिं अज्झवसाणेहिं, पसत्थाहिं लेसाहिं विसुज्झमाणीहिं अन्नया कयाइ तदावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमेणं ईहावूहामग्गणगवेसणं करेमाणस्स वीरियलद्धीए, वेउव्वियलद्धीए, ओहिणाण-लद्धीए समुप्पण्णाए जणविम्हावणहेउं कंपिल्लपुरे णगरे घरसए जाव[2] वसहिं उवेइ। से तेणट्ठेणं गोयमा ! एव वुच्चई—अम्मडे परिव्वायए कंपिल्लपुरे णगरे घरसए जाव[3] वसहिं उवेइ।

९२—गौतम ! अम्बड प्रकृति से भद्र—सौम्यव्यवहारशील—परोपकारपरायण एव शान्त है। वह स्वभावत क्रोध, मान, माया, एव लोभ की प्रतनुता—हलकापन लिए हुए है—इनको उग्रता से रहित है। वह मृदुमार्दवसम्पन्न—अत्यन्त कोमल स्वभावयुक्त—अहंकाररहित, आलीन—गुरुजनो का आज्ञापालक तथा विनयशील है। उसके बेले बेले का—दो दो दिनो का उपवास करते हुए, अपनी भुजाएँ ऊँची उठाये, सूरज के सामने मुँह किए आतापना-भूमि मे आतापना लेते हुए तप का अनुष्ठान किया। फलत. शुभ परिणाम—पुण्यात्मक अन्त परिणति, प्रशस्त अध्यवसाय—उत्तम मन. सकल्प, विशुद्ध होती हुई प्रशस्त-लेश्याओ—पुद्गल द्रव्य के ससर्ग से होने वाले आत्मपरिणामो या विचारो के कारण, उसके वीर्य-लब्धि, वैक्रिय-लब्धि तथा अवधिज्ञान-लब्धि के आवरक कर्मों का क्षयोपशम हुआ। ईहा—यह क्या है, यों है या दूसरी तरह से है, इस प्रकार सत्य अर्थ के आलोचन मे अभिमुख बुद्धि, अपोह—यह इसी प्रकार है, ऐसी निश्चयात्मक बुद्धि, मार्गण—अन्वयधर्मोन्मुख चिन्तन—अमुक के होने पर अमुक होता है, ऐसा चिन्तन, गवेषण—व्यतिरेकधर्मोन्मुख चिन्तन—अमुक के न होने पर अमुक नही होता, ऐसा चिन्तन करते हुए उसको किसी दिन वीर्य-लब्धि—विशेष शक्ति, वैक्रिय-लब्धि—अनेक रूप बनाने का सामर्थ्य तथा अवधिज्ञानलब्धि—अतीन्द्रिय रूपी पदार्थों को सीधे आत्मा द्वारा जानने की योग्यता प्राप्त हो गई। अतएव जन-विस्मापन हेतु—लोगो को आश्चर्य-चकित करने के लिए इनके द्वारा वह काम्पिल्यपुर में एक ही समय मे सौ घरो मे आहार

---

१. देखें सूत्र-सख्या ९०

२-३. देखें सूत्र-संख्या ९०

करता है, सौ घरो मे निवास करता है। गौतम! वस्तुस्थिति यह है। इसीलिए अम्बड परिव्राजक के द्वारा काम्पिल्यपुर मे सौ घरो मे आहार करने तथा सौ घरो मे निवास करने की बात कही जाती है।

९३—पहू ण भंते! अम्मडे परिव्वायए देवाणुप्पियाणं अंतिए मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए?

९३—भगवान्! क्या अम्बड परिव्राजक आपके पास मुण्डित होकर—दीक्षित होकर अगार-अवस्था से अनगार-अवस्था—महाव्रतमय श्रमण-जीवन प्राप्त करने मे समर्थ है?

९४—णो इणट्ठे समट्ठे, गोयमा! अम्मडे परिव्वायए समणोवासए अभिगयजीवाजीवे जाव (उवलद्धपुण्णपावे, आसव-संवर-निज्जर-किरिया-अहिगरण-बंध-मोक्ख-कुसले, असेहज्जे, देवासुर-णाग-सुवण्ण-जक्ख-रक्खस-किण्णर-किंपुरिस-गरुल-गंधव्व-महोरगाइएहिं देवगणेहिं निग्गंथाओ पावयणाओ अणइक्कमणिज्जे, निग्गंथे पावयणे णिस्संकिए, णिक्कंखिए, निव्वितिगिच्छे, लद्धट्ठे, गहियट्ठे, पुच्छियट्ठे, अभिगयट्ठे, विणिच्छियट्ठे, अट्ठिमिंजपेमाणुरागरत्ते, अयमाउसो! निग्गंथे पावयणे अट्ठे अय परमट्ठे, सेसे अणट्ठे, चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठ-पुण्णमासीणीसु पडिपुण्णं पोसहं सम्मं अणुपालेत्ता समणे निग्गंथे फासुएसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं, वत्थपडिग्गहकंबलपायपुंछणेणं, ओसहभेसज्जेण पाडिहारिएण य पीढफलगसेज्जासंथारएण पडिलाभेमाणे) अप्पाणं भावेमाणे विहरइ, णवरं ऊसिय-फलिहे, अवंगुयदुवारे, चियत्तंतेउरघरदारपवेसी, एयं ण वुच्चइ।

९४—गौतम! ऐसा संभव नही है—वह अनगार धर्म मे दीक्षित नही होगा। अम्बड परि-व्राजक श्रमणोपासक है, जिसने जीव, अजीव आदि पदार्थों के स्वरूप को अच्छी तरह समझ लिया है, (पुण्य और पाप का भेद जान लिया है, आस्रव, सवर, निर्जरा, क्रिया, अधिकरण—जिसके आधार से क्रिया की जाए, बन्ध एव मोक्ष को जो भलीभाति अवगत कर चुका है, जो किसी दूसरे की सहायता का अनिच्छुक है—आत्म-निर्भर है, जो देव, असुर, नाग, सुपर्ण, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किंपुरुष, गरुड, गन्धर्व, महोरग आदि देवताओ द्वार निर्ग्रन्थ-प्रवचन से अनतिक्रमणीय—न विचलित किए जा सकने योग्य है, निर्ग्रन्थ-प्रवचन मे जो नि शंक—शका रहित, निष्काक्ष—आत्मोत्थान के सिवाय अन्य आकाक्षा-रहित, निर्विचिकित्स—सशय-रहित, लब्धार्थ—धर्म के यथार्थ तत्त्व को प्राप्त किये हुए, गृहीतार्थ—उसे ग्रहण किये हुए, पृष्टार्थ—जिज्ञासा या प्रश्न द्वारा उसे स्थिर किये हुए, अभिगतार्थ—स्वायत्त किये हुए, विनिश्चितार्थ—निश्चित रूप मे आत्मसात् किये हुए है एव जो अस्थि और मज्जा पर्यन्त धर्म के प्रति प्रेम व अनुराग से भरा है, जिसका यह निश्चित विश्वास है कि यह निर्ग्रन्थ प्रवचन ही अर्थ—प्रयोजनभूत है, इसके सिवाय अन्य अनर्थ—अप्रयोजनभूत है, चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या तथा पूर्णिमा को जो परिपूर्ण पोषध का अच्छी तरह अनुपालन करता हुआ, श्रमण-निर्ग्रन्थो को प्रासुक—अचित्त या निर्जीव, एषणीय—उन द्वारा स्वीकार करने योग्य—निर्दोष, अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य आहार, वस्त्र, पात्र, कम्बल, पाद-प्रोञ्छन, औषध, भेषज, प्रातिहारिक—लेकर वापस लौटा देने योग्य वस्तु पाट, बाजोट, ठहरने का स्थान, बिछाने के लिए घास आदि द्वारा श्रमण-निर्ग्रन्थो को प्रतिलाभित करता हुआ आत्मभावित है।

विशेष यह है—उच्छ्रित-स्फटिक—जिसके घर के किवाडो में आगल नही लगी रहती हो, अपावृतद्वार—जिसके घर का दरवाजा कभी बन्द नही रहता हो, त्यक्तान्त पुर गृह द्वार प्रवेश—शिष्ट जनों के आवागमन के कारण घर के भीतरी भाग मे उनका प्रवेश जिसे अप्रिय नही लगता हो—प्रस्तुत पाठ के साथ आने वाले ये तीन विशेषण यहाँ प्रयोज्य नही हैं—लागू नही होते। क्योंकि अम्बड परिव्राजक-पर्याय से श्रमणोपासक हुआ था, गृही से नही, वह स्वय भिक्षु था। उसके घर था ही नही। ये विशेषण अन्य श्रमणोपासको के लिए लागू होते हैं।

९५—अम्मडस्स णं परिव्वायगस्स थूलए पाणाइवाए पच्चक्खाए जावज्जीवाए जाव (थूलए मुसावाए, थूलए अदिण्णादाणे, थूलए) परिग्गहे णवरं सव्वे मेहुणे पच्चक्खाए जावज्जीवाए।

९५—किन्तु अम्बड परिव्राजक ने जीवनभर के लिए स्थूल प्राणातिपात—स्थूल हिंसा (स्थूल मृषावाद—स्थूल असत्य, स्थूल अदत्तादान—स्थूल चौर्य, स्थूल), परिग्रह तथा सभी प्रकार के अब्रह्मचर्य का प्रत्याख्यान है।

९६—अम्मडस्स णं परिव्वायगस्स णो कप्पइ अक्खसोयप्पमाणमेत्तंपि जलं सयराहं उत्तरित्तए, णण्णत्थ अद्धाणगमणेणं। अम्मडस्स णं णो कप्पइ सगडं वा एवं तं चेव भाणियव्वं णण्णत्थ एगाए गंगामट्टियाए। अम्मडस्स णं परिव्वायगस्स णो कप्पइ आहाकम्मिए वा, उद्देसिए वा, मीसजाए इ वा, अज्झोयरए इ वा, पूइकम्मे इ वा, कीयगडे इ वा, पामिच्चे इ वा, अणिसिट्ठे इ वा, अभिहडे इ वा, ठइत्तए वा, रइत्तए वा, कंतारभत्ते इ वा, दुब्भिक्खभत्ते इ वा, गिलाणभत्ते इ वा, वद्दलियाभत्ते इ वा, पाहुणगभत्ते इ वा, भोत्तए वा, पाइत्तए वा। अम्मडस्स णं परिव्वायगस्स णो कप्पइ मूलभोयणे वा जाव (कंदभोयणे, फलभोयणे, हरियभोयणे, पत्तभोयणे) बीयभोयणे वा भोत्तए वा पाइत्तए वा।

९६—अम्बड परिव्राजक को मार्गगमन के अतिरिक्त गाडी की धुरी-प्रमाण जल मे भी शीघ्रता से उतरना नही कल्पता। अम्बड परिव्राजक को गाडी आदि पर सवार होना नही कल्पता। यहाँ से लेकर गगा की मिट्टी के लेप तक का समग्र वर्णन पहले आये वर्णन के अनुरूप समझ लेना चाहिए।

अम्बड परिव्राजक को आधाकर्मिक तथा औद्देशिक—छह काय के जीवो के उपमर्दनपूर्वक साधु के निमित्त बनाया गया भोजन, मिश्रजात—साधु तथा गृहस्थ दोनो के उद्देश्य से तैयार किया गया भोजन, अध्यवपूर—साधु के लिए अधिक मात्रा मे निष्पादित भोजन, पूतिकर्म—आधाकर्मी आहार के अश से मिला हुआ भोजन, क्रीतकृत—खरीदकर लिया गया भोजन, प्रामित्य—उधार लिया हुआ भोजन, अनिसृष्ट—गृह-स्वामी या घर के मुखिया को बिना पूछे दिया जाता भोजन, अभ्याहृत—साधु के सम्मुख लाकर दिया जाता भोजन, स्थापित—अपने लिए पृथक् रखा हुआ भोजन, रचित—एक विशेष प्रकार का उद्दिष्ट—अपने लिए सस्कारित भोजन, कान्तारभक्त—जगल पार करते हुए घर से अपने पाथेय के रूप मे लिया हुआ भोजन, दुर्भिक्षभक्त—दुर्भिक्ष के समन भिक्षुओ तथा अकाल-पीड़ितो के लिए बनाया हुआ भोजन, ग्लानभक्त—बीमार के लिए बनाया हुआ भोजन अथवा स्वयं बीमार होते हुए आरोग्य हेतु दान रूप मे दिया जाने वाला भोजन, वार्दलिकभक्त—बादल आदि से घिरे दिन में—दुर्दिन मे दरिद्र जनों के लिए तैयार किया गया भोजन, प्राघूर्णक-भक्त—अतिथियों—पाहुनों के लिए तैयार किया हुआ भोजन अम्बड परिव्राजक को खाना-पीना नही कल्पता।

इसी प्रकार अम्बड परिव्राजक को मूल, (कन्द, फल, हरे तृण,) बीजमय भोजन खाना-पीना नही कल्पता ।

९७—अम्मडस्स णं परिव्वायगस्स चउव्विहे अणट्ठदंडे पच्चक्खाए जावज्जीवाए । तं जहा—अवज्झाणायरिए, पमायायरिए, हिंसप्पयाणे, पावकम्मोवएसे ।

९७—अम्बड परिव्राजक ने चार प्रकार के अनर्थदण्ड—बिना प्रयोजन हिंसा तथा तन्मूलक अशुभ कार्यों का परित्याग किया । वे इस प्रकार है—१ अपध्यानाचरित, २ प्रमादाचरित, ३ हिंस्र-प्रदान, ४ पापकर्मोपदेश ।

विवेचन—बिना किसी उद्देश्य के जो हिंसा की जाती है, उसका समावेश अनर्थदड मे होता है । यद्यपि हिंसा तो हिंसा ही है, पर जो लौकिक दृष्टि से आवश्यकता या प्रयोजनवश की जाती है, उसमे तथा निरर्थक की जाने वाली हिंसा मे बडा भेद है । आवश्यकता या प्रयोजनवश हिंसा करने को जब व्यक्ति बाध्य होता है तो उसकी विवशता देखते उसे व्यावहारिक दृष्टि से क्षम्य भी माना जा सकता है पर प्रयोजन या मतलब के बिना हिंसा आदि का आचरण करना सर्वथा अनुचित है । इसलिए उसे अनर्थदड कहा जाता है । प्रस्तुत सूत्र मे सूचित चार प्रकार के अनर्थदड की सक्षिप्त व्याख्या इस प्रकार है—

अपध्यानाचरित—अपध्यानाचरित का अर्थ है दुश्चिन्तन । दुश्चिन्तन भी एक प्रकार से हिंसा ही है। वह आत्मगुणो का घात करता है। दुश्चिन्तन दो प्रकार का है—आर्त्तध्यान तथा रौद्रध्यान । अभीप्सित वस्तु, जैसे धन-सपत्ति, सतति, स्वस्थता आदि प्राप्त न होने पर एव दारिद्र्य, रुग्णता, प्रियजन का विरह आदि अनिष्ट स्थितियो के होने पर मन मे जो क्लेशपूर्ण विकृत चिन्तन होता है, वह आर्त्तध्यान है। क्रोधावेश, शत्रु-भाव और वैमनस्य आदि से प्रेरित होकर दूसरे को हानि पहुँचाने आदि की बात सोचते रहना रौद्रध्यान है । इन दोनो तरह से होने वाला दुश्चिन्तन अपध्यानाचरित रूप अनर्थदड है ।

प्रमादाचरित—अपने धर्म, दायित्व व कर्तव्य के प्रति अजागरूकता प्रमाद है । ऐसा प्रमादी व्यक्ति अक्सर अपना समय दूसरो की निन्दा करने मे, गप्प मारने मे, अपने बडप्पन की शेखी बघारते रहने मे, अश्लील बातें करने में बिताता है । इनसे सम्बद्ध मन, वचन तथा शरीर के विकार प्रमादा-चरित मे आते हैं ।

हिंस्र-प्रदान—हिंसा के कार्यों मे साक्षात् सहयोग करना, जैसे चोर, डाकू तथा शिकारी आदि को हथियार देना, आश्रय देना तथा दूसरो तरह से सहायता करना । ऐसा करने से हिंसा को प्रोत्साहन और सहारा मिलता है, अत यह अनर्थदड है ।

पापकर्मोपदेश—औरो को पाप-कार्य मे प्रवृत्त होने मे प्रेरणा, उपदेश या परामर्श देना । उदाहरणार्थ, किसी शिकारी को यह बतलाना कि अमुक स्थान पर शिकार-योग्य पशु-पक्षी उसे प्राप्त होगे, किसी व्यक्ति को दूसरो को तकलीफ देने के लिए उत्तेजित करना, पशु-पक्षियो को पीडित करने के लिए लोगो को दुष्प्रेरित करना—इन सबका पाप-कर्मोपदेश मे समावेश है ।

९८—अम्मडस्स कप्पइ मागहए अद्धाढए जलस्स पडिग्गाहित्तए, से वि य वहमाणए, णो चेव णं अवहमाणए जाव (से वि य थिमिओदए, णो चेव णं कद्दमोदए, से वि य बहुप्पसण्णे, णो चेव णं

अबहुप्पसण्णे) से वि य परिपूए, णो चेव णं अपरिपूए, से वि य सावज्जे त्ति काउं णो चेव णं अणवज्जे, से वि य जीवा ति काउ, णो चेव णं अजीवा, से वि य दिण्णे, णो चेव णं अदिण्णे, से वि य हत्थपाय-चरुचमसपक्खालणट्ठयाए पिबित्तए वा, णो चेव णं सिणाइत्तए। अम्मडस्स कप्पइ मागहए य आढए जलस्स पडिग्गाहित्तए, से वि य वहमाणए जाव[1] णो चेव णं अदिण्णे, से वि य सिणाइत्तए णो चेव णं हत्थपायचरुचमसपक्खालणट्ठयाए पिबित्तए वा।

९८—अम्बड को मागधमान (मगध देश के तोल) के अनुसार आधा आढक जल लेना कल्पता है। वह भी प्रवहमान—बहता हुआ हो, अप्रवहमान—न बहता हुआ नही हो। (वह भी यदि स्वच्छ हो, तभी ग्राह्य है, कीचड युक्त हो तो ग्राह्य नही है। स्वच्छ होने के साथ-साथ वह बहुत प्रसन्न—बहुत साफ और निर्मल हो, तभी ग्राह्य है, अन्यथा नही।) वह परिपूत—वस्त्र से छाना हुआ हो तो कल्प्य है, अनछाना नही। वह भी सावद्य—अवद्य या पाप महित समझकर, निरवद्य समझकर नहीं। सावद्य भी वह उसे सजीव—जीव सहित समझकर ही लेता है, अजीव—जीव रहित समझकर नही। वैसा जल भी दिया हुआ हो कल्पता है, न दिया हुआ नही। वह भी हाथ, पैर, चरु—भोजन का पात्र, चमस—काठ की कुडछी—चम्मच धोने के लिए या पीने के लिए ही कल्पता है, नहाने के लिए नही।

अम्बड को मागधमान के अनुसार एक आढक पानी लेना कल्पता है। वह भी बहता हुआ, यावत् दिया हुआ ही कल्पता है, बिना दिया नही। वह भी स्नान के लिए कल्पता है, हाथ, पैर, चरु, चमस, धोने के लिए या पीने के लिए नही।

९९—अम्मडस्स णो कप्पइ अण्णउत्थिया वा, अण्णउत्थियदेवयाणि वा, अण्णउत्थियपरिग्गहियाणि वा चेइयाइ वंदित्तए वा, णमंसित्तए वा, जाव (सक्कारित्तए वा, सम्माणित्तए वा,) पज्जुवासित्तए वा, णण्णत्थ अरिहंते वा अरिहंतचेइयाइ वा।

९९—अर्हत् या अर्हत्-चैत्यो के अतिरिक्त अम्बड को अन्ययूथिक—निर्ग्रन्थ-धर्मसघ के अतिरिक्त अन्य सघो से सम्बद्ध पुरुष, उनके देव, उन द्वारा परिगृहीत—स्वीकृत चैत्य[2]—उन्हे वन्दन करना, नमस्कार करना, (उनका सत्कार करना, सम्मान करना या) उनकी पर्युपासना करना नही कल्पता।

अम्बड के उत्तरवर्ती भव

१००—अम्मडे ण भते! परिव्वायए कालमासे कालं किच्चा कहिं गच्छिहिति? कहिं उववज्जिहिति?

गोयमा! अम्मडे ण परिव्वायए उच्चावएहिं सीलव्वयगुणवेरमणपच्चक्खाणपोसहोववासेहिं अप्पाणं भावेमाणे बहूइं वासाइं समणोवासयपरियायं पाउणिहिति, पाउणित्ता मासियाए सलेहणाए अप्पाणं झूसित्ता, सट्ठिं भत्ताइ अणसणाए छेदित्ता, आलोइयपडिक्कते, समाहिपत्ते कालमासे कालं

---

१. देखें सूत्र-सख्या ८०।

२ सूत्र-सख्या २ के विवेचन मे चैत्य की विस्तृत व्याख्या है, जो द्रष्टव्य है।

किच्चा बंभलोए कप्पे देवत्ताए उववज्जिहिति। तत्थ णं प्रत्थेगइयाणं देवाणं दस सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता। तत्थ णं अम्मडस्स वि देवस्स दस सागरोवमाइं ठिई।

१००—भगवन्! अम्बड परिव्राजक मृत्यु-काल आने पर देह-त्याग कर कहाँ जायेगा? कहाँ उत्पन्न होगा?

गौतम! अम्बड परिव्राजक उच्चावच—उत्कृष्ट-अनुत्कृष्ट—विशेष-सामान्य शीलव्रत, गुणव्रत, विरमण—विरति, प्रत्याख्यान—त्याग एव पोषधोपवास द्वारा आत्मभावित होता हुआ—आत्मोन्मुख रहता हुआ बहुत वर्षों तक श्रमणोपासक-पर्याय—गृहि-धर्म या श्रावक-धर्म का पालन करेगा। वैसा कर एक मास की सलेखना और साठ भोजन—एक मास का अनशन सम्पन्न कर, आलोचना, प्रतिक्रमण कर, मृत्यु-काल आने पर वह समाधिपूर्वक देह-त्याग करेगा। देह-त्याग कर वह ब्रह्मलोक कल्प मे देवरूप मे उत्पन्न होगा। वहाँ अनेक देवो की आयु-स्थिति दश सागरोपम-प्रमाण बतलाई गई। अम्बड देव का भी आयुष्य दश सागरोपम-प्रमाण होगा।

१०१—सेण भंते! अम्मडे देवे ताओ देवलोगाओ आउक्खएण, भवक्खएणं, ठिइक्खएणं, अणंतर चयं चइत्ता कहिं गच्छिहिति, कहिं उववज्जिहिति?

१०१—भगवन्! अम्बड देव अपना आयु-क्षय, भव-क्षय, स्थिति-क्षय होने पर उस देवलोक से च्यवन कर कहाँ जायेगा? कहाँ उत्पन्न होगा?

१०२—गोयमा! महाविदेहे वासे जाइ कुलाइ भवंति—अड्ढाइ, दित्ताइं, वित्ताइं वित्थिण्ण-विउल भवण-सयणासण-जाण-वाहणाइं, बहुधण-जायरूव-रययाइं, आओगपओगसंपउत्ताइं विच्छड्डिय-पउरभत्तपाणाइं, बहुदासीदासगोमहिसगवेलगप्पभूयाइं, बहुजणस्स अपरिभूयाइं, तहप्पगारेसु कुलेसु पुमत्ताए पच्चायाहिति।

१०२—गौतम! महाविदेह क्षेत्र मे ऐसे जो कुल है यथा—धनाढ्य, दीप्त—दीप्तिमान्, प्रभावशाली या दृप्त—स्वाभिमानी, सम्पन्न, भवन, शयन—ओढने-बिछाने के वस्त्र, आसन—बैठने के उपकरण, यान—माल-असबाब ढोने की गाडियाँ, वाहन—सवारियाँ आदि विपुल साधन-सामग्री तथा सोना, चाँदी, सिक्के आदि प्रचुर धन के स्वामी होते हैं। वे आयोग-प्रयोग-सप्रवृत्त—व्यावसायिक दृष्टि से धन के सम्यक् विनियोग और प्रयोग मे निरत—नीतिपूर्वक द्रव्य के उपार्जन मे सलग्न होते हैं। उनके यहाँ भोजन कर चुकने के बाद भी खाने-पीने के बहुत पदार्थ बचते हैं। उनके घरो मे बहुत से नौकर, नौकरानियाँ, गाये, भैसे, बैल, पाडे, भेड-बकरियाँ आदि होते हैं। वे लोगो द्वारा अपरिभूत—अतिरस्कृत होते हैं—इतने रोबीले होते हैं कि कोई उनका परिभव—तिरस्कार या अपमान करने का साहस नही कर पाता। अम्बड (देव) ऐसे कुलो मे से किसी एक मे पुरुषरूप में उत्पन्न होगा।

१०३—तए णं तस्स दारगस्स गब्भत्थस्स चेव समाणस्स अम्मापिईणं धम्मे दढा पइण्णा भविस्सइ।

१०३—अम्बड शिशु के रूप में जब गर्भ मे आयेगा, (उसके पुण्य-प्रभाव से) माता-पिता की धर्म में आस्था दृढ होगी।

१०४—से णं तत्थ णवण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं अद्धट्ठमाणराइंदियाणं वीइक्कंताणं सुकुमालपाणिपाए, जाव (अहीणपडिपुण्णपंचिंदियसरीरे, लक्खणवंजणगुणोववेए, माणुम्माणप्पमाणपडिपुण्णसुजायसव्वंगसुंदरंगे,) ससिसोमाकारे, कंते, पियदंसणे, सुरूवे दारए पयाहिति।

१०४—नौ महीने साढे सात दिन व्यतीत होने पर बच्चे का जन्म होगा। उसके हाथ-पैर सुकोमल होगे। उसके शरीर की पाँचो इन्द्रियाँ अहीन-प्रतिपूर्ण—रचना की दृष्टि से अखण्डित एव सम्पूर्ण होगी। वह उत्तम लक्षण—सौभाग्यसूचक हाथ की रेखाएँ आदि, व्यजन—उत्कर्षसूचक तिल, मस आदि चिह्न तथा गुणयुक्त होगा। दैहिक फैलाव, वजन, ऊँचाई आदि की दृष्टि से वह परिपूर्ण, श्रेष्ठ तथा सर्वांगसुन्दर होगा। उसका आकार चन्द्र के सदृश सौम्य होगा। वह कान्तिमान्, देखने मे प्रिय एवं सुरूप होगा।

१०५—तए णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो पढमे दिवसे ठिइवडियं काहिंति, बिइयदिवसे चंदसूरदंसणियं काहिंति, छट्ठे दिवसे जागरियं काहिंति, एक्कारसमे दिवसे वीइक्कंते णिव्वत्ते असुइजायकम्मकरणे संपत्ते बारसाहे दिवसे अम्मापियरो इमं एयारूवं गोण्णं, गुणणिप्फण्णं णामधेज्जं काहिंति—जम्हा णं अम्हं इमंसि दारगंसि गब्भत्थंसि चेव समाणंसि धम्मे दढपइण्णा तं होउ णं अम्हं दारए 'दढपइण्णे' णामेणं। तए णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो णामधेज्जं करेहिंति दढपइण्णत्ति।

१०५—तत्पश्चात् माता-पिता पहले दिन उस बालक का कुलक्रमागत पुत्रजन्मोचित अनुष्ठान करेगे। दूसरे दिन चन्द्र-सूर्य-दर्शनिका नामक जन्मोत्सव करेगे। छठे दिन जागरिका—रात्रि-जागरिका करेगे। ग्यारहवे दिन वे अशुचि-शोधन-विधान से निवृत्त होगे। इस बालक के गर्भ मे आते ही हमारी धार्मिक आस्था दृढ हुई थी, अत यह 'दृढप्रतिज्ञ' नाम से सम्बोधित किया जाय, यह सोचकर माता-पिता बारहवे दिन बालक का 'दृढप्रतिज्ञ'—यह गुणानुगत, गुणनिष्पन्न नाम रखेगे।

१०६—तं दढपइण्णं दारगं अम्मापियरो साइरेगट्ठवासजायगं जाणित्ता सोभणंसि तिहि-करण-दिवस-णक्खत्त-मुहुत्तंसि कलायरियस्स उवणेहिंति।

१०६—माता-पिता यह जानकर कि अब बालक आठ वर्ष से कुछ अधिक का हो गया है, उसे शुभ-तिथि, शुभ करण, शुभ दिवस, शुभ नक्षत्र एव शुभ मुहूर्त मे शिक्षण हेतु कलाचार्य के पास ले जायेगे।

१०७—तए णं से कलायरिए तं दढपइण्णं दारगं लेहाइयाओ, गणियप्पहाणाओ, सउणरुयपज्जवसाणाओ बावत्तरिकलाओ सुत्तओ य अत्थओ य करणओ य सेहाविहिति, सिक्खाविहिति, तं जहा—लेहं, गणियं, रूवं, णट्टं, गीयं, वाइयं, सरगयं, पुक्खरगयं, समतालं, जूयं, जणवायं, पासगं, अट्ठावयं, पोरेकच्चं दगमट्टियं, अण्णविहिं, पाणविहिं, वत्थविहिं, विलेवणविहिं, सयणविहिं, अज्जं, पहेलियं, मागहियं, गाहं, गीइयं, सिलोयं, हिरण्णजुत्तिं, सुवण्णजुत्तिं, गंधजुत्तिं, चुण्णजुत्तिं, आभरणविहिं, तरुणीपडिकम्मं, इत्थिलक्खणं, पुरिसलक्खणं, हयलक्खणं, गयलक्खणं, गोणलक्खणं, कुक्कुडलक्खणं, चक्कलक्खणं, छत्तलक्खणं, चम्मलक्खणं, दंडलक्खणं, असिलक्खणं, मणिलक्खणं, कागणिलक्खणं, वत्थुविज्जं, खंधारमाणं, नगरमाणं, वत्थुनिवेसणं, वूहं, पडिवूहं, चारं, पडिचारं, चक्कवूहं,

गरुलवूहं, सगडवूहं, जुद्धं, निजुद्धं, जुद्धाइजुद्धं, मुट्ठिजुद्धं, बाहुजुद्धं, लयाजुद्धं, इसत्थं, छरुप्पवाहं, धणुव्वेयं, हिरण्णपागं, सुवण्णपागं, वट्टखेड्डं, सुत्ताखेड्ड, णालियाखेड्डं, पत्तच्छेज्ज, कडगच्छेज्जं, सज्जीव, निज्जीवं, सउणरुयमिति बावत्तरिकलाम्रो सेहावित्ता, सिक्खावेत्ता ग्रम्मापिईणं उवणेहिति ।

१०७—तब कलाचार्य बालक दृढप्रतिज्ञ को लेख एव गणित से लेकर पक्षिशब्दज्ञान तक बहत्तर कलाएँ सूत्ररूप मे—सैद्धान्तिक दृष्टि से, ग्रर्थ रूप मे—व्याख्यात्मक दृष्टि से, करण रूप मे—प्रयोगात्मक दृष्टि से सधायेगे, सिखायेगे—ग्रभ्यास करायेगे । वे बहत्तर कलाएँ इस प्रकार हैं—

१ लेख—लेखन—ग्रक्षरविन्यास, तद्विषयक कला, २ गणित, ३ रूप—भित्ति, पाषाण, वस्त्र, रजत, स्वर्ण, रत्न ग्रादि पर विविध प्रकार का चित्रांकन, ४ नाट्य—ग्रभिनय, नाच, ५ गीत—गान्धर्व-विद्या—सगीत-विद्या, ६ वाद्य—वीणा, दुन्दुभि, ढोल ग्रादि स्वर एव ताल सम्बन्धी वाद्य (साज) बजाने की कला, ७ स्वरगत—निषाद, ऋषभ, गान्धार, षड्ज, मध्यम, धैवत तथा पञ्चम—इन सात स्वरो का परिज्ञान, ८. पुष्करगत—मृदग-वादन की विशेष कला, ९ समताल—गान व ताल के लयात्मक समीकरण का ज्ञान, १० द्यूत—जूग्रा खेलने की कला, ११ जनवाद—लोगो के साथ वार्तालाप करने की दक्षता ग्रथवा वाद-विवाद करने मे निपुणता, १२ पाशक—पासा फेकने की विशिष्ट कला, १३. ग्रष्टापद—विशेष प्रकार की द्यूत-क्रीडा, १४ पौरस्कृत्य—नगर की रक्षा, व्यवस्था ग्रादि का ज्ञान, (ग्रथवा पुर काव्य—ग्राशुकवित्व—किसी भी विषय पर तत्काल कविता रचने की कला,) १५ उदक-मृत्तिका—जल तथा मिट्टी के मेल से भाण्ड ग्रादि के निर्माण का परिज्ञान, १६. ग्रन्न-विधि—ग्रन्न पैदा करने की दक्षता ग्रथवा भोजन-परिपाक का ज्ञान, १७. पान-विधि—पेय पदार्थों के निष्पादन, प्रयोग ग्रादि का ज्ञान, १८ वस्त्र-विधि—वस्त्र सम्बन्धी ज्ञान, १९ विलेपन-विधि—शरीर पर चन्दन, कु कुम ग्रादि सुगन्धित द्रव्यो के लेप का, मण्डन का ज्ञान, २०. शयन-विधि—शय्या ग्रादि बनाने, सजाने की कला, २१ ग्रार्या—ग्रार्या ग्रादि मात्रिक छन्द रचने की कला, २२ प्रहेलिका—गूढ ग्राशययुक्त गद्यपद्यात्मक रचना, २३ मागधिका—मगध देश की भाषा—मागधी प्राकृत मे काव्य-रचना, २४. गाथा—सस्कृतेतर शौरसेनी, ग्रर्धमागधी, पैशाची ग्रादि प्राकृतो—लोक भाषाग्रो मे ग्रार्या ग्रादि छन्दो मे रचना करने की कला, २५ गीतिका—गेय काव्य की रचना, गीति, उपगीति ग्रादि छन्दो मे रचना, २६ श्लोक—ग्रनुष्टुप् ग्रादि छन्दो मे रचना, २७ हिरण्य-युक्ति—रजत-निष्पादन—चांदी बनाने की कला, २८. सुवर्ण-युक्ति—सोना बनाने की कला, २९ गन्ध-युक्ति—सुगन्धित पदार्थ तैयार करने की विधि का ज्ञान, ३० चूर्ण-युक्ति—विभिन्न ग्रोषधियो द्वारा तान्त्रिक विधि से निर्मित चूर्ण डालकर दूसरे को वश मे करना, स्वय ग्रन्तर्धान हो जाना ग्रादि (विद्याग्रो) का ज्ञान, ३१ ग्राभरण-विधि—ग्राभूषण बनाने तथा धारण करने की कला, ३२ तरुणी-प्रतिकर्म—युवती-सज्जा की कला, ३३. स्त्री-लक्षण—पद्मिनी, हस्तिनी, शखिनी व चित्रिणी स्त्रियो के लक्षणो का ज्ञान, ३४ पुरुष-लक्षण—उत्तम, मध्यम, अधम, ग्रादि पुरुषो के लक्षणो का ज्ञान, ग्रथवा शश ग्रादि पुरुष-भेदो का ज्ञान, ३५ हय-लक्षण—ग्रश्व-जातियो, लक्षणो ग्रादि का ज्ञान, ३६ गज-लक्षण—हाथियो के शुभ, ग्रशुभ, ग्रादि लक्षणो की जानकारी, ३७ गो-लक्षण—गाय, बैल के लक्षणो का ज्ञान, ३८. कुक्कुट-लक्षण—मुर्गे के लक्षणो का ज्ञान, ३९ चक्र-लक्षण, ४०. छत्र-लक्षण, ४१. चर्म-लक्षण—ढाल ग्रादि चमडे से बनी विशिष्ट वस्तुग्रो के लक्षणो का ज्ञान, ४२. दण्ड-लक्षण, ४३. ग्रसि-लक्षण—तलवार की श्रेष्ठता, ग्रश्रेष्ठता का ज्ञान, ४४ मणि-लक्षण—रत्न-परीक्षा, ४५. काकणी-लक्षण—

चक्रवर्ती के एतत्संज्ञक रत्न के लक्षणों की पहचान, ४६ वास्तु-विद्या—भवन-निर्माण की कला, ४७ स्कन्धावार-मान—शत्रुसेना को जीतने के लिए अपनी सेना का परिमाण जानना, छावनी लगाना, मोर्चा लगाना आदि की जानकारी, ४८. नगर-निर्माण, विस्तार आदि की कला अथवा युद्धोपयोगी विशेष नगर-रचना की जानकारी, जिससे शत्रु पर विजय प्राप्त की जा सके, ४९ वास्तुनिवेशन—भवनो के उपयोग, विनियोग आदि के सम्बन्ध मे विशेष जानकारी, ५० व्यूह—आकार-विशेष मे सेना स्थापित करने या जमाने की कला, प्रतिव्यूह—शत्रु द्वारा रचे गये व्यूह के प्रतिपक्ष मे—मुकाबले तत्प्रतिरोधक दूसरे व्यूह की रचना का ज्ञान, ५१ चार—चन्द्र, सूर्य, राहु, केतु आदि ग्रहों की गति का ज्ञान अथवा राशि गण, वर्ण, वर्ग आदि का ज्ञान, प्रतिचार—इष्टजनक, अनिष्टनाशक शान्तिकर्म का ज्ञान, ५२. चक्रव्यूह—चक्र— रथ के पहिये के आकार मे सेना को स्थापित-सज्जित करना, ५३ गरुड-व्यूह—गरुड के आकार मे सेना को स्थापित-सज्जित करना, ५४ शकट-व्यूह—गाडी के आकार मे सेना को स्थापित-सज्जित करना, ५५ युद्ध—लडाई की कला, ५६ नियुद्ध—पैदल युद्ध करने की कला, ५७. युद्धातियुद्ध—तलवार, भाला आदि फेककर युद्ध करने की कला, ५८ मुष्टि-युद्ध—मुक्को से लडने मे निपुणता, ५९ बाहु-युद्ध—भुजाओ द्वारा लडने की कला, ६० लता-युद्ध—जैसे बेल वृक्ष पर चढ कर उसे जड से लेकर शिखर तक आवेष्टित कर लेती है, उसी प्रकार जहाँ योद्धा प्रतियोद्धा के शरीर को प्रगाढतया उपमर्दित कर भूमि पर गिरा देता है और उस पर चढ बैठता है, ६१ इषुशस्त्र—नाग-बाण आदि के प्रयोग का ज्ञान, क्षुर-प्रवाह—छुरा आदि फेककर वार करने का ज्ञान, ६२ धनुर्वेद—धनुर्विद्या, ६३ हिरण्यपाक—रजत-सिद्धि, ६४ सुवर्ण-पाक—सुवर्ण-सिद्धि, ६५ वृत्त-खेल—रस्सी आदि पर चलकर खेल दिखाने की कला, ६६ सूत्र-खेल—सूत द्वारा खेल दिखाने, कच्चे सूत द्वारा करिश्मे बतलाने की कला, ६७. नालिका-खेल—नालिका मे पासे या कौडियाँ डालकर गिराना—जूआ खेलने की एक विशेष प्रक्रिया की जानकारी, ६८ पत्रच्छेद्य—एक सौ आठ पत्तो मे यथेष्ट सख्या के पत्तो को एक बार मे छेदने का हस्त-लाघव, ६९ कटच्छेद्य—चटाई की तरह क्रमश· फैलाये हुए पत्र आदि के छेदन की विशेष प्रक्रिया मे नैपुण्य, ७० सजीव—पारद आदि मारित धातुओ को पुन सजीव करना—सहज रूप मे लाना, ७१ निर्जीव—पारद, स्वर्ण आदि धातुओ का मारण करना तथा ७२ शकुन-रुत—पक्षियो के शब्द, गति, चेष्टा आदि जानने की कला।

ये बहत्तर कलाएँ सधाकर, इनका शिक्षण देकर, अभ्यास कराकर कलाचार्य बालक को माता-पिता को सौप देगे।

१०८—तए णं तस्स दढपइण्णस्स दारगस्स अम्मापियरो तं कलायरियं विउलेणं असणपाण-खाइमसाइमेणं वत्थगंधमल्लालंकारेण य सक्कारेहिंति, सक्कारेत्ता सम्माणेहिंति, सम्माणेत्ता विउलं जीवियारिहं पीइदाणं दलइस्संति, दलइत्ता पडिविसज्जेहिंति।

१०८—तब बालक दृढप्रतिज्ञ के माता-पिता कलाचार्य का विपुल—प्रचुर अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, गन्ध, माला तथा अलकार द्वारा सत्कार करेंगे, सम्मान करेंगे। सत्कार-सम्मान कर उन्हे विपुल, जीविकोचित—जिससे समुचित रूप मे जीवन-निर्वाह होता रहे, ऐसा प्रीतिदान—पुरस्कार देगे। पुरस्कार देकर प्रतिविसर्जित करेंगे—बिदा करेंगे।

१०९—तए णं से दढपइण्णे दारए बावत्तरिकलापंडिए, नवंगसुत्तपडिबोहिए, अट्ठारसदेसीभासाविसारए, गीयरई, गंधव्वणट्टकुसले, हयजोही, गयजोही, रहजोही, बाहुजोही, बाहुप्पमद्दी, वियालचारी, साहसिए, अलंभोगसमत्थे यावि भविस्सइ।

१०९—बहत्तर कलाओ मे पडित—मर्मज्ञ, प्रतिबुद्ध नौ अगो— दो कान, दो नेत्र, दो घ्राण, एक जिह्वा, एक त्वचा तथा एक मन—इन अगो की चेतना, सवेदना के जागरण से युक्त—यौवनावस्था मे विद्यमान, अठारह देशी भाषाओ—लोकभाषाओ मे विशारद—निपुण, गीतप्रिय, गान्धर्व-नाट्य-कुशल—सगीत-विद्या, नृत्य-कला आदि मे प्रवीण, अश्वयुद्ध—घोडे पर सवार होकर युद्ध करना, गजयुद्ध—हाथी पर सवार होकर युद्ध करना, रथयुद्ध—रथ पर सवार होकर युद्ध करना, बाहुयुद्ध—भुजाओ द्वारा युद्ध करना, इन सब मे दक्ष, विकालचारी—निर्भीकता के कारण रात मे भी घूमने-फिरने मे नि शक, साहसिक– प्रत्येक कार्य मे साहसी दृढप्रतिज्ञ यो सागोपांग विकसित-सवर्द्धित होकर सर्वथा भोग-समर्थ हो जाएगा।

११०—तए ण दढपइण्ण दारग अम्मापियरो बावत्तरिकलापडिय जाव (नवंगसुत्तपडिबोहियं, अट्ठारसदेसीभासाविसारयं, गीयरइ, गधव्वणट्टकुसल, हयजोहिं, गयजोहिं, रहजोहिं, बाहुजोहिं, बाहुप्पमद्दिं, वियालचारिं, साहसियं) अलभोगसमत्थ वियाणित्ता विउलेहिं अण्णभोगेहिं, पाणभोगेहिं, लेणभोगेहिं, वत्थभोगेहिं, सयणभोगेहिं, उवणिमंतेहिंति।

११०—माता-पिता बहत्तर कलाओ मे मर्मज्ञ, (प्रतिबुद्ध नौ अग युक्त, अठारह देशी भाषाओ मे निपुण, गीतप्रिय, गान्धर्व-नाट्य-कुशल, अश्वयुद्ध, गजयुद्ध, रथयुद्ध, बाहुयुद्ध, एव बाहुप्रमर्द मे दक्ष, निर्भय-विकालचारी, साहसिक) अपने पुत्र दृढप्रतिज्ञ को सर्वथा भोग-समर्थ जानकर अन्न—उत्तम खाद्य पदार्थ, पान—उत्तम पेय पदार्थ, लयन—सुन्दर गृह आदि मे निवास, उत्तम वस्त्र तथा शयन—उत्तम शय्या, बिछौने आदि सुखप्रद सामग्री का उपभोग करने का आग्रह करेगे।

१११—तए ण दढपइण्णे दारए तेहिं विउलेहिं अण्णभोगेहिं जाव (पाणभोगेहिं, लेणभोगेहिं, वत्थभोगेहिं,) सयणभोगेहिं णो सज्जिहिति, णो रज्जिहिति, णो गिज्झिहिति, णो मुज्झिहिति, णो अज्झोववज्जिहिति।

१११—तब कुमार दृढप्रतिज्ञ अन्न, (पान, गृह, वस्त्र,) शयन आदि भोगो मे आसक्त नही होगा, अनुरक्त नही होगा, गृद्ध—लोलुप नही होगा, मूर्च्छित—मोहित नही होगा तथा अध्यवसित नही होगा—मन नही लगायेगा।

११२—से जहाणामए उप्पले इ वा, पउमे इ वा, कुमुदे इ वा, नलिने इ वा, सुभगे इ वा, सुगंधे इ वा, पोंडरीए उ वा, महापोंडरीए इ वा, सयपत्ते इ वा, सहस्सपत्ते इ वा, सयसहस्सपत्ते इ वा, पके जाए, जले संवुड्ढे णोवलिप्पइ पकरएण णोवलिप्पइ जलरएणं, एवामेव दढपइण्णे वि दारए कामेहिं जाए भोगेहिं संवुड्ढे णोवलिप्पिहिति कामरएण, णोवलिप्पिहिति भोगरएण, णोवलिप्पिहिति मित्तणाइणियगसयणसंबधिपरिजणेण।

११२—जैसे उत्पल, पद्म, कुमुद, नलिन, सुभग, सुगन्ध, पुण्डरीक, महापुण्डरीक, शतपत्र, सहस्रपत्र, शतसहस्रपत्र आदि विविध प्रकार के कमल कीचड़ मे उत्पन्न होते हैं, जल मे बढ़ते हैं पर

जल-रज— जल-रूप रज से या जल-कणो से लिप्त नही होते, उसी प्रकार कुमार दृढप्रतिज्ञ जो काममय जगत् मे उत्पन्न होगा, भोगमय जगत् मे सवर्धित होगा—पलेगा-पुसेगा, पर काम-रज से—शब्दात्मक, रूपात्मक भोग्य पदार्थों से—भोगासक्ति से, भोग-रज से—गन्धात्मक, रसात्मक, स्पर्शात्मक भोग्य पदार्थों से—भोगसक्ति से लिप्त नही होगा, मित्र—सुहृद्, ज्ञाति—सजातीय, निजक—भाई, बहिन आदि पितृपक्ष के पारिवारिक, स्वजन—नाना, मामा, आदि मातृपक्ष के पारिवारिक, तथा अन्यान्य सम्बन्धी, परिजन— सेवकवृन्द—इनमे आसक्त नही होगा ।

११३—से णं तहारूवाणं थेराणं अंतिए केवलं बोहिं बुज्झिहिति, बुज्झित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइहिति ।

११३—वह तथारूप—वीतराग की आज्ञा के अनुमर्ता अथवा सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चारित्र से युक्त स्थविरो—ज्ञानवृद्ध, सयमवृद्ध श्रमणो के पास केवलबोधि—विशुद्ध सम्यक् दर्शन प्राप्त करेगा । गृहवास का परित्याग कर वह अनगार-धर्म मे प्रव्रजित— दीक्षित होगा—श्रमण-जीवन स्वीकार करेगा ।

११४—से ण भविस्सइ अणगारे भगवते ईरियासमिए जाव (भासासमिए, एसणासमिए, आयाणभडमत्तनिक्खेवणासमिए, उच्चारपासवणखेलसिंघाणजल्लपरिट्ठावणियासमिए, मणगुत्ते, वयगुत्ते, कायगुत्ते, गुत्ते, गुत्तिदिए) गुत्तबभयारी ।

११४—वे अनगार भगवान्—मुनि दृढप्रतिज्ञ ईर्या—गमन, हलन, चलन आदि क्रिया, भाषा, आहार आदि की गवेषणा, याचना, पात्र आदि के उठाने, इधर-उधर रखने आदि तथा मल, मूत्र, खखार, नाक आदि का मैल त्यागने मे समित—सम्यक् प्रवृत्त—यतनाशील होगे । वे मनोगुप्त, वचोगुप्त, कायगुप्त—मन, वचन तथा शरीर की क्रियाओ का गोपायन—सयम करने वाले, गुप्त शब्द आदि विषयो मे रागरहित—अन्तर्मुख, गुप्तेन्द्रिय—इन्द्रियो को उनके विषय व्यापार मे लगाने की उत्सुकता से रहित तथा गुप्त ब्रह्मचारी—नियमोपनियम-पूर्वक ब्रह्मचर्य का सरक्षण—परिपालन करने वाले होगे ।

११५—तस्स ण भगवतस्स एएण विहारेण विहरमाणस्स अणंते, अणुत्तरे, णिव्वाघाए, निरावरणे, कसिणे, पडिपुण्णे केवलवरणाणदंसणे समुप्पज्जिहिति ।

११५—इस प्रकार की चर्या मे सप्रवर्तमान—ऐसा साधनामय जीवन जीते हुए मुनि दृढप्रतिज्ञ को अनन्त—अन्तरहित या अनन्त पदार्थ विषयक—अनन्त पदार्थों को जानने वाला, अनुत्तर—सर्वश्रेष्ठ, निर्व्याघात—बाधा या व्यवधान रहित, निरावरण—आवरणरहित, कृत्स्न—समग्र-सर्वार्थ-ग्राहक, प्रतिपूर्ण—परिपूर्ण, अपने समग्र अविभागी अशो से समायुक्त, केवलज्ञान, केवलदर्शन उत्पन्न होगा ।

११६—तए णं से दढपइण्णे केवली बहूइ वासाइ केवलिपरियागं पाउणिहिति, केवलिपरियागं पाउणित्ता मासियाए संलेहणाए अप्पाणं झूसित्ता, सट्ठि भत्ताइ अणसणाए छेदित्ता जस्सट्ठाए कीरइ नग्गभावे, मुंडभावे, अण्हाणए, अदंतवणए, केसलोए, बंभचेरवासे, अच्छत्तगं अणोवाहणगं, भूमिसेज्जा, फलगसेज्जा, कट्ठसेज्जा, परघरपवेसो लद्धावलद्धं, परेहिं हीलणाओ, खिसणाओ, निंदणाओ,

गरहणाओ, तालणाओ, तज्जणाओ, परिभवणाओ, पव्वहणाओ, उच्चावया गामकंटगा, बावीसं परीसहोवसग्गा अहियासिज्जति, तमट्ठमाराहित्ता चरिमेहिं उस्सासणिस्सासेहिं सिज्झिहिति, बुज्झिहिति, मुच्चिहिति परिणिव्वाहिति, सव्वदुक्खाणमंत करेहिति ।

११६—तत्पश्चात् दृढप्रतिज्ञ केवली बहुत वर्षों तक केवलि-पर्याय का पालन करेंगे—केवलि-अवस्था मे विचरेगे । यो केवलि-पर्याय का पालन कर, एक मास की सलेखना और साठ भोजन—एक मास का अनशन सम्पन्न कर जिस लक्ष्य के लिए नग्नभाव—शारीरिक सस्कारो के प्रति अनासक्ति, मुण्डभाव—सासारिक सम्बन्ध तथा ममत्व का त्याग कर श्रमण-जीवन की साधना, अस्नान—स्नान न करना, अदन्तवन—मजन नही करना, केशलु चन—बालो को अपने हाथ से उखाडना, अब्रह्मचर्यवास—ब्रह्मचर्य की आराधना—बाह्य तथा आभ्यन्तर रूप मे अध्यात्म की साधना, अच्छत्रक—छत्र (छाता) धारण नही करना, जूते या पादरक्षिका धारण नही करना, भूमि पर सोना, जलक—काष्ठपट्ट पर सोना, सामान्य काठ की पटिया पर सोना, भिक्षा हेतु परगृह मे प्रवेश करना, जहाँ आहार मिला हो या न मिला हो, औरो मे जन्म-कर्म की भर्त्सनापूर्ण अवहेलना—अवज्ञा या तिरस्कार, खिसना—मर्मोद्-घाटनपूर्वक अपमान, निन्दना—निन्दा, गर्हणा—लोगो के समक्ष अपने सम्बन्ध मे प्रकट किये गये कुत्सित भाव, तर्जना—अगुली आदि द्वारा सकेत कर कहे गये कटु वचन, ताडना—थप्पड आदि द्वारा परि-ताडन, परिभवना—परिभव—अपमान, परिव्यथना—व्यथा, नाना प्रकार की इन्द्रियविरोधी—आँख, कान, नाक आदि इन्द्रियो के लिए कष्टकर स्थितियाँ, बाईस प्रकार के परिषह तथा देवादिकृत उपसर्ग आदि स्वीकार किये, उस लक्ष्य को पूरा कर अपने अन्तिम उच्छ्वास-नि श्वास मे सिद्ध होगे, बुद्ध होगे, मुक्त होगे, परिनिर्वृत होगे, सब दुखो का अन्त करेंगे ।

प्रत्यनीकों का उपपात

११७ -सेज्जे इमे गामागर जाव[1] सण्णिवेसेसु पव्वइया समणा भवति, त जहा—आयरिय-पडिणीया, उवज्झायपडिणीया, कुलपडिणीया, गणपडिणीया, आयरियउवज्झायाण अयसकारगा, अवण्णकारगा, अकित्तिकारया, बहूहिं असब्भावुब्भावणाहिं मिच्छत्ताभिणिवेसेहिं य अप्पाण च परं च तदुभय च वुग्गाहेमाणा, वुप्पाएमाणा विहरित्ता बहूइ वासाइ सामण्णपरियाग पाउणति, बहूइं वासाइं सामण्णपरियागं पाउणित्ता तस्स ठाणस्स अणालोइयअप्पडिक्कता कालमासे कालं किच्चा उक्कोसेण लतए कप्पे देवकिब्बिसिएसु देवकिब्बिसियत्ताए उववत्तारो भवंति । तहिं तेसिं गई, तेरस सागरोवमाइ ठिई, अणाराहगा, सेस त चेव ।

११७—जो ग्राम, आकर, सन्निवेश आदि मे प्रव्रजित श्रमण होते हैं, जैसे—आचार्य-प्रत्यनीक—आचार्य के विरोधी, उपाध्याय-प्रत्यनीक—उपाध्याय के विरोधी, कुल-प्रत्यनीक—कुल के विरोधी, गण-प्रत्यनीक[2]—गण के विरोधी, आचार्य और उपाध्याय के अयशस्कर—अपयश करने वाले, अवर्णकारक—अवर्णवाद बोलने वाले, अकीर्तिकारक—अपकीर्ति या निन्दा करने वाले, असद्भाव—वस्तुत जो हैं नही, ऐसी बातो या दोषो के उद्भावन-आरोपण तथा मिथ्यात्व के

१ देखें सूत्र-सख्या ७१

२ आचार्य, उपाध्याय, कुल तथा गण का सूत्र-सख्या ३० के विवेचन के अन्तर्गत विवेचन किया जा चुका है, जो द्रष्टव्य है ।

अभिनिवेश द्वारा अपने को, औरो को—दोनो को दुराग्रह मे डालते हुए, दृढ करते हुए—अपने को तथा औरो को आशातना-जनित पाप मे निपतित करते हुए बहुत वर्षों तक श्रमण-पर्याय का पालन करते हैं। अपने पाप-स्थानो की आलोचना, प्रतिक्रमण नही करते हुए मृत्यु-काल आ जाने पर मरण प्राप्तकर वे उत्कृष्ट लान्तक नामक छठे देवलोक मे किल्विषिक संज्ञक देवो मे (जिनका चाण्डालवत् साफ-सफाई करना कार्य होता है) देवरूप मे उत्पन्न होते हैं। अपने स्थान के अनुरूप उनकी गति होती है। उनकी वहा स्थिति तेरह सागरोपम-प्रमाण होती है। अनाराधक होते हैं। अवशेष वर्णन पूर्ववत् है।

संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यक्योनि जीवों का उपपात

११८—सेज्जे इमे सण्णिपंचिदियतिरिक्खजोणिया पज्जत्तया भवंति, तं जहा—जलयरा, थलयरा, खहयरा। तेसि णं अत्थेगइयाणं सुभेणं परिणामेणं, पसत्थेहिं अज्झवसाणेहिं, लेस्साहिं विसुज्झमाणीहिं तयावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमेणं ईहावूहमग्गणगवेसणं करेमाणाण सण्णीपुव्व-जाइसरणे समुप्पज्जइ।

तए णं समुप्पण्णजाइसरणा समाणा सयमेव पंचाणुव्वयाइं पडिवज्जंति, पडिवज्जित्ता बहूहिं सीलव्वयगुणवेरमणपच्चक्खाणपोसहोववासेहिं अप्पाणं भावेमाणा बहूइं वासाइं आउयं पालेंति, पालित्ता आलोइयपडिक्कंता, समाहिपत्ता कालमासे कालं किच्चा उक्कोसेणं सहस्सारे कप्पे देवत्ताए उववत्तारो भवंति। तहिं तेसिं गई, अट्ठारस सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता, परलोगस्स आराहगा, सेसं तं चेव।

११८—जो ये संज्ञी—समनस्क या मन सहित, पर्याप्त—आहारादि-पर्याप्तियुक्त तिर्यग्-योनिक—पशु, पक्षी जाति के जीव होते है, जैसे—जलचर—पानी मे चलने वाले (रहने वाले), स्थलचर—पृथ्वी पर चलने वाले तथा खेचर—आकाश मे चलने वाले (उडने वाले), उनमे से कइयो के प्रशस्त—उत्तम अध्यवसाय, शुभ परिणाम तथा विशुद्ध होती हुई लेश्याओ—अन्त परिणतियो के कारण ज्ञानावरणीय एव वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से ईहा, अपोह, मार्गणा, गवेषणा करते हुए अपनी संज्ञित्व-अवस्था से पूर्ववर्ती भवो की स्मृति—जाति-स्मरण ज्ञान उत्पन्न हो जाता है।

जाति-स्मरण ज्ञान उत्पन्न होते ही वे स्वय पाँच अणुव्रत स्वीकार करते हैं। ऐसा कर अनेकविध शीलव्रत, गुणव्रत, विरमण—विरति, प्रत्याख्यान—त्याग, पोषधोपवास आदि द्वारा आत्म-भावित होते हुए बहुत वर्षों तक अपने आयुष्य का पालन करते है—जीवित रहते है। फिर वे अपने पाप-स्थानो की आलोचना कर, उनसे प्रतिक्रान्त हो, समाधि-अवस्था प्राप्त कर, मृत्यु-काल आने पर देह-त्याग कर उत्कृष्ट सहस्रार-कल्प—देवलोक मे देव रूप मे उत्पन्न होते है। अपने स्थान के अनुरूप उनकी गति होती है। उनकी वहाँ स्थिति अठारह सागरोपम-प्रमाण होती है। वे परलोक के आराधक होते हैं। अवशेष वर्णन पूर्ववत् है।

आजीवकों का उपपात

१२०—से जे इमे गामागर जाव[1] सण्णिवेसेसु आजीविया भवंति, तं जहा—दुघरंतरिया, तिघरंतरिया, सत्तघरंतरिया, उप्पलबेंटिया, घरसमुदाणिया, विज्जुयंतरिया उट्टिया समणा, ते णं

१ देखें सूत्र-सख्या ७१

एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणा बहूइं वासाइं परियायं पाउणित्ता कालमासे कालं किच्चा उक्कोसेणं अच्चुए कप्पे देवत्ताए उववत्तारो भवंति, तहिं तेसिं गई, बावीसं सागरोवमाइं ठिई, अणाराहगा, सेसं तं चेव ।

१२०—ग्राम, आकर, सन्निवेश आदि मे जो आजीवक होते है, जैसे—दो घरो के अन्तर से —दो घर छोडकर भिक्षा लेने वाले, तीन घर छोडकर भिक्षा लेनेवाले, सात घर छोडकर भिक्षा लेनेवाले, नियम-विशेषवश भिक्षा मे केवल कमल-डठल लेनेवाले, प्रत्येक घर से भिक्षा लेनेवाले, जब बिजली चमकती हो तब भिक्षा नही लेनेवाले, मिट्टी से बने नाद जैसे बडे बर्तन मे प्रविष्ट होकर तप करनेवाले, वे ऐसे आचार द्वारा विहार करते हुए—जीवन-यापन करते हुए बहुत वर्षों तक आजीवक-पर्याय का पालन कर, मृत्यु-काल आने पर मरण प्राप्त कर, उत्कृष्ट अच्युत कल्प मे (बारहवे देवलोक मे) देवरूप मे उत्पन्न होते हैं। वहाँ अपने स्थान के अनुरूप उनकी गति होती है। उनकी स्थिति बाईस सागरोपम-प्रमाण होती है। वे आराधक नही होते। अवशेष वर्णन पूर्ववत है।

आत्मोत्कर्षक आदि प्रव्रजित श्रमणों का उपपात

१२१—सेज्जे इमे गामागर जाव[1] सण्णिवेसेसु पव्वइया समणा भवंति, तं जहा—अत्तुक्कोसिया, परपरिवाइया, भूइकम्मिया, भुज्जो-भुज्जो कोउयकारगा, ते णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणा बहूइं वासाइं सामण्णपरियाग पाउणंति, पाउणित्ता तस्स ठाणस्स अणालोइयअपडिक्कंता कालमासे कालं किच्चा उक्कोसेणं अच्चुए कप्पे आभिओगिएसु देवेसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति। तहिं तेसिं गई, बावीसं सागरोवमाइं ठिई, परलोगस्स अणाराहगा, सेस तं चेव ।

ग्राम, आकर, सन्निवेश आदि मे जो ये प्रव्रजित श्रमण होते है, जैसे—आत्मोत्कर्षक—अपना उत्कर्ष दिखानेवाले—अपना बडप्पन या गरिमा बखाननेवाले, परपरिवादक—दूसरो की निन्दा करने वाले, भूतिकर्मिक—ज्वर आदि बाधा, उपद्रव शान्त करने हेतु अभिमन्त्रित भस्म आदि देनेवाले, कौतुककारक—भाग्योदय आदि के निमित्त चामत्कारिक बाते करनेवाले। वे इस प्रकार की चर्या लिये विहार करते हुए—जीवन चलाते हुए बहुत वर्षों तक श्रमण-पर्याय का पालन करते है। अपने गृहीत पर्याय का पालन कर वे अन्तत अपने पाप-स्थानो की आलोचना नही करते हुए, उनसे प्रतिक्रान्त नही होते हुए, मृत्यु-काल आने पर देह-त्याग कर उत्कृष्ट अच्युत कल्प में आभियोगिक—सेवकवर्ग के देवो मे देव रूप मे उत्पन्न होते है। वहां अपने स्थान के अनुरूप उनकी गति होती है। उनकी स्थिति बाईस सागरोपम-प्रमाण होती है। वे परलोक के आराधक नही होते। अवशेष वर्णन पूर्ववत् है।

निह्नवों का उपपात

१२२—सेज्जे इमे गामागर जाव[2] सण्णिवेसेसु णिण्हगा भवंति, तं जहा—१ बहुरया, २ जीवपएसिया, ३ अव्वत्तिया, ४ सामुच्छेइया, ५ दोकिरिया, ६ तेरासिया, ७ अबद्धिया इच्चेते सत्त पवयणणिण्हगा, केवलचरियालिंगसामण्णा, मिच्छद्दिट्ठी बहूहिं असब्भावुब्भावणाहिं मिच्छत्ताभिणिवेसेहि य अप्पाणं च परं च तदुभय च वुग्गाहेमाणा, वुप्पाएमाणा विहरित्ता बहूइं वासाइं

---

१. देखें सूत्र-सख्या ७१

सामण्णपरियागं पाउणंति, पाउणित्ता कालमासे कालं किच्चा उक्कोसेणं उवरिमेसु गेवेज्जेसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति । तहिं तेसिं गई, एक्कतीसं सागरोवमाइं ठिई, परलोगस्स प्रणाराहगा, सेसं तं चेव ।

१२२—ग्राम, आकर, सन्निवेश आदि में जो ये निह्नव होते है, जैसे—बहुरत, जीवप्रादेशिक, अव्यक्तिक, सामुच्छेदिक, द्वैक्रिय, त्रैराशिक तथा अबद्धिक, वे सातों ही जिन-प्रवचन—जैन-सिद्धान्त, वीतरागवाणी का अपलाप करने वाले या उलटी प्ररूपणा करनेवाले होते हैं । वे केवल चर्या—भिक्षा-याचना आदि बाह्य क्रियाओ तथा लिंग—रजोहरण आदि चिह्नो मे श्रमणो के सदृश होते है । वे मिथ्यादृष्टि हैं । असद्भाव—जिनका सद्भाव या अस्तित्व नही है, ऐसे अविद्यमान पदार्थों या तथ्यो की उद्भावना—निराधार परिकल्पना द्वारा, मिथ्यात्व के अभिनिवेश द्वारा अपने को, औरो को—दोनो को दुराग्रह मे डालते हुए, दृढ़ करते हुए—अतथ्यपरक (जिन-प्रवचन के प्रतिकूल) सस्कार जमाते हुए बहुत वर्षों तक श्रमण-पर्याय का पालन करते हैं । श्रमण-पर्याय का पालन कर, मृत्यु-काल आने पर देह-त्याग कर उत्कृष्ट ग्रैवेयक देवो मे देवरूप मे उत्पन्न होते है । वहाँ अपने स्थान के अनुरूप उनकी गति होती है । वहाँ उनकी स्थिति इकतीस सागरोपम-प्रमाण होती है । वे परलोक के आराधक नही होते । अवशेष वर्णन पूर्ववत् है ।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र मे जिन सात निह्नवो का उल्लेख हुआ है—आचार्य अभयदेवसूरि ने अपनी वृत्ति मे संक्षेप मे उनकी चर्चा की है । उस सम्बन्ध मे यत्र-तत्र और भी उल्लेख प्राप्त होते हैं । जिन-प्रवचन के अपलापी ये निह्नव सिद्धान्त के किसी एक देश या एकाश को लेकर हठाग्रह किवा दुराग्रह से अभिभूत थे ।

उनके वादो का सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

१. बहुरतवाद—बहुत समयो मे रत या आसक्त बहुरत कहे जाते थे । उनके अनुसार कार्य की निष्पन्नता बहुत समयो से होती है ।[1] अत क्रियमाण को कृत नही कहा जा सकता । अपेक्षा-भेद पर आधृत अनेकान्तमय समजस विचारधारा मे बहुरतवादियो की आस्था नही थी ।

बहुरतवाद का प्रवर्तक जमालि था । वह क्षत्रिय राजकुमार था । भगवान् महावीर का जामाता था । वैराग्यवश वह भगवान् के पास प्रव्रजित हुआ, उसके पाँच सौ साथी भी । ज्ञानाराधन एव तपश्चरण पूर्वक वह श्रमण-धर्म का पालन करने लगा ।

एक बार उसने जनपद-विहार का विचार किया । भगवान से अनुज्ञा मागी । भगवान् कुछ बोले नही । फिर भी उसने अपने पाँच सौ श्रमण-साथियो के साथ विहार कर दिया ।

वह श्रावस्ती मे रुका । कठोर चर्या तथा तप की आराधना मे लगा । एक बार वह घोर पित्तज्वर से पीडित हो गया । असह्य वेदना थी । उसने अपने साधुओ को बिछौना तैयार करने की आज्ञा दी । साधु वैसा करने लगे । जमालि ज्वर की वेदना से अत्यन्त व्याकुल था । क्षण-क्षण का समय बीतना भारी था । उसने अधीरता से पूछा—*क्या बिछौना तैयार हो गया ?* साधु बोले—देवानुप्रिय ! बिछौना बिछ गया है । तीव्र ज्वर-जनित आकुलता थी ही, जमालि टिक नही पा रहा

---

१ बहुषु समयेषु रता —आसक्ता , बहुभिरेव समयैः कार्यं निष्पद्यते नैकसमयेनेत्येवविधवादिनो बहुरता —जमालिमतानुपातिन । —औपपातिकसूत्र वृत्ति, पत्र १०६

था । वह तत्काल उठा, गया और देखा कि बिछौना बिछाया जा रहा है । यह देखकर उसने विचार किया—कार्य एक समय मे निष्पन्न नही होता, बहुत समयो से होता है । कितनी बडी भूल चल रही है कि क्रियमाण को कृत कह दिया जाता है । भगवान् महावीर भी ऐसा कहते हैं । जमालि के मन मे इस प्रकार एक मिथ्या विचार बैठ गया । वेदना शान्त होने पर अपने साथी श्रमणो के सक्षम उसने यह विचार रखा । कुछ सहमत हुए, कुछ असहमत । जो सहमत हुए, उसके साथ रहे, जो सहमत नही हुए, वे भगवान् महावीर के पास आगये ।

जमालि कुछ समय पश्चात् भगवान् महावीर के पास आया । वार्तालाप हुआ । भगवान् महावीर ने उसे समझाया, पर उसने अपना दुराग्रह नही छोडा । धीरे-धीरे उसके साथी उसका साथ छोडते गये ।

२. **जीवप्रादेशिकवाद**—एक प्रदेश भी कम हो तो जीव जीव-जीवत्वयुक्त नही कहा जा सकता, अतएव जिस एक—अन्तिम प्रदेश से पूर्ण होने पर जीव जीव कहलाता है, वह एक प्रदेश ही वस्तुत जीव है । जीवप्रादेशिकवाद का यह सिद्धान्त था । इसके प्रवर्त्तक तिष्यगुप्ताचार्य थे ।[1]

३ **अव्यक्तकवाद**—साधु आदि के सन्दर्भ मे यह सारा जगत् अव्यक्त है । अमुक साधु है या देव है, ऐसा कुछ भी स्पष्टतया व्यक्त या प्रकट नही होता ।[2] यह अव्यक्तकवाद का सिद्धान्त है । इस वाद के प्रवर्तक आचार्य आषाढ माने जाते है ।

इस वाद के चलने के पीछे एक घटना है । आचार्य आषाढ श्वेतविका नगरी मे थे । वे अपने शिष्यो को योग-साधना सिखा रहे थे । अकस्मात् उनका देहान्त हो गया । अपने आयुष्य-बन्ध के अनुसार वे देव हो गये । उन्होने यह सोचकर कि उनके शिष्यो का अभ्यास अधूरा न रहे, अपने मृत शरीर मे प्रवेश किया । यह सब क्षण भर मे घटित हो गया । किसी को कुछ भान नही हुआ । शिष्यो का अभ्यास पूरा कराकर वे देवरूप मे उस देह से बाहर निकले और उन्होने श्रमणो को सारी घटना बतलाते हुए उनसे क्षमा-याचना की कि देवरूप मे असयत होते हुए भी उन्होने सयतात्माओ से वन्दन-नमस्कार करवाया । यह कहकर वे अपने अभीष्ट स्थान पर चले गये ।

यह देखकर श्रमणो को सदेह हुआ कि जगत् मे कौन साधु है, कौन देव है, यह अव्यक्त है । उन्होने इस एक बात को पकड लिया, दुराग्रह-ग्रस्त हो गये । उन श्रमणो से यह वाद चला । इस प्रकार अव्यक्तकवाद के प्रवर्तक वस्तुत आचार्य आषाढ के श्रमण-शिष्य थे ।

---

१ जीव प्रदेश एवैको येषा मतेन ते जीवप्रदेशा । एकेनापि प्रदेशेन न्यूनो जीवो न भवत्ययो येनैकेन प्रदेशेन पूर्ण सन् जीवो भवति, स एवैक प्रदेश जीवो भवतीत्येवविधवादिनस्तिष्यगुप्ताचार्यमताविसवादिन ।

—औपपातिकसूत्र वृत्ति, पत्र १०६

२ अव्यक्त समस्तमिद जगत् साध्वादिविषये श्रमणोऽय देवो वाऽयमित्यादिविविक्तप्रतिभासोदयाभावात्ततश्चाव्यक्त वस्त्विति मतमस्ति येषां ते अव्यक्तिका, अविद्यमाना वा साध्वादिव्यक्तिरेषामित्यव्यक्तिका., आषाढाचार्य-शिष्यमतान्त पातिन ।

—औपपातिकसूत्र वृत्ति, पत्र १०६

४. **सामुच्छेदिकवाद**— नारक आदि भावो का एकान्ततः प्रतिक्षण समुच्छेद—विनाश होता रहता है। सामुच्छेदिकवाद का ऐसा अभिमत है। इसके प्रवर्तक अश्वमित्र माने जाते हैं।[1]

इसके प्रवर्तन से सम्बद्ध कथानक इस प्रकार है—

कौण्डिल नामक आचार्य थे। उनके शिष्य का नाम अश्वमित्र था। आचार्य शिष्य को 'पूर्व-ज्ञान' का अभ्यास करा रहे थे। पर्यायवाद का प्रकरण चल रहा था। पर्याय की एक समयवर्तिता प्रसगोपात्तरूप मे समझा रहे थे। प्रथम समय के नारक समुच्छिन्न—विच्छिन्न—होगे, दूसरे समय के नारक समुच्छिन्न होगे। पर्यायात्मक दृष्टि से इसी प्रकार सारे जीव समुच्छिन्न होगे। अश्वमित्र ने सारे सन्दर्भ को यथार्थरूप मे न समझते हुए केवल समुच्छेद या समुच्छिन्नता को ही पकड लिया। वह दुराग्रही हो गया। उसने सामुच्छेदिकवाद का प्रवर्तन किया।

५. **द्वैक्रियवाद**—शीतलता और उष्णता आदि की दोनो अनुभूतियाँ एक ही समय मे साथ होती हैं, ऐसी मान्यता द्वैक्रियवाद है। गगाचार्य इसके प्रवर्तक थे।[2]

इसके प्रवर्तन से सम्बद्ध कथा इस प्रकार है—

गङ्ग नामक मुनि धनगुप्त आचार्य के शिष्य थे। वे अपने गुरु को वन्दन करने जा रहे थे। मार्ग मे उल्लुका नामक नदी पडती थी। मुनि जब उसे पार कर रहे थे, उनके सिर पर सूर्य की उष्ण किरणे पड रही थी, पैरो मे पानी की शीतलता का अनुभव हो रहा था।

मुनि गङ्ग सोचने लगे—आगमो मे तो बतलाया है, एक साथ दो क्रियाओ की अनुभूति नही होती, पर मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूँ ऐसा होता है। तभी तो एक ही साथ मुझे शीतलता एव उष्णता का अनुभव हो रहा है। वे इस विचार मे आग्रहग्रस्त हो गये। उन्होने दो क्रियाओ का अनुभव एक साथ होने का सिद्धान्त स्थापित किया।

६ **त्रैराशिकवाद**—त्रैराशिकवादी जीव, अजीव तथा नोजीव—जो जीव भी नही, अजीव भी नही—ऐसी तीन राशियाँ स्वीकार करते है। त्रैराशिकवाद के प्रवर्तक आचार्य रोहगुप्त थे।[3]

इसके प्रवर्तन की कथा इस प्रकार है—रोहगुप्त अन्तरजिका नामक नगरी मे ठहरे हुए थे। वे अपने गुरु आचार्य श्रीगुप्त को वन्दन करने जा रहे थे। पोट्टशाल नामक परिव्राजक अपनी विद्याओ के प्रदर्शन द्वारा लोगो को आश्चर्यान्वित कर रहा था, वाद हेतु सबको चुनौती भी दे रहा था। रोहगुप्त ने पोट्टशाल की चुनौती स्वीकार कर ली। पोट्टशाल वृश्चिकी, सर्पी, मूषिकी आदि विद्याएँ साधे हुए

---

१ नारकादिभावाना प्रतिक्षण समुच्छेद क्षय वदन्तीति सामुच्छेदिका, अश्वमित्रमतानुसारिण।
—औपपातिकसूत्र वृत्ति, पत्र १०६

२ द्वे क्रिये—शीतवेदनोष्णवेदनादिस्वरूपे एकत्र समये जीवोऽनुभवतीत्येव वदन्ति ये, ते द्वैक्रिया गङ्गाचार्यमतानुवर्तिन।
—औपपातिकसूत्र वृत्ति, पत्र १०६

३ त्रीन् राशीन् जीवाजीवनोजीवरूपान् वदन्ति ये, ते त्रैराशिका, रोहगुप्तमतानुसारिण।
—औपपातिकसूत्र वृत्ति, पत्र १०६

था। आचार्य श्रीगुप्त ने रोहगुप्त को मयूरी, नकुली, बिडाली आदि उन विद्याओ को निरस्त करने वाली विद्याएँ सिखला दी।

राजसभा मे चर्चा प्रारम्भ हुई। पोट्टशाल बहुत चालाक था। उसने रोहगुप्त को पराजित करना कठिन समझ कर रोहगुप्त के पक्ष को ही अपना पूर्वपक्ष बना लिया, जिससे रोहगुप्त उसका खण्डन न कर सके। उसने कहा—जगत् मे दो ही राशियाँ है—जीवराशि और अजीवराशि। रोहगुप्त असमजस मे पड गए। दो राशियो का पक्ष ही उन्हे मान्य था, किन्तु पोट्टशाला को पराजित न करने और उसके पक्ष को स्वीकार कर लेने से अपयश होगा, इस विचार से उन्होने जीव, अजीव तथा नोजीव—इन तीन राशियो की स्थापना की। तर्क द्वारा अपना मत सिद्ध किया। पोट्टशाला द्वारा प्रयुक्त वृश्चिकी, सर्पी तथा मूषिकी आदि विद्याओ को मयूरी, नकुल एवं बिडाली आदि विद्याओ द्वारा निरस्त कर दिया। पोट्टशाल पराजित हो गया।

रोहगुप्त गुरु के पास आये। सारी घटना उन्हे बतलाई। आचार्य श्रीगुप्त ने रोहगुप्त से कहा कि तीन राशियो की स्थापना कर उसने (रोहगुप्त ने) उचित नही किया। यह सिद्धान्तविरुद्ध हुआ। अत वह वापस राजसभा मे जाए और इसका प्रतिवाद करे। रोहगुप्त ने इसे अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लिया। वे वैसा नही कर सके। उन्होने त्रैराशिकवाद का प्रवर्तन किया।

७ **अबद्धिकवाद**—कर्म जीव के साथ बँधता नही, वह केचुल की तरह जीव का मात्र स्पर्श किये साथ लगा रहता है। अबद्धिकवादी ऐसा मानते हैं। गोष्ठमाहिल इस बाद के प्रवर्तक थे।[1]

इसके प्रवर्तन की कथा इस प्रकार है—

दुर्बलिका पुष्यमित्र, जो आर्यरक्षित के उत्तराधिकारी थे, अपने विन्ध्य नामक शिष्य को कर्म-प्रवाद के बन्धाधिकार का अभ्यास करा रहे थे। वहाँ यथाप्रसग कर्म के द्विविध रूप की चर्चा आई—जैसे गीली दीवार पर सटाई गई मिट्टी दीवार से चिपक जाती है, वैसे ही कुछ कर्म ऐसे है, जो आत्मा के साथ चिपक जाते है, एकाकार हो जाते हैं। जिस प्रकार सूखी दीवार पर सटाई गई मिट्टी केवल दीवार का स्पर्श कर नीचे गिर जाती है, उसी प्रकार कुछ कर्म ऐसे हैं, जो आत्मा का स्पर्श मात्र करते है, गाढ रूप मे बधते नही। गोष्ठामाहिल ने यह सुना। वह सशक हुआ। उसने अपनी शका उपस्थित की कि यदि आत्मा और कर्म एकाकार हो जाए तो वे पृथक्-पृथक् नही हो सकते। अत यही न्याय-सगत है कि कर्म आत्मा के साथ बधते नही, आत्मा का केवल सस्पर्श करते हैं। दुर्बलिका पुष्यमित्र ने गोष्ठामाहिल को वस्तु-स्थिति समझाने का प्रयत्न किया पर गोष्ठामाहिल ने अपना दुराग्रह नही छोडा तथा अबद्धिकवाद का प्रवर्तन किया।

बहुरतवाद भगवान् महावीर के कैवल्य-प्राप्ति के चौदह वर्ष पश्चात्, जीवप्रादेशिकवाद कैवल्य-प्राप्ति के सोलह वर्ष पश्चात्, अव्यक्तवाद भगवान् महावीर के निर्वाण के एक सौ चौदह वर्ष पश्चात्, सामुच्छेदिकवाद निर्वाण के दो सौ वर्ष पश्चात्, द्वैक्रियवाद निर्वाण के दो सौ अट्ठाईस वर्ष पश्चात्, त्रैराशिकवाद निर्वाण के पाँच सौ चवालीस वर्ष पश्चात् तथा अबद्धिकवाद निर्वाण के छह सौ नौ वर्ष पश्चात् प्रवर्तित हुआ।

---

१ अबद्ध सत् कर्म कञ्चुकवत् पार्श्वतः स्पृष्टमात्र जीव समनुगच्छतीत्येवं वदन्तीत्यबद्धिका, गोष्ठामाहिलमतावलम्बिन।
—औपपातिक सूत्र वृत्ति पत्र १०६

जमालि, रोहगुप्त तथा गोष्ठामाहिल के अतिरिक्त अन्य सभी निह्नव अपनी अपनी भूलो का प्रायश्चित्त लेकर पुन सघ मे सम्मिलित हो गये। जमालि, रोहगुप्त तथा गोष्ठामाहिल, जो सघ से अन्त तक पृथक् ही रहे, उनकी कोई परम्परा नही चली। न उनका कोई साहित्य ही उपलब्ध है।

अल्पारंभी आदि मनुष्यों का उपपात

१२३—सेज्जे इमे गामागर जाव[1] सण्णिवेसेसु मणुया भवंति, तं जहा—अप्पारंभा, अप्पपरिग्गहा, धम्मिया, धम्माणुया, धम्मिट्ठा, धम्मक्खाई, धम्मप्पलोई, धम्मपलज्जणा, धम्मसमुदायारा, धम्मेणं चेव वित्तिं कप्पेमाणा, सुसीला, सुव्वया, सुप्पडियाणंदा साहूहिं एगच्चाओ पाणाइवायाओ पडिविरया जावज्जीवाए, एगच्चाओ अपडिविरया एव जाव (एगच्चाओ मुसावायाओ पडिविरया जावज्जीवाए, एगच्चाओ अपडिविरया, एगच्चाओ अदिण्णादाणाओ पडिविरया जावज्जीवाए एगच्चाओ अपडिविरया, एगच्चाओ मेहुणाओ पडिविरया जावज्जीवाए एगच्चाओ अपडिविरया, एगच्चाओ परिग्गहाओ पडिविरया जावज्जीवाए, एगच्चाओ अपडिविरया) एगच्चाओ कोहाओ, माणाओ, मायाओ, लोहाओ, पेज्जाओ, दोसाओ, कलहाओ, अब्भक्खाणाओ, पेसुण्णाओ, परपरिवायाओ, अरइरइओ, मायामोसाओ, मिच्छादंसणसल्लाओ पडिविरया जावज्जीवाए, एगच्चाओ अपडिविरया, एगच्चाओ आरंभसमारंभाओ पडिविरया जावज्जीवाए, एगच्चाओ अपडिविरया, एगच्चाओ करणकारावणाओ पडिविरया जावज्जीवाए एगच्चाओ अपडिविरया, एगच्चाओ पयण-पयावणाओ पडिविरया जावज्जीवाए, एगच्चाओ पयणपयावणाओ अपडिविरया, एगच्चाओ कोट्टण-पट्टिणतज्जणतालणवहबंधपरिकिलेसाओ पडिविरया जावज्जीवाए, एगच्चाओ अपडिविरिया, एगच्चाओ ण्हाणमद्दणवण्णगविलेवणसद्दफरिसरसरूवगंधमल्लालंकाराओ पडिविरया जावज्जीवाए, एगच्चाओ अपडिविरया, जेयावण्णे तहप्पगारा सावज्जजोगोवहिया कम्मंता परपाणपरियावणकरा कज्जंति, तओ वि एगच्चाओ पडिविरया जावज्जीवाए, एगच्चाओ अपडिविरया।

१२३—ग्राम, आकर, सन्निवेश आदि मे जो ये मनुष्य होते है, जैसे अल्पारंभ—अल्प—थोडी हिंसा से जीवन चलानेवाले, अल्पपरिग्रह—सीमित धन, धान्य आदि मे सन्तोष रखनेवाले, धार्मिक—श्रुत-चारित्ररूप धर्म का आचरण करनेवाले, धर्मानुग—श्रुतधर्म या आगमानुमोदित धर्म का अनुगमन—अनुसरण करनेवाले धर्मिष्ठ—धर्मप्रिय—धर्म मे प्रीति रखनेवाले, धर्माख्यायी—धर्म का आख्यान करनेवाले, भव्य प्राणियो को धर्म बतानेवाले अथवा धर्मख्याति—धर्म द्वारा ख्याति प्राप्त करनेवाले, धर्मप्रलोकी—धर्म को उपादेय रूप मे देखनेवाले, धर्मप्ररजन—धर्म मे विशेष रूप से अनुरक्त रहनेवाले, धर्मसमुदाचार—धर्म का सानन्द, सम्यक् आचरण करनेवाले, धर्मपूर्वक अपनी जीविका चलानेवाले, सुशील—उत्तम शील—आचारयुक्त, सुव्रत—श्रेष्ठ व्रतयुक्त, सुप्रत्यानन्द—आत्मपरितुष्ट, वे साधुओ के पास—साधुओ के साक्ष्य से अशत—स्थूल रूप मे जीवनभर के लिए हिंसा से, (असत्य से, चोरी से, अब्रह्मचर्य से, परिग्रह से) क्रोध से, मान से, माया से, लोभ से, प्रेय से, द्वेष से, कलह से, अभ्याख्यान से, पैशुन्य से, परपरिवाद से, रति-अरति से तथा मिथ्यादर्शनशल्य से प्रतिविरत—निवृत्त होते है, अशत—सूक्ष्मरूप मे अप्रतिविरत—अनिवृत्त होते हैं, अशत.—स्थूल रूप मे जीवन भर के लिए आरम्भ-समारम्भ से विरत होते है, अशत—सूक्ष्म रूप मे अविरत होते है, वे जीवन भर के लिए अशत किसी क्रिया के करने-कराने से प्रतिविरत होते है, अशतः अप्रतिविरत होते हैं, वे जीवन भर के लिए अशत. पकाने, पकवाने से प्रतिविरत होते हैं, अशत अप्रतिविरत

होते हैं, वे जीवन भर के लिये कूटने, पीटने, तर्जित करने—कटु वचनों द्वारा भर्त्सना करने, ताड़ना करने, थप्पड़ आदि द्वारा ताड़ित करने, वध—प्राण लेने, बन्ध—रस्सी आदि से बाँधने, परिक्लेश—पीडा देने से अंशत. प्रतिविरत होते हैं, अशत: अप्रतिविरत होते है, वे जीवन भर के लिए स्नान, मर्दन, वर्णक, विलेपन, शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गन्ध, माला तथा अलकार से अशत: प्रतिविरत होते हैं, अशत: अप्रतिविरत होते हैं, इसी प्रकार और भी पापमय प्रवृत्ति युक्त, छल-प्रपच युक्त, दूसरो के प्राणो को कष्ट पहुचानेवाले कर्मों से जीवन भर के लिए अशत प्रतिविरत होते है, अंशत: अप्रतिविरत होते हैं।

१२४—तं जहा—समणोवासगा भवंति, अभिगयजीवाजीवा, उवलद्धपुण्णपावा, आसव-संवर-निज्जर-किरिया-अहिगरण-बध-मोक्ख-कुसला, असहेज्जा, देवासुर-णाग-जक्ख-रक्खस-किन्नर-किंपुरिस-गरुल-गधव्व-महोरगाइएहिं देवगणेहिं निग्गंथाओ पावयणाओ अणइक्कमणिज्जा, निग्गंथे पावयणे णिस्संकिया, णिक्कंखिया, निव्वितिगिच्छा, लद्धट्ठा, गहियट्ठा, पुच्छियट्ठा, अभिगयट्ठा, विणिच्छियट्ठा अट्ठिमिंजपेमाणुरागरत्ता "अयमाउसो ! निग्गंथे पावयणे अट्ठे, अयं परमट्ठे, सेसे अणट्ठे" ऊसिय-फलिहा, अवंगुयदुवारा, चियत्ततेउरपुरघरप्पवेसा चउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहं सम्मं अणुपालेत्ता समणे निग्गथे फासुएसणिज्जेणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं, वत्थपडिग्गहकबलपाय-पुच्छणेण, ओसहभेसज्जेण पडिहारएण य पीढफलगसेज्जासंथारएणं पडिलाभेमाणा विहरंति, विहरित्ता भत्तं पच्चक्खंति । ते बहूइं भत्ताइं अणसणाए छेदेंति, छेदित्ता आलोइयपडिक्कंता, समाहिपत्ता कालमासे कालं किच्चा उक्कोसेणं अच्चुए कप्पे देवत्ताए उववत्तारो भवंति । तहिं तेसिं गई, बावीसं सागरोवमाइं ठिई, आराहगा, सेसं तहेव ।

१२४—ऐसे श्रमणोपासक—गृही साधक होते है, जिन्होने जीव, अजीव आदि पदार्थों का स्वरूप भली भाति समझा है, पुण्य और पाप का भेद जाना है, आस्रव, सवर, निर्जरा, क्रिया, अधिकरण, बन्ध एव मोक्ष को भली भाँति अवगत किया है, जो किसी दूसरे की सहायता के अनिच्छुक हैं—आत्मनिर्भर हैं, जो देव, नाग, सुपर्ण, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किंपुरुष, गरुड, गन्धर्व, महोरग आदि देवो द्वारा निर्ग्रन्थ-प्रवचन से अनतिक्रमणीय—विचलित नही किये जा सकने योग्य हैं, निर्ग्रन्थ-प्रवचन मे जो नि शक—शकारहित, निष्काक्ष—आत्मोत्थान के अतिरिक्त अन्य आकाक्षा रहित, निर्वि-चिकित्स—विचिकित्सा या सशयरहित, लब्धार्थ—धर्म के यथार्थ तत्त्व को प्राप्त किए हुए, गृहीतार्थ—उसे ग्रहण किये हुए, पृष्टार्थ—जिज्ञासा या प्रश्न द्वारा उसे स्थिर किये हुए, अभिगतार्थ—स्वायत्त किये हुए, विनिश्चितार्थ—निश्चित रूप मे आत्मसात् किये हुए हैं, जो अस्थि और मज्जा तक धर्म के प्रति प्रेम तथा अनुराग से भरे हैं, जिनका यह निश्चित विश्वास है, निर्ग्रन्थ-प्रवचन ही अर्थ—प्रयोजनभूत है, इसके सिवाय अन्य अनर्थ—अप्रयोजनभूत हैं, उच्छित-परिघ—जिनके घर के किवाडों के आगल नही लगी रहती हो, अपावृतद्वार—जिनके घर के दरवाजे कभी बन्द नही रहते हो—भिक्षुक, याचक, अतिथि आदि खाली न लौट जाए, इस दृष्टि से जिनके घर के दरवाजे सदा खुले रहते हो, त्यक्तान्त.पुरगृहद्वारप्रवेश—शिष्ट जनो के आवागमन के कारण घर के भीतरी भाग में उनका प्रवेश जिन्हे अप्रिय नही लगता हो, या अन्त पुर अथवा घर मे जिनका प्रवेश प्रीतिकर हो, चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या एव पूर्णिमा को परिपूर्ण पौषध का सम्यक् अनुपालन करते हुए, श्रमण-निर्ग्रन्थो को प्रासुक—अचित्त, एषणीय—निर्दोष अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य आहार, वस्त्र, पात्र, कम्बल, पाद-प्रोञ्छन, औषध—जडी, बूटी आदि वनौषधि,

भेषज—तैयार औषधि, दवा, प्रतिहारिक—लेकर वापस लौटा देने योग्य वस्तु, पाट, बाजोट, ठहरने का स्थान, बिछाने के लिए घास आदि द्वारा प्रतिलाभित करते हुए विहार करते हैं—जीवन-यापन करते हैं; इस प्रकार का जीवन जीते हुए वे अन्ततः भोजन का त्याग कर देते हैं। बहुत से भोजन-काल अनशन द्वारा विच्छिन्न करते है, बहुत दिनो तक निराहार रहते हैं। वैसा कर वे पाप-स्थानों की आलोचना करते हैं, उनसे प्रतिक्रान्त होते है—प्रतिक्रमण करते हैं। यों समाधि अवस्था प्राप्त कर मृत्यु-काल आने पर देह-त्याग कर उत्कृष्टतः अच्युत कल्प मे वे देव रूप मे उत्पन्न होते हैं। अपने स्थान के अनुरूप वहाँ उनकी गति होती है। उनकी स्थिति बाईस सागरोपम-प्रमाण होती है। वे परलोक के आराधक होते हैं। अवशेष वर्णन पूर्ववत् है।

१२५—सेज्जे इमे गामागर जाव[1] सण्णिवेसेसु मणुया भवंति, तं जहा—अणारंभा, अपरिग्गहा धम्मिया जाव (धम्माणुया, धम्मिट्ठा, धम्मक्खाई, धम्मपलोई, धम्मपलज्जणा, धम्मसमुदायारा, धम्मेण चेव वित्तिं कप्पेमाणा सुसीला, सुव्वया, सुपडियाणंदा, साहू, सव्वाओ पाणाइवायाओ पडिविरया, जाव (सव्वाओ मुसावायाओ पडिविरया, सव्वाओ, अदिण्णादाणाओ पडिविरया, सव्वाओ मेहुणाओ पडिविरया) सव्वाओ परिग्गहाओ पडिविरया, सव्वाओ, कोहाओ, माणाओ, मायाओ, लोभाओ जाव (पेज्जाओ, दोसाओ, कलहाओ, अब्भक्खाणाओ, पेसुण्णाओ, परपरिवायाओ, अरइरईओ, माया-मोसाओ) मिच्छादंसणसल्लाओ पडिविरया, सव्वाओ आरंभसमारंभाओ पडिविरया, सव्वाओ करणकारावणाओ पडिविरिया, सव्वाओ पयणपयावणाओ पडिविरया, सव्वाओ कोट्टणपिट्टणतज्जण-तालणवहबंधपरिकिलेसाओ पडिविरया, सव्वाओ ण्हाण-मद्दण-वण्णग-विलेवण-सद्द-फरिस-रस-रूव-गंध-मल्लालंकाराओ पडिविरया, जे यावण्णे तहप्पगारा सावज्जजोगोवहिया कम्मंता परपाणपरिया-वणकरा कज्जंति, तओ वि पडिविरया जावज्जीवाए।

१२५—ग्राम, आकर, सन्निवेश आदि मे जो ये मनुष्य होते हैं, जैसे—अनारंभ—आरंभरहित, अपरिग्रह—परिग्रहरहित, धार्मिक, (धर्मानुग, धर्मिष्ठ, धर्माख्यायी, धर्मप्रलोकी, धर्मप्ररजन, धर्म-समुदाचार, धर्मपूर्वक जीविका चलाने वाले,) सुशील, सुव्रत, स्वात्मपरितुष्ट, वे साधुओं के साक्ष्य से जीवन भर के लिए सम्पूर्णतः—सब प्रकार की हिंसा, सम्पूर्णतः असत्य, सम्पूर्णतः चोरी, सम्पूर्णतः अब्रह्मचर्य तथा सम्पूर्णतः परिग्रह से प्रतिविरत होते हैं, सम्पूर्णतः क्रोध से, मान से, माया से, लोभ से, (प्रेय से, द्वेष से, कलह से, अभ्याख्यान से, पैशुन्य से परपरिवाद से अरति-रति से, मायामृषा से,) मिथ्यादर्शनशल्य से प्रतिविरत होते हैं, सब प्रकार के आरंभ-समारंभ से प्रतिविरत होते है, करने, तथा कराने से संपूर्णतः प्रतिविरत होते हैं, पकाने एवं पकवाने से सर्वथा प्रतिविरत होते हैं, कूटने, पीटने, तर्जित करने, ताडित करने, किसी के प्राण लेने, रस्सी आदि से बाँधने एवं किसी को कष्ट देने से सम्पूर्णतः प्रतिविरत होते हैं, स्नान, मर्दन, वर्णक, विलेपन, शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गन्ध, माला, और अलंकार से सम्पूर्ण रूप मे प्रतिविरत होते हैं, इसी प्रकार और भी पाप-प्रवृत्तियुक्त, छल-प्रपंचयुक्त, दूसरो के प्राणो को कष्ट पहुंचाने वाले कर्मों से जीवन भर के लिए सम्पूर्णतः प्रतिविरत होते हैं।

अनारंभी श्रमण

१२६—से जहाणामए अणगारा भवंति—इरियासमिया, भासासमिया, जाव (एसणासमिया

१. देखें सूत्र-संख्या ७१

आयाणभंडमत्तनिक्खेवणासमिया, उच्चारपासवण-खेलसिंघाणजल्लपरिट्ठावणियासमिया, मणगुत्ता, वयगुत्ता, कायगुत्ता, गुत्ता, गुत्तिंदिया, गुत्तबंभयारी, अममा, अकिंचणा, छिण्णगंथा, छिण्णसोया, निरुवलेवा, कंसपाईव मुक्कतोया, संख इव निरंगणा, जीवो इव अप्पडिहयगई, जच्चकणगं पिव जायरूवा, आदरिसफलगा इव पागडभावा, कुम्मो इव गुत्तिंदिया, पुक्खरपत्तं इव निरुवलेवा, गगणमिव निरालंबणा, अणिलो इव निरालया, चंदो इव सोमलेसा, सूरो इव दित्ततेया, सागरो इव गंभीरा, विहग इव सव्वओ विप्पमुक्का, मंदरा इव अप्पकंपा, सारयसलिलं इव सुद्धहियया, खग्गिविसाणं इव एगजाया, भारंडपक्खी इव अप्पमत्ता कुंजरो इव सोंडीरा वसभो इव जायत्थामा, सीहो इव दुद्धरिसा, वसुंधरा इव सव्वफासविसहा, सुहुयहुयासणो इव तेयसा जलंता) इणमेव निग्गंथं पावयणं पुरओकाउं विहरंति।

१२६—वे अनगार—श्रमण ऐसे होते हैं, जो ईर्या—गमन, हलन-चलन आदि क्रिया, भाषा, आहार आदि की गवेषणा, याचना, पात्र आदि के उठाने, इधर-उधर रखने आदि मे, मल, मूत्र, खखार, नाक आदि का मैल त्यागने में समित—सम्यक् प्रवृत्त—यतनाशील होते हैं, जो मनोगुप्त, वचोगुप्त, कायगुप्त—मन, वचन तथा शरीर की क्रियाओ का गोपायन—सयम करने वाले, गुप्त—शब्द आदि विषयो मे रागरहित—अन्तर्मुख, गुप्तेन्द्रिय—इन्द्रियो को उनके विषय-व्यापार मे लगाने की उत्सुकता से रहित, गुप्त ब्रह्मचारी—नियमोपनियम पूर्वक ब्रह्मचर्य का सरक्षण—परिपालन करने वाले, अमम—ममत्वरहित, अकिञ्चन—परिग्रहरहित, छिन्नग्रन्थ—समार से जोडनेवाले पदार्थों से विमुक्त, छिन्नस्रोत—लोक-प्रवाह मे नही बहनेवाले या आस्रवो को रोक देने वाले, निरुपलेप—कर्म-बन्ध के लेप से रहित, कासे के पात्र मे जैसे पानी नही लगता, उसी प्रकार स्नेह, आसक्ति आदि के लगाव से रहित, शख के समान निरगण—राग आदि की रजनात्मकता से शून्य—शख जैसे सम्मुखीन रग से अप्रभावित रहता है, उसी प्रकार सम्मुखीन क्रोध, द्वेष, राग, प्रेम, प्रशसा, निन्दा आदि से अप्रभावित, जीव के समान अप्रतिहत—प्रतिघात या निरोध रहित गतियुक्त, जात्य—उत्तम जाति के, विशोधित, अन्य कुधातुओ से अमिश्रित शुद्ध स्वर्ण के समान जातरूप—प्राप्त निर्मल चारित्र्य मे उत्कृष्ट भाव से सस्थित—निर्दोष चारित्र्य के प्रतिपालक, दर्पणपट्ट के सदृश प्रकट भाव—प्रवचना, छलना व कपट रहित शुद्ध भाव युक्त, कछुए की तरह गुप्तेन्द्रिय—इन्द्रियो को विषयो से खीच कर निवृत्ति-भाव मे सस्थित रखने वाले, कमलपत्र के समान निर्लेप, आकाश के सदृश निरालम्ब—निरपेक्ष, वायु की तरह निरालय—गृहरहित, चन्द्रमा के समान सौम्य लेश्यायुक्त—सौम्य, सुकोमल-भाव-सवलित, सूर्य के समान दीप्त तेज—दैहिक तथा आत्मिक तेज युक्त, समुद्र के समान गम्भीर, पक्षी की तरह सर्वथा विप्रमुक्त—मुक्तपरिकर, अनियतवास—परिवार, परिजन आदि से मुक्त तथा निश्चित निवास रहित, मेरु पर्वत के समान अप्रकम्प—अनुकूल, प्रतिकूल स्थितियो मे, परिषहो मे अविचल, शरद् ऋतु के जल से समान शुद्ध हृदय युक्त, गेडे के सीग के समान एक जात—राग आदि विभावों से रहित, एकमात्र आत्मनिष्ठ, भारन्ड[1] पक्षी के समान अप्रमत—प्रमादरहित, जागरूक, हाथी के सदृश शौण्डीर—कषाय आदि को जीतने मे शक्तिशाली, बलोन्नत, वृषभ के समान धैर्यशील—सुस्थिर,

१ ऐसी मान्यता है—भारण्ड पक्षी के एक शरीर, दो सिर तथा तीन पैर होते हैं। उसकी दोनो ग्रीवाएँ अलग-अलग होती हैं। यो वह दो पक्षियो का समन्वित रूप लिये होता है। उसे अपने जीवन-निर्वाह हेतु खानपान आदि क्रियाओ मे अत्यन्त प्रमादरहित या जागरूक रहना होता है।

सिंह के सदृश दुर्धर्ष—परिषहों, कष्टो से अपराजेय, पृथ्वी के समान सभी शीत, उष्ण, अनुकूल, प्रतिकूल स्पर्शों को समभाव से सहने में सक्षम तथा घृत द्वारा भली भाँति हुत—हवन की हुई अग्नि के समान तेज से जाज्वल्यमान—ज्ञान तथा तप के तेज से दीप्तिमान होते हैं, निर्ग्रन्थ-प्रवचन—वीतराग-वाणी—जिन-आज्ञा को सम्मुख रखते हुए विचरण करते हैं—ऐसे) पवित्र आचारयुक्त जीवन का सन्निर्वाह करते हैं।

१२७—तेसि णं भगवंताणं एएणं विहारेणं विहरमाणाणं अत्थेगइयाणं अणंते जाव (अणुत्तरे, णिव्वाघाए, निरावरणे कसिणे, पडिपुण्णे केवलवरनाणदंसणे समुप्पज्जइ। ते बहूइ वासाइं केवलिपरियागं पाउणंति, पाउणित्ता भत्तं पच्चक्खंति, भत्तं पच्चक्खित्ता बहूइं भत्ताइं अणसणाए छेदेंति, छेदित्ता जस्सट्ठाए कीरइ नग्गभावे जाव (मुंडभावे, अण्हाणए, अदंतवणए, केसलोए, बम्भचेरवासे, अच्छत्तगं, अणोवाहणगं, भूमिसेज्जा, फलहसेज्जा, कट्ठसेज्जा, परघरपवेसो लद्धावलद्धं, परेहिं हीलणाओ, खिसणाओ, निंदणाओ, गरहणाओ तालणाओ, तज्जणाओ, परिभवणाओ, पव्वहणाओ, उच्चावया गामकटगा बावीस परीसहोवसग्गा अहियासिज्जंति, तमट्ठमाराहित्ता चरिमेहिं उस्सास-णिस्सासेहिं सिज्झति, बुज्झति, मुच्चति, परिणिव्वायति सव्वदुक्खाण) अत करंति।

१२७—ऐसी चर्या द्वारा सयमी जीवन का सन्निर्वाह करने वाले पूजनीय श्रमणो मे से कइयो को अनन्त—अन्तरहित, (अनुत्तर—सर्वश्रेष्ठ, निर्व्याघात—बाधारहित या व्यवधानरहित, निरावण—आवरणरहित, कृत्स्न—समग्र—सर्वार्थग्राहक, प्रतिपूर्ण—परिपूर्ण—अपने समस्त अविभागी अंशो से युक्त) केवलज्ञान, केवलदर्शन समुत्पन्न होता है। वे बहुत वर्षों तक केवलिपर्याय का पालन करते हैं– कैवल्य-अवस्था मे विचरण करते है। अन्त मे आहार का परित्याग करते है, अनशन सम्पन्न कर (जिस लक्ष्य के लिए नग्नभाव—शरीर-सस्कार सम्बन्धी औदासीन्य, मुण्डभाव—श्रामण्य, अस्नान, अदन्तवन, केश-लुंचन, ब्रह्मचर्यवास, छत्र—छाते तथा उपानह—जूते, पादरक्षिका का अग्रहण, भूमि, फलक व काष्ठपट्टिका पर शयन, प्राप्त अप्राप्त की चिन्ता किए बिना भिक्षा हेतु परगृहप्रवेश, अवज्ञा, अपमान, निन्दा, गर्हा, तर्जना, ताडना, परिभव, प्रव्यथा, अनेक इन्द्रिय-कष्ट, बाईस प्रकार के परिषह एव उपसर्ग आदि स्वीकार किये, उस लक्ष्य को पूर्ण कर अपने अन्तिम उच्छ्वास-नि श्वास मे सिद्ध होते हैं, बुद्ध होते हैं, मुक्त होते हैं, परिनिर्वृत होते हैं,) सब दु खो का अन्त करते हैं।

१२८—जेसि पि य णं एगइयाणं णो केवलवरनाणदंसणे समुप्पज्जइ, ते बहूइं वासाइं छउमत्थपरियागं पाउणति, पाउणित्ता आबाहे उप्पण्णे वा अणुप्पण्णे वा भत्त पच्चक्खंति। ते बहूइं भत्ताइ अणसणाए छेदेंति, जस्सट्ठाए कीरइ नग्गभावे जाव[1] तमट्ठमाराहित्ता चरिमेहिं ऊसासणीसासेहिं अणंतं अणुत्तरं, निव्वाघाय, निरावरणं, कसिण, पडिपुण्णं केवलवरनाणदसणं उप्पादेंति, तओ पच्छा सिज्झिहिंति जाव[2] अत करेहिंति।

१२८—जिन कइयो—कतिपय अनगारो को केवलज्ञान, केवलदर्शन, उत्पन्न नही होता, वे बहुत वर्षों तक छद्मस्थ-पर्याय—कर्मावरणयुक्त अवस्था मे होते हुए सयम-पालन करते हैं—साधना

१ देखें सूत्र-सख्या १२७

२ देखे सूत्र-सख्या १२७

रत रहते हैं। फिर किसी आबाध—रोग आदि विघ्न के उत्पन्न होने पर या न होने पर भी वे भोजन का परित्याग कर देते हैं। बहुत दिनो का अनशन करते हैं। अनशन सम्पन्न कर, जिस लक्ष्य से कष्ट-पूर्ण सयम-पथ स्वीकार किया, उसे आराधित कर—प्राप्त कर—पूर्ण कर अपने अन्तिम उच्छ्वास-नि:श्वास मे अनन्त, अनुत्तर, निर्व्याघात, निरावरण, कृत्स्न, प्रतिपूर्ण केवलज्ञान, केवलदर्शन प्राप्त करते हैं। तत्पश्चात् सिद्ध होते हैं, सब दु खो का अन्त करते हैं।

१२९—एगच्चा पुण एगे भयतारो पुव्वकम्मावसेसेणं कालमासे कालं किच्चा उक्कोसेणं सव्वट्ठसिद्धे महाविमाणे देवत्ताए उववत्तारो भवंति। तहिं तेसिं गई, तेत्तीसं सागरोवमाइं ठिई, आराहगा, सेस तं चेव।

१२९—कई एक ही भव करने वाले—भविष्य मे केवल एक ही बार मनुष्य-देह धारण करने वाले भगवन्त—भक्ता-अनुष्ठानविशेषसेवी अथवा भयत्राता—सयममयी साधना द्वारा ससार-भय से अपना परित्राण करने वाले—सासारिक मोह-माया से अव्याप्त या अप्रभावित साधक जिनके पूर्व-सचित कर्मों मे से कुछ क्षय अवशेष है—उनके कारण, मृत्यु-काल आने पर देह-त्याग कर उत्कृष्ट सर्वार्थसिद्ध महाविमान मे देवरूप मे उत्पन्न होते हैं। वहाँ अपने स्थान के अनुरूप उनकी गति होती है। उनकी स्थिति तेतीस सागरोपम-प्रमाण होती है। वे परलोक के आराधक होते है। शेष पूर्ववत्।

सर्वकामादिविरत मनुष्यों का उपपात

१३०—सेज्जे इमे गामागर जाव[1] सण्णिवेसेसु मणुया भवंति, तं जहा—सव्वकामविरया, सव्वरागविरया, सव्वसंगातीता, सव्वसिणेहाइक्कंता, अक्कोहा, निक्कोहा, खीणक्कोहा एवं माणमाय-लोहा, अणुपुव्वेण अट्ठ कम्मपयडीओ खवेत्ता उप्पिं लोयग्गपइट्ठाणा हवंति।

१३०—ग्राम, आकर, सन्निवेश आदि मे जो ये मनुष्य होते हैं, जैसे—सर्वकामविरत—शब्द आदि समस्त काम्य विषयो से निवृत्त—उत्सुकता रहित, सर्वरागविरत—सब प्रकार के राग परिणामो से विरत, सर्व सगातीत—सब प्रकार की आसक्तियो से हटे हुए, सर्वस्नेहातिक्रान्त—सब प्रकार के स्नेह—प्रेमानुराग से रहित, अक्रोध—क्रोध को विफल करने वाले, निष्क्रोध—जिन्हे क्रोध आता ही नही—क्रोधोदयरहित, क्षीणक्रोध—जिनका क्रोधमोहनीय कर्म क्षीण हो गया हो, इसी प्रकार जिनके मान, माया, लोभ क्षीण हो गये हो, वे आठो कर्म-प्रकृतियो का क्षय करते हुए लोकाग्र—लोक के अग्र-भाग मे प्रतिष्ठित होते है—मोक्ष प्राप्त करते हैं।

केवलि-समुद्घात

१३१—अणगारे णं भंते! भावियप्पा केवलिसमुग्घाएणं समोहणित्ता, केवलकप्पं लोयं फुसित्ता णं चिट्ठइ?

हंता, चिट्ठइ।

१३१—भगवन्! भावितात्मा—अध्यात्मानुगत अनगार केवलि-समुद्घात द्वारा आत्मप्रदेशो को देह से बाहर निकाल कर, क्या समग्र लोक का स्पर्श कर स्थित होते हैं?

हाँ, गौतम! स्थित होते हैं।

---

१ देखें सूत्र-सख्या ७१

१३२—से णूणं भंते ! केवलकप्पे लोए तेहिं निज्जरापोग्गलेहिं फुडे ?

हंता फुडे ।

१३२—भगवन् ! क्या उन निर्जरा-प्रधान—अकर्मावस्था प्राप्त पुद्गलो से—खिरे हुए पुद्गलो से समग्र लोक स्पृष्ट—व्याप्त होता है ?

हाँ, गौतम ! होता है ।

१३३—छउमत्थे णं भंते ! मणुस्से तेसिं णिज्जरापोग्गलाणं किंचि वण्णेणं वण्णं, गंधेणं गंधं, रसेणं रसं, फासेणं फासं जाणइ पासइ ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे ।

१३३—भगवन् ! छद्मस्थ—कर्मावरणयुक्त, विशिष्टज्ञानरहित मनुष्य क्या उन निर्जरा-पुद्गलो के वर्णरूप से वर्ण को, गन्धरूप से गन्ध को, रसरूप से रस को तथा स्पर्शरूप से स्पर्श को जानता है ? देखता है ?

गौतम ! ऐसा संभव नही है ।

१३४—से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—'छउमत्थे णं मणुस्से तेसिं णिज्जरापोग्गलाणं णो किंचि वण्णेणं वण्णं जाव (गधेणं गंधं, रसेण रस, फासेणं फासं) जाणइ, पासइ ।

१३४—भगवन् ! यह किस अभिप्राय से कहा जाता है कि छद्मस्थ मनुष्य उन खिरे हुए पुद्गलों के वणरूप से वर्ण को, गन्धरूप से गन्ध को, रसरूप से रस को तथा स्पर्शरूप से स्पर्श को जरा भी नही जानता, नही देखता ।

१३५—गोयमा ! अय णं जबुद्दीवे दीवे सव्वदीवसमुद्दाणं सव्वब्भंतराए, सव्वखुड्डाए, वट्टे, तेलापूयसंठाणसंठिए वट्टे, रहचक्कवालसठाणसंठिए वट्टे, पुक्खरकण्णियासठाणसठिए वट्टे, पडिपुण्ण-चंदसंठाणसंठिए एक्क जोयणसयसहस्सं आयामविक्खंभेणं, तिण्णि जोयणसयसहस्साइं सोलससहस्साइं दोण्णि य सत्तावीसे जोयणसए तिण्णि य कोसे अट्ठावीसं च धणुसयं तेरस य अंगुलाइं अद्धंगुलियं च किंचि विसेसाहिए परिक्खेवेणं पण्णत्ते ।

१३५—गौतम ! यह जम्बूद्वीप नामक द्वीप सभी द्वीपो तथा समुद्रो के बिलकुल बीच मे स्थित है । यह आकार मे सबसे छोटा है, गोल है । तैल मे पके हुए पूए के समान गोल है । रथ के पहिये के आकार के सदृश गोल है । कमल-कर्णिका—कमल के बीज-कोष की तरह गोल है । पूर्ण चन्द्रमा के आकार के समान गोलाकार है । एक लाख योजन-प्रमाण लम्बा-चौडा है । इसकी परिधि तीन लाख सोलह हजार दो सौ योजन तीन कोस एक सौ अट्ठाईस धनुष तथा साढे तेरह अगुल से कुछ अधिक बतलाई गई है ।

१३६—देवे ण महिड्ढीए, महज्जुतीए, महब्बले, महाजसे, महासुक्खे, महाणुभावे सविलेवणं गंधसमुग्गयं गिण्हइ, गिहित्ता तं अवदालेइ, अवदालित्ता जाव इणामेव त्ति कट्टु केवलकप्पं जंबुद्दीवं दीवं तिहिं अच्छराणिवाएहिं तिसत्तक्खुत्तो अणुपरियट्टित्ता णं हव्वमागच्छेज्जा ।

१३६—एक अत्यधिक ऋद्धिमान्, द्युतिमान्, अत्यन्त बलवान्, महायशस्वी, परम सुखी, बहुत प्रभावशाली देव चन्दन, केसर आदि विलेपनोचित सुगन्धित द्रव्य से परिपूर्ण डिब्बा लेता है, लेकर उसे खोलता है, खोलकर—उस सुगन्धित द्रव्य को सर्वत्र बिखेरता हुआ तीन चुटकी बजाने जितने समय मे समस्त जम्बूद्वीप की इक्कीस परिक्रमाएँ कर तुरन्त आ जाता है।[1]

१३७—से णूण गोयमा ! से केवलकप्पे जबुद्दीवे दीवे तेहिं घाणपोग्गलेहिं फुडे ?

हंता फुडे।

१३७—क्या समस्त जम्बूद्वीप उन घ्राण-पुद्गलो—गन्ध-परमाणुओ से स्पृष्ट—व्याप्त होता है ?

हाँ, भगवन् ! होता है।

१३८—छउमत्थे णं गोयमा ! मणुस्से तेसिं घाणपोग्गलाणं किंचि वण्णेणं वण्णं जाव[2] जाणइ, पासइ ?

भगव ! णो इणट्ठे समट्ठे।

१३८—गौतम ! क्या छद्मस्थ मनुष्य घ्राण-पुद्गलो को वर्ण रूप से वर्ण आदि को जरा भी जान पाता है ? देख पाता है ?

भगवन् ! ऐसा सभव नही है।

१३९—से तेणट्ठेणं गोयमा ! एव वुच्चइ—छउमत्थे ण मणुस्से तेसिं णिज्जरापोग्गलाण णो किंचि वण्णेण वण्ण जाव[3] जाणइ, पासइ।

१३९—गौतम ! इस अभिप्राय से यह कहा जाता है कि छद्मस्थ मनुष्य उन खिरे हुए पुद्गलो के वर्णरूप से वर्ण आदि को जरा भी नही जानता, नही देखता।

१४०—सुहुमा ण ते पोग्गला पण्णत्ता, समणाउसो ! सव्वलोय पि य ण ते फुसित्ता णं चिट्ठति।

१४०—आयुष्मान् श्रमण ! वे पुद्गल इतने सूक्ष्म कहे गये है। वे समग्र लोक का स्पर्श कर स्थित रहते है।

केवली-समुद्घात का हेतु

१४१—कम्हा णं भंते ! केवली समोहणंति ? कम्हा णं केवली समुग्घायं गच्छति ?

---

१ 'जाव इणामेवेत्तिकट्टु' त्ति यावदिति परिमाणार्थस्तावदित्यस्य गम्यमानस्य सव्यपेक्ष , 'इणामेव' त्ति इद गमनम्, एवमिति चप्पुटिकारूपशीघ्रत्वावेदकहस्तव्यापारोपदर्शनपर , अनुस्वाराश्रयण च प्राकृतत्वात्, द्विर्वचन च शीघ्रतातिशयोपदर्शनपरम्, इति रूपप्रदर्शनार्थ । —औपपातिक सूत्र वृत्ति, पत्र १०९

२. देखें सूत्र-सख्या १३३

३ देखें सूत्र-सख्या १३३

गोयमा ! केवली णं चत्तारि कम्मंसा अपलिक्खीणा भवंति, तं जहा—१. वेयणिज्जं, २. आउयं, ३. णामं, ४. गोत्तं। सव्वबहुए से वेयणिज्जे कम्मे भवइ। सव्वत्थोए से आउए कम्मे भवइ। विसमं समं करेइ बंधणेहिं ठिईहि य, विसमसमकरणयाए बंधणेहिं ठिईहि य। एवं खलु केवली समोहणंति, एवं खलु केवली समुग्घाय गच्छंति।

१४१—भगवन् ! केवली किस कारण समुद्घात करते हैं—आत्मप्रदेशों को विस्तीर्ण करते हैं।

गौतम ! केवलियो के वेदनीय, आयुष्य, नाम तथा गोत्र—ये चार कर्मांश अपरिक्षीण होते हैं—सर्वथा क्षीण नही होते, उनमें वेदनीय कर्म सबसे अधिक होता है, आयुष्य कर्म सबसे कम होता है, बन्धन एव स्थिति द्वारा विषम कर्मों को वे सम करते हैं। यो बन्धन और स्थिति से विषम कर्मों को सम करने हेतु केवली आत्मप्रदेशो को विस्तीर्ण करते हैं, समुद्घात करते हैं।

१४२—सव्वे वि णं भंते ! केवली समुग्घायं गच्छंति ?

णो इणट्ठे समट्ठे;

अकित्ता णं समुग्घायं, अणंता केवली जिणा।
जरामरणविप्पमुक्का, सिद्धिं वरगइं गया॥

१४२—भगवन् ! क्या सभी केवली समुद्घात करते हैं ?

गौतम ! ऐसा नही होता।

समुद्घात किये बिना ही अनन्त केवली, जिन—वीतराग (जन्म,) वृद्धावस्था तथा मृत्यु से विप्रमुक्त—सर्वथा रहित होकर सिद्धि—सिद्धावस्था रूप सर्वोत्कृष्ट गति को प्राप्त हुए हैं।

समुद्घात का स्वरूप

१४३—कइसमए णं भंते ! आउज्जीकरणे पण्णत्ते ?

गोयमा ! असंखेज्जसमइए अंतोमुहुत्तिए पण्णत्ते।

१४३—भगवन् ! आवर्जीकरण—उदीरणावलिका मे कर्मप्रक्षेप व्यापार—कर्मों को उदयावस्था मे लाने का प्रक्रियाक्रम कितने समय का कहा गया है ?

गौतम ! वह असख्येय समयवर्ती अन्तर्मुहूर्त का कहा गया है।

१४४—केवलिसमुग्घाए णं भंते। कइसमइए पण्णत्ते ?

गोयमा ! अट्ठसमइए पण्णत्ते। तं जहा—पढमे समए दंडं करेइ, बिईए समए कवाडं करेइ, तइए समए मथं करेइ, चउत्थे समये लोयं पूरेइ, पंचमे समए लोय पडिसाहरइ, छट्ठे समए मंथं पडिसाहरइ, सत्तमे समए कवाडं पडिसाहरइ, अट्ठमे समए दंडं पडिसाहरइ। तओ पच्छा सरीरत्थे भवइ।

१४४—भगवन् ! केवली-समुद्घात कितने समय का कहा गया है ?

गौतम ! केवली-समुद्घात आठ समय का कहा गया है। जैसे—पहले समय में केवली आत्म-

प्रदेशों को विस्तीर्ण कर दण्ड के आकार मे करते हैं अर्थात् पहले समय मे उनके आत्मप्रदेश ऊर्ध्व-लोक तथा अधोलोक के अन्त तक प्रसृत होकर दण्डाकार हो जाते हैं। दूसरे समय मे वे (केवली) आत्मप्रदेशों को विस्तीर्ण कर कपाटाकार करते हैं—आत्मप्रदेश पूर्व तथा पश्चिम दिशा मे फैलकर कपाट का आकार धारण कर लेते हैं। तीसरे समय मे केवली उन्हें विस्तीर्ण कर मन्थानाकार करते है—आत्मप्रदेश दक्षिण तथा उत्तर दिशा मे फैलकर मथानी का आकार ले लेते हैं। चौथे समय केवली लोकशिखर सहित इनके अन्तराल की पूर्ति हेतु आत्मप्रदेशो को विस्तीर्ण करते हैं। पाचवें समय में अन्तराल स्थित आत्मप्रदेशो को प्रतिसहृत करते हैं—वापस सकुचित करते है। छठे समय मे मन्थानी के आकार मे अवस्थित आत्मप्रदेशो को प्रतिसहृत करते है। सातवे समय मे कपाट के आकार मे स्थित आत्मप्रदेशो को प्रतिसहृत करते है। आठवे समय मे दण्ड के आकार में स्थित आत्मप्रदेशो को प्रतिसहृत करते हैं। तत्पश्चात् वे (पूर्ववत्) शरीरस्थ हो जाते है।

१४५—से ण भंते ! तहा समुग्घायं गए किं मणजोगं जुंजइ ? वयजोगं जुंजइ ? कायजोगं जुंजइ ?

गोयमा ! णो मणजोगं जुंजइ, णो वयजोगं जुंजइ, कायजोगं जुंजइ।

१४५—भगवन् ! समुद्घातगत—समुद्घात मे प्रवर्तमान केवली क्या मनोयोग का प्रयोग करते है ? क्या वचन-योग का प्रयोग करते है ? क्या काय-योग का प्रयोग करते हैं ?

गौतम ! वे मनोयोग का प्रयोग नही करते। वचन-योग का प्रयोग नही करते। वे काय-योग का प्रयोग करते हैं। अर्थात् वे मानसिक तथा वाचिक कोई क्रिया न कर केवल कायिक क्रिया करते है।

१४६—कायजोगं जुंजमाणे किं ओरालियसरीरकायजोगं जुंजइ ? ओरालियमिस्ससरीर-कायजोगं जुंजइ ? वेउव्वियसरीरकायजोगं जुंजइ ? वेउव्वियमिस्ससरीरकायजोगं जुंजइ ? आहारग-सरीरकायजोगं जुंजइ ? आहारगमिस्ससरीरकायजोगं जुंजइ ? कम्मसरीरकायजोगं जुंजइ ?

गोयमा ! ओरालियसरीरकायजोगं जुंजइ, ओरालियमिस्ससरीरकायजोगं पि जुंजइ, णो वेउव्वियसरीरकायजोगं जुंजइ, णो वेउव्वियमिस्ससरीरकायजोगं जुंजइ, णो आहारगसरीरकायजोगं जुंजइ, णो आहारगमिस्ससरीरकायजोगं जुंजइ, कम्मसरीर-कायजोगं पि जुंजइ, पढमट्ठमेसु समएसु ओरालियसरीरकायजोगं जुंजइ, बिइयछट्ठसत्तमेसु समएसु ओरालियमिस्ससरीरकायजोगं जुंजइ, तइयचउत्थपंचमेहिं कम्मसरीरकायजोगं जुंजइ ?

१४६—भगवन् ! काय-योग को प्रयुक्त करते हुए क्या वे औदारिक-शरीर-काय-योग का प्रयोग करते है—औदारिक शरीर से क्रिया करते है ? क्या औदारिक-मिश्र—औदारिक और कार्मण—दोनो शरीरो से क्रिया करते हैं ? क्या वैक्रिय शरीर से क्रिया करते है ? क्या वैक्रिय-मिश्र—कार्मण-मिश्रित या औदारिक-मिश्रित वैक्रिय शरीर से क्रिया करते है ? क्या आहारक शरीर से क्रिया करते हैं ? क्या आहारक-मिश्र—औदारिक-मिश्रित आहारक शरीर से क्रिया करते हैं ? क्या कार्मण शरीर से क्रिया करते हैं ? अर्थात् सात प्रकार के काययोग में से किस काययोग का प्रयोग करते हैं ?

गौतम ! वे औदारिक-शरीर-काय-योग का प्रयोग करते हैं, औदारिक-मिश्र शरीर से भी क्रिया करते हैं। वे वैक्रिय शरीर से क्रिया नही करते। वैक्रिय-मिश्र शरीर से क्रिया नही करते। आहारक शरीर से क्रिया नही करते। आहारक-मिश्र शरीर से भी क्रिया नही करते। अर्थात् इन कायिक योगो का वे प्रयोग नही करते। पर औदारिक तथा औदारिक-मिश्र के साथ-साथ कार्मण-शरीर-काय-योग का भी प्रयोग करते हैं।

पहले और आठवें समय में वे औदारिक शरीर-काययोग का प्रयोग करते हैं। दूसरे, छठे और सातवें समय मे वे औदारिक मिश्र शरीर-काययोग का प्रयोग करते हैं। तीसरे, चौथे और पाँचवें समय में वे कार्मण शरीर-काययोग का प्रयोग करते हैं।

समुद्घात के पश्चात् योग-प्रवृत्ति

१४७—से णं भंते ! तहा समुग्घायगए सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिणिव्वाइ, सव्वदुक्खाण-मंतं करेइ ?

णो इणट्ठे समट्ठे ?

से ण तओ पडिणियत्तइ, पडिणियत्तित्ता इहमागच्छइ, आगच्छित्ता तओ पच्छा मणजोग पि जुंजइ, वयजोगं पि जुंजइ, कायजोगं पि जुजइ।

१४७—भगवन् ! क्या समुद्घातगत—समुद्घात करने के समय कोई सिद्ध होते है ? बुद्ध होते हैं ? मुक्त होते हैं ? परिनिर्वृत होते हैं—परिनिर्वाण प्राप्त करते है ? सब दु खो का अन्त करते हैं ?

गौतम ! ऐसा नही होता। वे उससे—समुद्घात से वापस लौटते है। लौटकर अपने ऐहिक—मनुष्य शरीर मे आते है—अवस्थित होते है। तत्पश्चात् मनोयोग, वचनयोग तथा काययोग का भी प्रयोग करते हैं—मानसिक, वाचिक एव कायिक क्रिया भी करते हैं।

१४८—मणजोग जुंजमाणे किं सच्चमणजोगं जुंजइ ? मोसमणजोग जुंजइ ? सच्चामोस-मणजोगं जुंजइ ? असच्चामोसमणजोगं जुंजइ ?

गोयमा ! सच्चमणजोग जुंजइ, णो मोसमणजोगं जुंजइ, णो सच्चामोसमणजोगं जुंजइ, असच्चामोसमणजोगं पि जुंजइ।

१४८—भगवन् ! मनोयोग का उपयोग करते हुए क्या सत्य मनोयोग का उपयोग करते है ? क्या मृषा—असत्य मनोयोग का उपयोग करते हैं ? क्या सत्य-मृषा—सत्य-असत्य मिश्रित (जिसका कुछ अंश सत्य हो, कुछ असत्य हो ऐसे) मनोयोग का उपयोग करते हैं ? क्या अ-सत्य-अ-मृषा—न सत्य, न असत्य—व्यवहार-मनोयोग का उपयोग करते है ?

गौतम ! वे सत्य मनोयोग का उपयोग करते हैं। असत्य मनोयोग का उपयोग नही करते। सत्य-असत्य-मिश्रित मनोयोग का उपयोग नहीं करते। किन्तु अ-सत्य-अ-मृषा-मनोयोग—व्यवहार मनोयोग का वे उपयोग करते हैं।

विवेचन—मन की प्रवृत्ति मनोयोग है। द्रव्य-मनोयोग तथा भाव-मनोयोग के रूप मे वह दो प्रकार का है। मन की प्रवृत्ति हेतु मनोवर्गणा के जो पुद्गल सगृहीत किये जाते हैं, उन्हे द्रव्य-मनोयोग कहा जाता है। उन गृहीत पुद्गलो के सहयोग से आत्मा जो मननात्मक प्रवृत्ति, वर्तमान, भूत, भविष्य आदि के सन्दर्भ मे चिन्तन, मनन, विमर्श आदि करती है, उसे भाव-मनोयोग कहा जाता है। केवली मे इसका सद्भाव नही रहता।

जैसा प्रस्तुत सूत्र मे सकेतित हुआ है, मनोयोग चार प्रकार का है—

१. सत्य मनोयोग, २ असत्य मनोयोग, ३ सत्य-असत्य-मिश्रित मनोयोग तथा ४ व्यवहार मनोयोग—मन की वैसी व्यावहारिक आदेश, निर्देश आदि से सम्बद्ध प्रवृत्ति, जो सत्य भी नही होती, असत्य भी नही होती।

१४९—वयजोगं जुंजमाणे किं सच्चवइजोगं जुंजइ ? मोसवइजोगं जुंजइ ? सच्चामोसवइजोगं जुंजइ ? असच्चामोसवइजोगं जुंजइ ?

गोयमा ! सच्चवइजोगं जुंजइ, णो मोसवइजोगं जुंजइ, णो सच्चामोसवइजोगं जुंजइ, असच्चामोसवइजोगं पि जुंजइ।

१४९—भगवन् ! वाक्योग को प्रयुक्त करते हुए—वचन-क्रिया मे प्रवृत्त होते हुए क्या सत्य वाक्-योग को प्रयुक्त करते है। क्या मृषा-वाक्-योग को प्रयुक्त करते है ? क्या सत्य-मृषा-वाक् योग को प्रयुक्त करते हैं ? क्या असत्य-अमृषा-वाक्-योग को प्रयुक्त करते है ?

गोतम ! वे सत्य-वाक्-योग को प्रयुक्त करते हैं। मृषा-वाक् योग को प्रयुक्त नही करते। न वे सत्य-मृषा-वाक्-योग को ही प्रयुक्त करते है। वे असत्य-अमृषा-वाक्-योग—व्यवहार-वचन-योग को भी प्रयुक्त करते है।

१५०—कायजोगं जुंजमाणे आगच्छेज्ज वा, चिट्ठेज्ज वा, णिसीएज्ज वा, तुयट्टेज्ज वा, उल्लंघेज्ज वा, पलंघेज्ज वा, उक्खेवणं वा, अवक्खेवणं वा, तिरियक्खेवणं वा करेज्जा पाडिहारियं वा पीढफलगसेज्जासंथारगं पच्चप्पिणेज्जा।

१५०—वे काययोग को प्रवृत्त करते हुए आगमन करते है, स्थित होते है—ठहरते हैं, बैठते हैं, लेटते हैं, उल्लघन करते हैं—लाघते हैं, प्रलघन करते हैं—विशेष रूप से लाघते है, उत्क्षेपण करते है—हाथ आदि को ऊपर करते है, अवक्षेपण करते हैं—नीचे करते है तथा तिर्यक् क्षेपण करते हैं—तिरछे या आगे-पीछे करते हैं। अथवा ऊँची, नीची और तिरछी गति करते हैं। काम मे ले लेने के बाद प्रातिहारिक—वापस लौटाने योग्य उपकरण—पट्ट, शय्या, सस्तारक आदि लौटाते हैं।

योग-निरोध : सिद्धावस्था

१५१—से णं भंते ! तहा सजोगी सिज्झइ, जाव (बुज्झइ, मुच्चइ, परिणिव्वाइ, सव्वदुक्खाणं) अंतं करेइ ?

णो इणट्ठे समट्ठे।

१५१—भगवन् ! क्या सयोगी—मन, वचन तथा काय योग से युक्त सिद्ध होते हैं ? (बुद्ध होते हैं ? मुक्त होते हैं ? परिनिर्वृत्त होते हैं—परिनिर्वाण प्राप्त करते हैं ?) सब दुःखो का अन्त करते है ?

गौतम ! ऐसा नही होता ।

१५२—से णं पुव्वामेव सण्णिस्स पंचिंदियस्स पज्जत्तगस्स जहण्णजोगिस्स हेट्ठा असंखेज्जगुणपरिहीणं पढमं मणजोग निरुंभइ, तयाणतरं च णं बिंदियस्स पज्जत्तगस्स जहण्णजोगिस्स हेट्ठा असंखेज्जगुणपरिहीणं बिइयं वइजोगं निरुंभइ, तयाणतरं च ण सुहुमस्स पणगजीवस्स अपज्जत्तगस्स जहण्णजोगिस्स हेट्ठा असंखेज्जगुणपरिहीण तइयं कायजोगं णिरुंभइ ।

१५२—वे सबसे पहले पर्याप्त—आहार आदि पर्याप्ति युक्त, सज्ञी—समनस्क पचेन्द्रिय जीव के जघन्य मनोयोग के नीचे के स्तर से असख्यातगुणहीन मनोयोग का निरोध करते है । अर्थात् इतना मनोव्यापार उनके बाकी रहता है । उसके बाद पर्याप्त द्वीन्द्रिय जीव के जघन्य वचन-योग के नीचे के स्तर से असख्यातगुणहीन वचन-योग का निरोध करते हैं । तदनन्तर अपर्याप्त—आहार आदि पर्याप्तिरहित सूक्ष्म पनक – नीलन-फूलन जीव के जघन्य योग के नीचे के स्तर से असख्यातगुणहीन काय-योग का निरोध करते हैं ।

१५३—से णं एएण उवाएण पढमं मणजोगं णिरुंभइ, मणजोग णिरुंभित्ता वयजोगं णिरुंभइ, वयजोगं णिरुंभित्ता कायजोगं णिरुंभइ, कायजोगं णिरुंभित्ता जोगनिरोहं करेइ, जोगनिरोहं करेत्ता अजोगत्त पाउणइ, अजोगत्तणं पाउणित्ता ईसिं हस्सपचक्खरुच्चारणद्धाए असंखेज्जसमइयं अंतोमुहुत्तियं सेलेसिं पडिवज्जइ, पुव्वरइयगुणसेढियं च ण कम्मं तीसे सेलेसिमद्धाए असखेज्जेहिं गुणसेढीहिं अणते कम्मसे खवयते वेयणिज्जाउयणामगोए इच्चेते चत्तारि कम्मंसे जुगवं खवेइ, खवित्ता ओरालियतेयकम्माइं सव्वाहिं विप्पजहणाहिं विप्पजहइ, विप्पजहित्ता उज्जुसेढीपडिवण्णे अफुसमाणगई उड्ढं एक्कसमएणं अविग्गहेण गंता सागारोवउत्ते सिज्झइ ।

१५३—इस उपाय या उपक्रम द्वारा वे पहले मनोयोग का निरोध करते हैं । मनोयोग का निरोध कर वचन-योग का निरोध करते है । वचन-योग का निरोध कर काय-योग का निरोध करते हैं । काय-योग का निरोध कर सर्वथा योगनिरोध करते हैं—मन, वचन तथा शरीर से सम्बद्ध प्रवृत्तिमात्र को रोकते हैं । इस प्रकार योग-निरोध कर वे अयोगत्व—अयोगावस्था प्राप्त करते है । अयोगावस्था प्राप्तकर ईषत्स्पृष्ट पाच ह्रस्व अक्षर—अ, इ, उ, ऋ, ऌ के उच्चारण के असंख्यात कालवर्ती अन्तर्मुहूर्त तक होने वाली शैलेशी अवस्था—मेरुवत् अप्रकम्प दशा प्राप्त करते हैं । उस शैलेशी-काल मे पूर्वरचित गुण-श्रेणी के रूप मे रहे कर्मों को असख्यात गुण-श्रेणियो मे अनन्त कर्मांशो के रूप मे क्षीण करते हुए वेदनीय, आयुष्य, नाम तथा गोत्र—इन चारो कर्मों का युगपत्—एक साथ क्षय करते है । इन्हे क्षीण कर औदारिक, तैजस तथा कार्मण शरीर का पूर्ण रूप से परित्याग कर देते है । वैसा कर ऋजु श्रेणिप्रतिपन्न हो—आकाश-प्रदेशो की सीधी पंक्ति का अवलम्बन कर अस्पृश्यमान गति द्वारा एक समय मे ऊर्ध्व-गमन कर—ऊँचे पहुँच साकारोपयोग—ज्ञानोपयोग में सिद्ध होते है ।

सिद्धों का स्वरूप

१५४—ते णं तत्थ सिद्धा हवंति सादीया, अपज्जवसिया, असरीरा, जीवघणा, दंसणनाणोवउत्ता, निट्ठियट्ठा, निरेयणा, नीरया, णिम्मला, वितिमिरा, विसुद्धा सासयमणागयद्धं कालं चिट्ठंति।

१५४—वहाँ—लोकाग्र मे सादि—मोक्ष-प्राप्ति के काल की अपेक्षा से आदिसहित, अपर्यवसित—अन्तरहित, अशरीर—शरीररहित, जीवघन—घनरूप—सघन अवगाढ आत्मप्रदेश युक्त, ज्ञानरूप साकार तथा दर्शन रूप अनाकार उपयोग सहित, निष्ठितार्थ—कृतकृत्य, सर्व प्रयोजन समाप्त किये हुए, निरेजन —निश्चल, स्थिर या निष्प्रकम्प, नीरज—कर्मरूप रज से रहित—बध्यमान कर्मवर्जित, निर्मल—मलरहित—पूर्वबद्ध कर्मों से विनिर्मुक्त, वितिमिर—अज्ञानरूप अन्धकार रहित, विशुद्ध—परम शुद्ध—कर्मक्षयनिष्पन्न आत्मशुद्धियुक्त सिद्ध भगवान् भविष्य मे शाश्वतकाल पर्यन्त (अपने स्वरूप मे) संस्थित रहते है।

१५५—से केणट्ठेण भंते ! एवं वुच्चइ—ते णं तत्थ सिद्धा भवंति सादीया, अपज्जवसिया जाव (असरीरा, जीवघणा, दंसणनाणोवउत्ता, निट्ठियट्ठा, निरेयणा, नीरया, णिम्मला, वितिमिरा, विसुद्धा सासयमणागयद्धं काल) चिट्ठंति।

गोयमा ! से जहाणामए बीयाणं अग्गिदड्ढाण पुणरवि अंकुरुप्पत्ती ण भवइ, एवामेव सिद्धाण कम्मबीए दड्ढे पुणरवि जम्मुप्पत्ती न भवइ। से तेणट्ठेणं गोयमा ! एव वुच्चइ—ते णं तत्थ सिद्धा भवति सादीया, अपज्जवसिया जाव[1] चिट्ठति।

१५५ भगवान् ! वहाँ वे सिद्ध होते है, सादि - मोक्ष-प्राप्ति के काल की अपेक्षा से आदि-सहित, अपर्यवसित -अन्तरहित, (अशरीर- -शरीर-रहित, जीवघन—घनरूप— अवगाहरूप आत्म-प्रदेशयुक्त, दर्शनज्ञानोपयुक्त- दर्शन रूप अनाकार तथा ज्ञानरूप साकार उपयोग सहित, निष्ठितार्थ—कृतकृत्य, सर्व प्रयोजन समाप्त किये हुए, निरेजन -निश्चल, स्थिर या निष्प्रकम्प, नीरज—कर्मरूप रज से रहित —बध्यमान कर्म-वर्जित, निर्मल —मलरहित—पूर्वबद्ध कर्मों से विनिर्मुक्त, वितिमिर—अज्ञानरूप अन्धकार से रहित, विशुद्ध—परम शुद्ध —कर्मक्षयनिष्पन्न आत्मशुद्धि युक्त) शाश्वतकाल-पर्यन्त स्थित रहते है- -इत्यादि आप किस आशय से फरमाते है ?

गौतम ! जैसे अग्नि से दग्ध—सर्वथा जले हुए बीजो की पुन. अकुरो के रूप मे उत्पत्ति नही होती, उसी प्रकार कर्म-बीज दग्ध होने के कारण सिद्धो की भी फिर जन्मोत्पत्ति नही होती। गौतम ! मै इसी आशय से यह कह रहा हूँ कि सिद्ध सादि, अपर्यवसित होते हैं।

सिद्धमान के संहनन संस्थान आदि

१५६—जीवा णं भंते ! सिज्झमाणा कयरंमि संघयणे सिज्झंति ?

गोयमा ! वइरोसभणारायसंघयणे सिज्झति।

१५६—भगवन् ! सिद्ध होते हुए जीव किस सहनन (दैहिक अस्थि-बंध) में सिद्ध होते हैं ?

गौतम ! वे वज्र-ऋषभ-नाराच सहनन मे सिद्ध होते है।

---

१. देखें सूत्र यही।

१५७—जीवा णं भंते ! सिज्झमाणा कयरंमि संठाणे सिज्झंति ?

गोयमा ! छण्हं संठाणाणं अन्नयरे संठाणे सिज्झंति ।

१५७—भगवन् ! सिद्ध होते हुए जीव किस सस्थान (दैहिक आकार) मे सिद्ध होते हैं ?

गौतम ! छह सस्थानो[1] मे से किसी भी सस्थान मे सिद्ध हो सकते हैं ।

१५८—जीवा णं भंते ! सिज्झमाणा कयरंमि उच्चत्ते सिज्झंति ?

गोयमा ! जहण्णेणं सत्तरयणीए, उक्कोसेणं पचधणुसइए सिज्झंति ।

१५८—भगवन् ! सिद्ध होते हुए जीव कितनी अवगाहना—ऊँचाई में सिद्ध होते हैं ?

गौतम ! जघन्य—कम से कम सात हाथ तथा उत्कृष्ट—अधिक से अधिक पांच सौ धनुष की अवगाहना मे सिद्ध होते हैं ।

विवेचन - सिद्ध होने वाले जीवो की प्रस्तुत सूत्र मे जो अवगाहना प्ररूपित की गई है, वह तीर्थंकरों की अपेक्षा से समझना चाहिए । भगवान् महावीर जघन्य सात हाथ की और भ० ऋषभ उत्कृष्ट पाच सौ धनुष की अवगाहना से सिद्ध हुए । सामान्य केवलियो की अपेक्षा यह कथन नही है । क्योकि कूर्मापुत्र दो हाथ की अवगाहना से सिद्ध हुए । मरुदेवी की अवगाहना पाच सौ धनुष से अधिक थी ।

१५९—जीवा णं भंते ! सिज्झमाणा कयरम्मि आउए सिज्झंति ?

गोयमा ! जहण्णेणं साइरेगट्ठवासाउए, उक्कोसेण पुव्वकोडियाउए सिज्झति ।

१५९—भगवन् ! सिद्ध होते हुए जीव कितने आयुष्य मे सिद्ध होते हैं ?

गौतम ! कम से कम आठ वर्ष से कुछ अधिक आयुष्य मे तथा अधिक से अधिक करोड पूर्व के आयुष्य मे सिद्ध होते हैं । इसका तात्पर्य यह हुआ कि आठ वर्ष या उससे कम की आयु वाले और क्रोड पूर्व से अधिक की आयु के जीव सिद्ध नही होते हैं ।

सिद्धों का परिवास

१६०—अत्थि ण भंते ! इमीसे रयणप्पहाए पुढवीए अहे सिद्धा परिवसंति ?

णो इणट्ठे समट्ठे, एवं जाव अहे सत्तमाए ।

१६०—भगवन् ! क्या इस रत्नप्रभा पृथ्वी—प्रथम नारक भूमि के नीचे सिद्ध निवास करते हैं ?

नही, ऐसा अर्थ—अभिप्राय—ठीक नही है ।

रत्नप्रभा के साथ-साथ शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पङ्कप्रभा, धूम्रप्रभा, तम.प्रभा तथा तमस्तम प्रभा—पहली से सातवी तक सभी नारकभूमियों के सम्बन्ध मे ऐसा ही समझना चाहिए अर्थात् उनके नीचे सिद्ध निवास नहीं करते ।

१.—१ समचतुरस्र, २, न्यग्रोधपरिमण्डल, ३ सादि, ४. वामन, ५ कुब्ज, ६ हुड ।

१६१—अत्थि णं भंते ! सोहम्मस्स कप्पस्स अहे सिद्धा परिवसंति ?

णो इणट्ठे समट्ठे, एवं सव्वेसिं पुच्छा—ईसाणस्स, सणंकुमारस्स जाव (माहिंदस्स, बंभस्स, लंतगस्स, महासुक्कस्स, सहस्सारस्स, आणयस्स, पाणयस्स, आरणस्स) अच्चुयस्स गेवेज्जविमाणाणं अणुत्तरविमाणाणं ।

१६१—भगवन् ! क्या सिद्ध सौधर्म कल्प (देवलोक) के नीचे निवास करते हैं ?

नही ऐसा अभिप्राय ठीक नही है । ईशान, सनत्कुमार, (माहेन्द्र, ब्रह्म, लान्तक, महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण एव) अच्युत तक, ग्रैवेयक विमानो तथा अनुत्तर विमानो के सम्बन्ध में भी ऐसा ही समझना चाहिए । अर्थात् इनके नीचे भी सिद्ध निवास नही करते ।

१६२—अत्थि णं भंते ! ईसीपब्भाराए पुढवीए अहे सिद्धा परिवसंति ?

णो इट्ठे समट्ठे ।

१६२—भगवन् ! क्या सिद्ध ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी के नीचे निवास करते है ?

नही, ऐसा अभिप्राय ठीक नही है ।

१६३—से कहिं खाइ णं भंते ! सिद्धा परिवसंति ?

गोयमा ! इमीसे रयणप्पहाए पुढवीए बहुसमरमणिज्जाओ भूमिभागाओ उड्ढं चंदिमसूरियग्गहगणणक्खत्तताराभवणाओ बहूइं जोयणाइं, बहूइं जोयणसयाइं, बहूइं जोयणसहस्साइं, बहूइं जोयणसयसहस्साइं, बहूओ जोयणकोडीओ, बहूओ जोयणकोडाकोडीओ उड्ढतरं उप्पइत्ता सोहम्मीसाणसणंकुमारमाहिंदबंभलंतगमहासुक्कसहस्सारआणयपाणयआरणअच्चुए तिण्णि य अट्ठारे गेविज्जविमाणावाससए वीईवइत्ता विजय-वेजयंत-जयंत-अपराजिय-सव्वट्ठसिद्धस्स य महाविमाणस्स सव्वउवरिल्लाओ थूभियग्गाओ दुवालसजोयणाइं अबाहाए एत्थ णं ईसीपब्भारा णाम पुढवी पण्णत्ता, पणयालीसं जोयणसयसहस्साइं आयामविक्खंभेणं, एगा जोयणकोडी बायालीस च सयसहस्साइं तीसं च सहस्साइं दोण्णि य अउणापण्णे जोयणसए किंचि विसेसाहिए परिरएण ।

१६३—भगवन् ! फिर सिद्ध कहाँ निवास करते है ?

गौतम ! इस रत्नप्रभा भूमि के बहुसम रमणीय भूभाग से ऊपर, चन्द्र, सूर्य, ग्रहगण, नक्षत्र तथा तारो के भवनो से बहुत योजन, बहुत सैकडो योजन, बहुत हजारो योजन, बहुत लाखो योजन बहुत करोडों योजन तथा बहुत क्रोडाक्रोड योजना से ऊर्ध्वतर—बहुत ऊपर जाने पर सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, लान्तक, महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण, अच्युत कल्प, तथा तीन सौ अठारह ग्रैवेयक विमान-आवास से भी ऊपर विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्ध महाविमान के सर्वोच्च शिखर के अग्रभाग से बारह योजन के अन्तर पर ऊपर ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी कही गई है ।

वह पृथ्वी पैंतालीस लाख योजन लम्बी तथा चौडी है । उसकी परिधि एक करोड बयालीस लाख तीस हजार दो सौ उनचास योजन से कुछ अधिक है ।

१६४—ईसीपब्भाराए णं पुढवीए बहुमज्झदेसभाए अट्ठजोयणिए खेत्ते अट्ठ जोयणाइं बाहल्लेणं, तयाणंतरं च णं मायाए मायाए परिहायमाणी परिहायमाणी सव्वेसु चरिमपेरंतेसु मच्छियपत्ताग्रो तणुयतरा अंगुलस्स असंखेज्जइभागं बाहल्लेणं पण्णत्ता।

१६४—ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी अपने ठीक मध्य भाग मे आठ योजन क्षेत्र मे आठ योजन मोटी है। तत्पश्चात् मोटेपन में क्रमश· कुछ कुछ कम होती हुई सबसे अन्तिम किनारो पर मक्खी की पाँख से पतली है। उन अन्तिम किनारो की मोटाई अगुल के असख्यातवें भाग के तुल्य है।

१६५—ईसीपब्भाराए णं पुढवीए दुवालस णामधेज्जा पण्णत्ता, तं जहा—ईसी इ वा, ईसीपब्भारा इ वा, तणू इ वा, तणुतणू इ वा, सिद्धी इ वा, सिद्धालए इ वा, मुत्ती इ वा, मुत्तालए इ वा, लोयग्गे इ वा, लोयग्गथूभिगा इ वा, लोयग्गपडिबुज्झणा इ वा, सव्वपाण-भूय-जीव-सत्तसुहावहा इ वा।

१६५—ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी के बारह नाम बतलाये गये है, जो इस प्रकार है—

१. ईषत्, २ ईषत्प्राग्भारा. ३. तनु, ४ तनुतनु, ५ सिद्धि, ६ सिद्धालय, ७ मुक्ति, ८ मुक्तालय, ९ लोकाग्र, १० लोकाग्रस्तूपिका, ११ लोकाग्रपतिबोधना, १२ सर्वप्राणभूतजीव-सत्त्वसुखावहा।

१६६—ईसीपब्भारा णं पुढवी सेया आयंसतलविमल-सोल्लिय-मुणाल-दगरय-तुसार-गोक्खीर-हारवण्णा, उत्ताणयछत्तसंठाणसंठिया, सव्वज्जुणसुवण्णयमई, अच्छा, सण्हा, लण्हा, घट्ठा, मट्ठा, णीरया, णिम्मला, णिप्पंका, णिक्कंकडच्छाया, समरीचिया, सुप्पभा, पासादीया, दरिसणिज्जा, अभिरूवा, पडिरूवा।

१६६—ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी दर्पणतल के जैसी निर्मल, सोल्लिय पुष्प, कमलनाल, जलकण, तुषार, गाय के दूध तथा हार के समान श्वेत वर्णयुक्त है। वह उलटे छत्र जैसे आकार मे अवस्थित है—उलटे किये हुए छत्र जैसा उसका आकार है। वह अर्जुन स्वर्ण—श्वेत स्वर्ण—अत्यधिक मूल्य युक्त श्वेत धातुविशेष जैसी द्युति लिए हुए है। वह आकाश या स्फटिक—बिल्लौर[1] जैसी स्वच्छ, श्लक्ष्ण कोमल परमाणु-स्कन्धो से निष्पन्न होने के कारण कोमल तन्तुओ से बुने हुए वस्त्र के समान मुलायम, लष्ट—सुन्दर, ललित आकृतियुक्त, घृष्ट—तेज शाण पर घिसे हुए पत्थर की तरह मानो तराशी हुई, मृष्ट सुकोमल शाण पर घिस कर मानो पत्थर की तरह सवारी हुई, नीरज—रज-रहित, निर्मल—मलरहित, निष्पक शोभायुक्त, समरीचिका—सुन्दर किरणो से—प्रभा से युक्त, प्रासादीय—चित्त को प्रसन्न करनेवाली, दर्शनीय—देखने योग्य, अभिरूप- -मनोज्ञ—मन को अपने मे रमा लेने वाली तथा प्रतिरूप—मन मे बस जानेवाली है।

१६७—ईसीपब्भाराए णं पुढवीए सेयाए जोयणंमि लोगंते। तस्स जोयणस्स जे से उवरिल्ले गाउए, तस्स णं गाउयस्स जे से उवरिल्ले छब्भागे, तत्थ णं सिद्धा भगवंतो सादीया, अपज्जवसिया

१ सक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर पृष्ठ ७२६

अणेगजाइजरामरणजोणिवेयणं संसारकलंकलीभावपुणब्भवगब्भवासवसहीपवंचमइक्कंता सासयमणागयद्धं चिट्ठंति।

१६७—ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी के तल से उत्सेधांगुल (माप) द्वारा एक योजन पर लोकान्त है। उस योजन के ऊपर के कोस के छठे भाग पर सिद्ध भगवान्, जो सादि—मोक्षप्राप्ति के काल की अपेक्षा से आदियुक्त तथा अपर्यवसित—अनन्त हैं, जो जन्म, बुढ़ापा, मृत्यु आदि अनेक योनियो की वेदना, ससार के भीषण दु ख, पुन पुन होनेवाले गर्भवास रूप प्रपच—बार बार गर्भ में आने के संकट अतिक्रान्त कर चुके हैं, लांघ चुके है, अपने शाश्वत—नित्य, भविष्य मे सदा सुस्थिर स्वरूप में सस्थित रहते है।[1]

विवेचन—जैन साहित्य में वर्णित प्राचीन माप में अँगुल व्यावहारिक दृष्टि से सबसे छोटी इकाई है। वह तीन प्रकार का माना गया है—आत्मागुल, उत्सेधागुल तथा प्रमाणागुल। वे इस प्रकार हैं—

आत्मांगुल—विभिन्न कालो के मनुष्यो का अवगाहन (अवगाहना)—आकृति-परिमाण भिन्न-भिन्न होता है। अत अगुल का परिमाण भी परिवर्तित होता रहता है। अपने समय के मनुष्यो के अगुल के माप के अनुसार जो परिमाण होता है, उसे आत्मागुल कहा जाता है। जिस काल मे जो मनुष्य होते हैं, उस काल के नगर, वन, उपवन, सरोवर, कूप, वापी, प्रासाद आदि उन्ही के अगुल के परिमाण से—आत्मागुल से नापे जाते है।

उत्सेधांगुल—आठ यवमध्य का एक उत्सेधागुल माना गया है। नारक, मनुष्य, देव आदि की अवगाहना का माप उत्सेधागुल द्वारा होता है।

प्रमाणागुल—उत्सेधागुल से हजार गुना बडा एक प्रमाणागुल होता है। रत्नप्रभा आदि नारक भूमियाँ, भवनपति देवों के भवन, कल्प (देवलोक—स्वर्ग), वर्षधर पर्वत, द्वीप आदि के विस्तार—लम्बाई, चौडाई, ऊँचाई, गहराई, परिधि आदि शाश्वत वस्तुओ का माप प्रमाणागुल से होता है।

अनुयोगद्वार सूत्र मे इसका विस्तार से वर्णन है।[2]

सिद्ध : सारसंक्षेप

१६८—कहिं पडिहया सिद्धा, कहिं सिद्धा पडिट्ठिया ?।
कहिं बोंदिं चइत्ता णं, कत्थ गंतूण सिज्झई ? ॥१॥

१६८—सिद्ध किस स्थान पर प्रतिहत है—प्रतिरुद्ध है—आगे जाने से रुक जाते है ? वे कहाँ प्रतिष्ठित हैं—अवस्थित है ? वे यहाँ—इस लोक मे देह को त्याग कर कहाँ जाकर सिद्ध होते है ?

१६९—अलोगे पडिहया सिद्धा, लोयग्गे य पडिट्ठिया।
इह बोंदिं चइत्ता णं, तत्थ गतूण सिज्झई ॥२॥

---

१ 'जोयणमि लोगंते त्ति' इह योजनमुत्सेधाङ्गुलयोजनमवसेयम्। —औपपातिकसूत्र वृत्ति पत्र ११५

२ अनुयोगद्वार सूत्र, पृष्ठ १९२-१९६

१६९—सिद्ध लोक के अग्रभाग में प्रतिष्ठित हैं अतः अलोक में जाने में प्रतिहत हैं—अलोक मे नहीं जाते। इस मर्त्यलोक में ही देह का त्याग कर वे सिद्ध-स्थान में जाकर सिद्ध होते हैं।

१७०—जं संठाणं तु इहं भवं चयंतस्स चरिमसमयंमि।
आसी य पएसघणं, तं संठाणं तहिं तस्स ॥३॥

१७०—देह का त्याग करते समय अन्तिम समय मे जो प्रदेशघन आकार—नाक, कान, उदर आदि रिक्त या पोले अगो की रिक्तता या पोलेपन के विलय से घनीभूत आकार होता है, वही आकार वहाँ—सिद्धस्थान मे रहता है।

१७१—दीहं वा हुस्सं वा, जं चरिमभवे हवेज्ज संठाणं।
तत्तो तिभागहीणं, सिद्धाणोगाहणा भणिया ॥४॥

१७१—अन्तिम भव मे दीर्घ या ह्रस्व—लम्बा-ठिगना, बड़ा-छोटा जैसा भी आकार होता है, उससे तिहाई भाग कम मे सिद्धो की अवगाहना—अवस्थिति या व्याप्ति होती है।

१७२—तिण्णि सया तेत्तीसा, धणुत्तिभागो य होइ बोद्धव्वो।
एसा खलु सिद्धाणं, उक्कोसोगाहणा भणिया ॥५॥

१७२—सिद्धों की उत्कृष्ट अवगाहना तीन सौ तैंतीस धनुष तथा तिहाई धनुष (बत्तीस अगुल) होती है, सर्वज्ञों ने ऐसा बतलाया है।

जिनकी देह पाँच सौ धनुष-विस्तारमय होती है, यह उनकी अवगाहना है।

१७३—चत्तारि य रयणीओ, रयणितिभागूणिया बोद्धव्वा।
एसा खलु सिद्धाणं, मज्झिमओगाहणा भणिया ॥६॥

१७३—सिद्धो की मध्यम अवगाहना चार हाथ तथा तिहाई भाग कम एक हाथ (सोलह अगुल) होती है, ऐसा सर्वज्ञो ने निरूपित किया है।

सिद्धो की मध्यम अवगाहना का निरूपण उन मनुष्यो की अपेक्षा से है, जिनकी देह की अवगाहना सात हाथ-परिमाण होती है।

१७४—एक्का य होइ रयणी, साहीया अंगुलाइ अट्ठ भवे।
एस खलु सिद्धाणं, जहण्णओगाहणा भणिया ॥७॥

१७४—सिद्धों की जघन्य—न्यूनतम अवगाहना एक हाथ तथा आठ अगुल होती है, ऐसा सर्वज्ञों द्वारा भाषित है।

यह अवगाहना दो हाथ की अवगाहना युक्त परिमाण-विस्तृत देह वाले कूर्मापुत्र आदि की अपेक्षा से है।

१७५—ओगाहणाए सिद्धा, भवत्तिभागेण होंति परिहीणा।
संठाणमणित्थत्थं, जरामरणविप्पमुक्काणं ॥८॥

१७५—सिद्ध अन्तिम भव की अवगाहना से तिहाई भाग कम अवगाहना युक्त होते हैं। जो वार्धक्य और मृत्यु से विप्रमुक्त हो गये हैं—सर्वथा छूट गये है, उनका सस्थान—आकार किसी भी लौकिक आकार से नहीं मिलता।

१७६—जत्थ य एगो सिद्धो, तत्थ अणंता भवक्खयविमुक्का।
अण्णोण्णसमोगाढा, पुट्ठा सव्वे य लोगंते ॥९॥

१७६—जहाँ एक सिद्ध है, वहाँ भव-क्षय—जन्म-मरण रूप सासारिक आवागमन के नष्ट हो जाने से मुक्त हुए अनन्त सिद्ध है, जो परस्पर अवगाढ—एक दूसरे मे मिले हुए हैं। वे सब लोकान्त का—लोकाग्र भाग का सस्पर्श किये हुए हैं।

१७७—फुसइ अणंते सिद्धे, सव्वपएसेहिं णियमसो सिद्धो।
ते वि असखेज्जगुणा, देसपएसेहिं जे पुट्ठा ॥१०॥

१७७—(एक-एक) सिद्ध समस्त आत्म-प्रदेशो द्वारा अनन्त सिद्धो का सम्पूर्ण रूप मे सस्पर्श किये हुए हैं। यो एक सिद्ध की अवगाहना मे अनन्त सिद्धो की अवगाहना है—एक मे अनन्त अवगाढ हो जाते हैं और उनसे भी असख्यातगुण सिद्ध ऐसे है जो देशो और प्रदेशो से—कतिपय भागो से—एक-दूसरे मे अवगाढ़ हैं।

तात्पर्य यह है कि अनन्त सिद्ध तो ऐसे है जो पूरी तरह एक-दूसरे मे समाये हुए है और उनसे भी असख्यात गुणित सिद्ध ऐसे हैं जो देश-प्रदेश से—कतिपय अशो मे, एक-दूसरे मे समाये हुए हैं।

अमूर्त्त होने के कारण उनकी एक-दूसरे मे अवगाहना होने मे किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न नही होती।

१७८—असरीरा जीवघणा, उवउत्ता दंसणे य णाणे य।
सागारमणागारं, लक्खणमेयं तु सिद्धाण ॥११॥

१७८—सिद्ध शरीर रहित, जीवघन—सघन अवगाह रूप आत्म-प्रदेशो से युक्त तथा दर्शनोपयोग एव ज्ञानोपयोग मे उपयुक्त है। यो साकार—विशेष उपयोग—ज्ञान तथा अनाकार—सामान्य उपयोग—दर्शन—चेतना सिद्धो का लक्षण है।

१७९—केवलणाणुवउत्ता, जाणंती सव्वभावगुणभावे।
पासंति सव्वओ खलु, केवलदिट्ठीहिणंताहिं ॥१२॥

१७९—वे केवलज्ञानोपयोग द्वारा सभी पदार्थों के गुणो एव पर्यायो को जानते हैं तथा अनन्त केवलदर्शन द्वारा सर्वत.—सब ओर से—समस्त भावो को देखते हैं।

१८०—ण वि अत्थि माणुसाणं, तं सोक्खं ण वि य सव्वदेवाणं।
जं सिद्धाणं सोक्खं, अव्वाबाहं उवगयाणं ॥१३॥

१८०—सिद्धों को जो अव्याबाध—सर्वथा विघ्न बाधारहित, शाश्वत सुख प्राप्त है, वह न मनुष्यों को प्राप्त है और न समग्र देवताओं को ही ।

१८१—जं देवाणं सोक्खं, सव्वद्धा पिंडियं अणंतगुणं ।
ण य पावइ मुत्तिसुहं, णंताहिं वग्गवग्गूहिं ॥१४॥

१८१—तीन काल गुणित अनन्त देव-सुख, यदि अनन्त बार वर्गवर्गित किया जाए तो भी वह मोक्ष-सुख के समान नही हो सकता ।

विवेचन—अतीत, वर्तमान तथा भूत—तीनो कालो से गुणित देवो का सुख, कल्पना करे, यदि लोक तथा अलोक के अनन्त प्रदेशो पर स्थापित किया जाए, सारे प्रदेश उससे भर जाएँ तो वह अनन्त देव-सुख से संज्ञित होता है ।

दो समान सख्याओ का परस्पर गुणन करने से जो गुणनफल प्राप्त होता है, उसे वर्ग कहा जाता है । उदाहरणार्थ पाँच का पाँच से गुणन करने पर गुणनफल पच्चीस आता है । पच्चीस पाच का वर्ग है । वर्ग का वर्ग से गुणन करने पर जो गुणनफल आता है, उसे वर्गवर्गित कहा जाता है । जैसे पच्चीस का पच्चीस से गुणन करने पर छ सौ पच्चीस गुणनफल आता है । यह पाँच का वर्ग-वर्गित है ।

देवो के उक्त अनन्त सुख को यदि अनन्त बार वर्गवर्णित किया जाए तो भी वह मुक्ति-सुख के समान नही हो सकता ।

१८२—सिद्धस्स सुहो रासी, सव्वद्धा पिंडिओ जइ हवेज्जा ।
सोणंतवग्गभइओ, सव्वागासे ण माएज्जा ॥१५॥

१८२—एक सिद्ध के सुख को तीनो कालो से गुणित करने पर जो सुख-राशि निष्पन्न हो, उसे यदि अन्त वर्ग से विभाजित किया जाए, जो सुख-राशि भागफल के रूप मे प्राप्त हो, वह भी इतनी अधिक होती है कि सम्पूर्ण आकाश मे समाहित नही हो सकती ।

१८३—जह णाम कोइ मिच्छो, नगरगुणे बहुविहे वियाणंतो ।
न चएइ परिकहेउं, उवमाए तहिं असंतीए ॥१६॥

१८३—जैसे कोई म्लेच्छ—असभ्य वनवासी पुरुष नगर के अनेकविध गुणो को जानता हुआ भी वन मे वैसी कोई उपमा नही पाता हुआ उस (नगर) के गुणो का वर्णन नही कर सकता ।

१८४—इय सिद्धाण सोक्खं, अणोवमं णत्थि तस्स ओवम्मं ।
किंचि विसेसेणेत्तो, ओवम्ममिणं सुणह वोच्छं ॥१७॥

१८४—उसी प्रकार सिद्धो का सुख अनुपम है । उसकी कोई उपमा नही है । फिर भी (सामान्य जनो के बोध हेतु) विशेष रूप से उपमा द्वारा उसे समझाया जा रहा है, सुने ।

१८५-८६—जह सव्वकामगुणिय, पुरिसो भोत्तूण भोयणं कोई।
तण्हाछुहाविमुक्को, अच्छेज्ज जहा अमियतित्तो ॥१८॥
इय सव्वकालतित्ता, अतुलं निव्वाणमुवगया सिद्धा।
सासयमव्वाबाहं, चिट्ठंति सुही सुहं पत्ता ॥१९॥

१८५-८६—जैसे कोई पुरुष अपने द्वारा चाहे गये सभी गुणों—विशेषताओं से युक्त भोजन कर, भूख-प्यास से मुक्त होकर अपरिमित तृप्ति का अनुभव करता है, उसी प्रकार सर्वकालतृप्त—सब समय परम तृप्ति युक्त, अनुपम शान्तियुक्त सिद्ध शाश्वत—नित्य तथा अव्याबाध—सर्वथा विघ्न-बाधारहित परम सुख मे निमग्न रहते हैं।

१८७—सिद्ध त्ति य बुद्ध त्ति य, पारगय त्ति य परंपरगय त्ति।
उम्मुक्ककम्मकवया, अजरा अमरा असंगा य ॥२०॥

१८७—वे सिद्ध है—उन्होने अपने सारे प्रयोजन साध लिये हैं। वे बुद्ध हैं—केवलज्ञान द्वारा समस्त विश्व का बोध उन्हे स्वायत्त है। वे पारगत है—ससार-सागर को पार कर चुके हैं। वे परपरागत है—परपरा से प्राप्त मोक्षोपायो का अवलम्बन कर वे ससार-सागर के पार पहुँचे हुए हैं। वे उन्मुक्त-कर्मकवच हैं—जो कर्मों का बख्तर उन पर लगा था, उससे वे छूटे हुए है। वे अजर हैं—वृद्धावस्था से रहित हैं। अमर है—मृत्युरहित हैं—तथा वे असग हैं—सब प्रकार की आसक्तियो से तथा समस्त पर-पदार्थों के ससर्ग से रहित है।

१८८—णित्थिण्णसव्वदुक्खा, जाइजरामरणबंधणविमुक्का।
अव्वाबाहं सुक्खं, अणुहोंति सासयं सिद्धा ॥२१॥

१८८—सिद्ध सब दु खो को पार कर चुके है जन्म, बुढापा तथा मृत्यु के बन्धन से मुक्त है। निर्बाध, शाश्वत सुख का अनुभव करते है।

१८९—अतुलसुहसागरगया, अव्वाबाहं अणोवमं पत्ता।
सव्वमणागयमद्धं, चिट्ठंति सुही सुहं पत्ता ॥२२॥

१८९—अनुपम सुख-सागर मे लीन, निर्बाध, अनुपम मुक्तावस्था प्राप्त किये हुए सिद्ध समग्र अनागत काल मे—भविष्य मे सदा प्राप्तसुख, सुखयुक्त अवस्थित रहते है।

'गण' और 'कुल' संबंधी विशेष विचार

गण

भगवान् महावीर का श्रमण-संघ बहुत विशाल था। अनुशासन, व्यवस्था, सगठन, सचालन आदि की दृष्टि से उसकी अपनी अप्रतिम विशेषताएँ थी। फलत उत्तरवर्ती समय मे भी वह समीचीनतया चलता रहा, आज भी एक सीमा तक चल रहा है।

भगवान् महावीर के नौ गण थे, जिनका स्थानाग सूत्र मे उल्लेख[1] है—

१. गोदास गण,
२. उत्तरबलिस्सह गण,
३ उद्देह गण,
४. चारण गण,
५. उद्दवाइय गण,
६. विस्सवाइय गण,
७. कामर्द्धिक गण,
८. मानव गण,
९ कोटिक गण।

इन गणो की स्थापना का मुख्य आधार आगम-वाचना एव धर्मक्रियानुपालन की व्यवस्था था। अध्ययन द्वारा ज्ञानार्जन श्रमण-जीवन का अपरिहार्य अग है। जिन श्रमणो के अध्ययन की व्यवस्था एक साथ रहती थी, वे एक गण मे समाविष्ट थे। अध्ययन के अतिरिक्त क्रिया अथवा अन्यान्य व्यवस्थाओ तथा कार्यो मे भी उनका साहचर्य तथा ऐक्य था।

गणस्थ श्रमणो के अध्यापन तथा देखभाल का कार्य या उत्तरदायित्व गणधरो पर था।

भगवन् महावीर के ग्यारह गणधर थे[2]—

१ इन्द्रभूति, २ अग्निभूति, ३. वायुभूति, ४ व्यक्त, ५ सुधर्मा, ६ मण्डित, ७ मौर्यपुत्र ८. अकम्पित, ९. अचलभ्राता, १० मेतार्य, ११. प्रभास।

इन्द्रभूति भगवान् महावीर के प्रथम व प्रमुख गणधर थे। वे गौतम गोत्रीय थे, इसलिए आगम-वाङ्मय और जैन परपरा मे वे गौतम के नाम से प्रसिद्ध हैं। प्रथम से सप्तम तक के गणधरो के अनुशासन मे उनके अपने-अपने गण थे। अष्टम तथा नवम गणधर का सम्मिलित रूप मे एक गण

---

१ समणस्स ण भगवओ महावीरस्स णव गणा हुत्था, त जहा—गोदासगणे, उत्तरबलिस्सहगणे, उद्देहगणे, चारणगणे, उद्दवाइयगणे, विस्सवाइयगणे, कामड्ढियगणे, माणवगणे, कोडियगणे।

—ठाण ९. २९, पृष्ठ ८५६

२. जैनधर्म का मौलिक इतिहास, प्रथम भाग, पृष्ठ ४७३

था। इसी प्रकार दसवे तथा ग्यारहवें गणधर का भी एक गण था।[1] कहा जाता है कि श्रमण-संख्या कम होने के कारण इन दो-दो गणधरो के गणों को मिलाकर एक-एक किया गया था।

अध्यापन, क्रियानुष्ठान की सुविधा रहे, इस हेतु गण पृथक्-पृथक् थे। वस्तुत उनमें कोई मौलिक भेद नही था। वाचना का भी केवल शाब्दिक भेद था, अर्थ की दृष्टि से वे अभिन्न थी। क्योकि भगवान् महावीर ने अर्थरूप मे जो तत्त्व-निरूपण किया, भिन्न-भिन्न गणधरो ने अपने-अपने शब्दो में उसका सकलन या सग्रथन किया, जिसे वे अपने-अपने गण के श्रमण-समुदाय को सिखाते थे। अतएव गणविशेष की व्यवस्था करनेवाले तथा उसे वाचना देनेवाले गणधर का निर्वाण हो जाने पर उस गण का पृथक् अस्तित्व नही रहता। निर्वाणोन्मुख गणधर अपने निर्वाण से पूर्व दीर्घजीवी गणधर सुधर्मा के गण में उसका विलय कर देते थे।

भगवान् महावीर के संघ की यह परपरा थी कि सभी गणो के श्रमण, जो भिन्न-भिन्न गणधरो के निर्देशन तथा अनुशासन में थे, प्रमुख पट्टधर के शिष्य माने जाते थे। इस परपरा के अनुसार सभी श्रमण भगवान् महावीर के निर्वाण के अनन्तर सहजतया उनके उत्तराधिकारी सुधर्मा के शिष्य माने जाने लगे। यह परम्परा आगे भी चलती रही।

यह बडी स्वस्थ परम्परा थी। जब तक रही, सघ बहुत सबल एव सुव्यवस्थित रहा। वस्तुतः धर्म-संघ का मुख्य आधार श्रमण-श्रमणी-समुदाय ही है। उनके सम्बन्ध में जितनी अधिक जागरूकता और सावधानी बरती जाती है, सघ उतना ही दृढ और स्थिर बनता है।

भगवान् महावीर के समय से चलती आई गुरु-शिष्य-परम्परा का आचार्य भद्रबाहु तक निर्वाह होता रहा। उनके बाद इस क्रम ने एक नया मोड लिया। तब तक श्रमणो की सख्या बहुत बढ चुकी थी। भगवान् महावीर के समय व्यवस्था की दृष्टि से गणो के रूप मे सघ का जो विभाजन था, वह यथावत् रूप मे नही चल पाया। सारे सघ का प्रमुख नेतृत्व एकमात्र पट्टधर पर होता था, वह भी आर्य जम्बू तक तो चल सका, आगे सम्भव नही रहा। फलत. उत्तरवर्ती काल मे सघ मे से समय-समय पर भिन्न-भिन्न नामो से पृथक्-पृथक् समुदाय निकले, जो 'गण' सज्ञा से अभिहित हुए।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि भगवान् महावीर के समय मे 'गण' शब्द जिस अर्थ मे प्रयुक्त था, आगे चलकर उसका अर्थ परिवर्तित हो गया। भगवान् महावीर के आदेशानुवर्ती गण सघ के निरपेक्ष भाग नही थे, परस्पर सापेक्ष थे। आचार्य भद्रबाहु के अनन्तर जो गण अस्तित्व मे आये, वे एक दूसरे से निरपेक्ष हो गये। परिणाम यह हुआ, दीक्षित श्रमणो के शिष्यत्व का ऐक्य नही रहा। जिस समुदाय मे वे दीक्षित होते, उस समुदाय या गण के प्रधान के शिष्य कहे जाते।

भगवान् महावीर के नौ गणो के स्थानाग सूत्र मे जो नाम आये है, उनमें से एक के अतिरिक्त ठीक वे ही नाम आचार्य भद्रबाहु के पश्चात् भिन्न भिन्न समय मे विभिन्न आचार्यों के नाम से निकलने वाले आठ गणो के मिलते हैं, जो कल्प-स्थविरावली के निम्नांकित उद्धरण से स्पष्ट है—

"काश्यपगोत्रीय स्थविर गोदास से गोदास-गण निकला।

स्थविर उत्तरबलिस्सह से उत्तरबलिस्सह गण निकला।

---

१ जैनदर्शन के मौलिक तत्त्व, पहला भाग, पृष्ठ ३९

काश्यपगोत्रीय स्थविर आर्यरोहण से उद्देह-गण निकला।

हारीतगोत्रीय स्थविर श्रीगुप्त से चारणगण निकला।

भारद्वाजगोत्रीय स्थविर भद्रयश से उद्वाइय-गण निकला।

कुंडिलगोत्रीय स्थविर कामर्द्धि से वेसवाडिय (विस्सवाइय) गण निकला।

वशिष्ठगोत्रीय काकन्दीय स्थविर ऋषिगुप्त से मानव-गण निकला।

कोटिककाकन्दीय व्याघ्रापत्यगोत्रीय स्थविर सुस्थित-सुप्रतिबुद्ध से कोटिक-गण निकला।"[1]

भगवान् महावीर के नौ गणों में सातवें का नाम कामर्द्धिक (कामड्डिय) था। उसे छोड देने पर अवशेष नाम ज्यों के त्यो हैं। थोडा बहुत कही कही वर्णात्मक भेद दिखाई देता है, वह केवल भाषात्मक है। अपने समय की जीवित— जन-प्रचलित भाषा होने के कारण प्राकृत की ये सामान्य प्रवृत्तियाँ हैं।

प्रश्न उपस्थित होता है, भगवान् महावीर के गणो का गोदासगण, बलिस्सहगण आदि के रूप मे जो नामकरण हुआ, उसका आधार क्या था? यदि व्यक्तिविशेष के नाम के आधार पर गणों के नाम होते तो क्या यह उचित नही होता कि उन-उन गणों के व्यवस्थापकों—गणधरो के नाम पर वैसा होता? गणस्थित किन्हीं विशिष्ट साधुओ के नामो के आधार पर ये नाम दिये जाते तो उन विशिष्ट साधुओ के नाम आगम-वाङ्मय मे, जिसका ग्रथन गणधरो द्वारा हुआ, अवश्य मिलते। पर ऐसा नही है। समझ मे नही आता, फिर ऐसा क्यो हुआ। विद्वानो के लिए यह चिन्तन का विषय है।

ऐसी भी सम्भावना हो सकती है कि उत्तरवर्ती समय मे भिन्न-भिन्न श्रमण-स्थविरों के नाम से जो आठ समुदाय या गण चले, उन (गणो) के नाम भगवान् महावीर के गणों के साथ भी जोड दिये गये हो।

एक गण जो बाकी रहता है, उसका नामकरण स्यात् आर्य सुहस्ती के बारह अतेवासियो में से चौथे कामिड्ढि (कामर्द्धि) नामक श्रमण-श्रेष्ठ के नाम पर कर दिया गया हो, जो अपने समय के सुविख्यात आचार्य थे, जिनसे वेसवाडिय (विस्सवाइय) नामक गण निकला था।

---

१ थेरेहिंतो ण गोदासेहिंतो कासवगोत्तेहिंतो गोदासगण नाम गण निग्गए।
थेरेहिंतो ण उत्तरबलिस्सहेहिंतो तत्थ ण उत्तरबलिस्सहगण नाम गण निग्गए।
थेरेहिंतो ण अज्जरोहणेहिंतो कासवगोत्तेहिंतो तत्थ ण उद्देहगण नामं गणं निग्गए।
थेरेहिंतो ण सिरिगुत्तेहिंतो हारिय गोत्तेहिंतो एत्थ ण चारणगण नाम गण निग्गए।
थेरेहिंतो भद्दजसेहिंतो भारद्दायगोत्तेहिंतो एत्थ ण उडुवाडियगणं निग्गए।
थेरेहिंतो ण कामिड्ढिहिंतो कुंडिलसगोत्तेहिंतो एत्थ णं वेसवाडियगणं नाम गणं निग्गए।
थेरेहिंतो ण इसिगुत्तेहिंतो ण काकदएहिंतो वासिट्ठसगोत्तेहिंतो तत्थ ण माणवगण नाम गण निग्गए।
थेरेहिंतो ण सुट्ठिय-सुपडिबुद्धे हितो कोडियकाकदएहिंतो वग्घावच्चसगोत्तेहिंतो एत्थ ण कोडियगण नाम गणं निग्गए।

स्पष्टतया कुछ भी अनुमान नही लगाया जा सकता, ऐसा (यह सब) क्यो किया गया। हो सकता है, उत्तरवर्ती गणो की प्रतिष्ठापन्नता बढाने के लिए यह स्थापित करने का प्रयत्न रहा हो कि भगवान् महावीर के गण भी इन्ही नामो से अभिहित होते थे।

एक सम्भावना और की जा सकती है, यद्यपि है तो बहुत दूरवर्ती, स्यात् भगवान् महावीर के नौ गणो मे से प्रत्येक मे एक एक ऐसे उत्कृष्ट साधना-निरत, महातपा, परमज्ञानी, ध्यानयोगी साधक रहे हो, जो जन-सम्पर्क से दूर रहने के नाते बिलकुल प्रसिद्धि मे नही आये, पर जिनकी उच्चता एव पवित्रता असाधारण तथा स्पृहणीय थी। उनके प्रति श्रद्धा, आदर और बहुमान दिखाने के लिए उन गणो के नामकरण, जिन-जिन मे वे थे, उनके नामो से कर दिये गये हो।

उत्तरवर्ती समय मे सयोग कुछ ऐसे बने हो कि उन्ही नामो के आचार्य हुए हो, जिनमे अपने नामो के साथ प्राक्तन गणो के नामो का साम्य देखकर अपने-अपने नाम से नये गण प्रवर्तित करने का उत्साह जागा हो।

ये सब मात्र कल्पनाएँ और सम्भावनाएँ है। इस पहलू पर और गहराई से चिन्तन एव अन्वेषण करना अपेक्षित है।

तिलोयपण्णत्ति मे भी गण का उल्लेख हुआ है। वहाँ कहा गया है—

"सभी तीर्थंकरो मे से प्रत्येक के पूर्वधर, शिक्षक, अवधिज्ञानी, केवली, वैक्रियलब्धिधर, विपुलमति और वादी श्रमणो के साथ गण होते है।"[१]

भगवान् महावीर के सात गणो का वर्णन करते हुए तिलोयपण्णत्तिकार ने लिखा है—

"भगवान् महावीर के सात गणो मे उन-उन विशेषताओ से युक्त श्रमणो की सख्याएँ इस प्रकार थी—पूर्वधर तीन सौ, शिक्षक नौ हजार नौ सौ, अवधिज्ञानी एक हजार तीन सौ, केवली सात सौ, वैक्रियलब्धिधर नौ सौ, विपुलमति पाँच सौ तथा वादी चार सौ।"[२]

प्रस्तुत प्रकरण पर विचार करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि यद्यपि 'गण' शब्द का प्रयोग यहाँ अवश्य हुआ है पर वह सगठनात्मक इकाई का द्योतक नही है। इसका केवल इतना-सा आशय है कि भगवान् महावीर के शासन मे अमुक-अमुक वैशिष्ट्य-सम्पन्न श्रमणो के अमुक-अमुक सख्या के समुदाय या समूह थे अर्थात् उनके सघ में इन-इन विशेषताओ के इतने श्रमण थे।

केवलियो, पूर्वधरो तथा अवधिज्ञानियो के और इसी प्रकार अन्य विशिष्ट गुणधारी श्रमणो के अलग-अलग गण होते, यह कैसे सम्भव था। यदि ऐसा होता तो उदाहरणार्थ सभी केवली एक

---

१ पुव्वधर सिक्खको ही, केवलिवेकुव्वी विउलमदिवादी।
पत्तेक सत्तगणा, सव्वाण तित्थकत्ताण ॥ —तिलोयपण्णत्ति १०९८

२ तिसयाइ पुव्वधरा, णवणउदिसयाइ होति सिक्खगणा।
तेरससयाणि ओही, सत्तसयाइ पि केवलिणो ॥
इगिसयरहिदसहस्स, वेकुव्वी पणसयाणी विउलमदी।
चत्तारि सया वादी, गणसखा वड्ढमाणजिणे ॥ —तिलोयपण्णत्ति ११६०-६१

ही गण मे होते। वहाँ किसी तरह की तरतमता नही रहती। न शिक्षक-शैक्ष भाव रहता और न व्यवस्थात्मक सगति ही। यहाँ गण शब्द मात्र एक सामूहिक सख्या व्यक्त करने के लिए व्यवहृत हुआ है।

श्वेताम्बर-साहित्य में भी इस प्रकार के वैशिष्ट्य-सम्पन्न श्रमणों का उल्लेख हुआ है, जहाँ भगवान् महावीर के सघ में केवली सात सौ, मन.पर्यवज्ञानी पाच सौ, अवधिज्ञानी तेरह सौ, चतुर्दश-पूर्वधर तीन सौ, वादि चार सौ, वैक्रियलब्धिधारी सात सौ तथा अनुत्तरोपपातिक मुनि आठ सौ बतलाये गये हैं।[1]

केवली, अवधिज्ञानी, पूर्वधर और वादी—दोनो परम्पराओ मे इनकी एक समान सख्या मानी गई है। वैक्रियलब्धिधर की सख्या मे दो सौ का अन्तर है। तिलोयपण्णत्ति में उनकी संख्या दो सौ अधिक मानी गई है।

उक्त विवेचन से बहुत साफ है कि तिलोयपण्णत्तिकार ने गण का प्रयोग सामान्यत प्रचलित अर्थ समूह या समुदाय मे किया है।

कुल

श्रमणो की सख्या उत्तरोत्तर बढती गई। गणो के रूप मे जो इकाइयाँ निष्पन्न हुई थी, उनका रूप भी विशाल होता गया। तब स्यात् गण-व्यवस्थापको को वृहत् साधु-समुदाय की व्यवस्था करने मे कुछ कठिनाइयो का अनुभव हुआ हो। क्योकि अनुशासन मे बने रहना बहुत बडी सहिष्णुता और धैर्य की अपेक्षा रखता है। हर कोई अपने उद्दीप्त अह का हनन नही कर सकता। अनेक ऐसे कारण हो सकते हैं, जिनसे व्यवस्थाक्रम मे कुछ और परिवर्तन आया। जो समुदाय गण के नाम से अभिहित होते थे, वे कुलात्मक इकाइयो मे विभक्त हुए।

इसका मुख्य कारण एक और भी है। जहाँ प्रारभ मे जैनधर्म बिहार और उसके आसपास के क्षेत्रो मे प्रसृत था, उसके स्थान पर तब तक उसका प्रसार-क्षेत्र काफी बढ चुका था। श्रमण दूर-दूर के क्षेत्रो में बिहार, प्रवास करने लगे थे। जैन श्रमण बाह्य साधनो का मर्यादित उपयोग करते थे, अब भी वैसा है। अतएव यह संभव नही था कि भिन्न-भिन्न क्षेत्रो से पर्यटन करने वाले मुनिगण का पारस्परिक सपर्क बना रहे। दूरवर्ती स्थान से आकर मिल लेना भी सभव नही था, क्योकि जैन श्रमण पद-यात्रा करते थे। ऐसी स्थिति मे जो-जो श्रमण-समुदाय विभिन्न स्थानो मे विहार करते थे, वे दीक्षार्थी मुमुक्षु जनो को स्वय अपने शिष्य के रूप मे दीक्षित करने लगे। उनका दीक्षित श्रमण-समुदाय उनका कुल कहलाने लगा। यद्यपि ऐसी स्थिति आने से पहले भी स्थविर-श्रमण दीक्षार्थियो को दीक्षित करते थे परन्तु दीक्षित श्रमण मुख्य पट्टधर या आचार्य के ही शिष्य माने जाते थे। परिवर्तित दशा मे ऐसा नही रहा। दीक्षा देने वाले दीक्षागुरु और दीक्षित उनके शिष्य—ऐसा सीधा सम्बन्ध स्थापित हो गया। इससे सघीय ऐक्य की परपरा विच्छिन्न हो गई और कुल के रूप में एक स्वायत्त इकाई प्रतिष्ठित हो गई।

भगवतीसूत्र की वृत्ति मे आचार्य अभयदेवसूरि ने एक स्थान पर कुल का विश्लेषण करते हुए लिखा है—

---

१ जैनधर्म का मौलिक इतिहास, प्रथम भाग पृष्ठ ४७३.

"एक आचार्य की सन्तति या शिष्य-परम्परा को कुल समझना चाहिए। तीन परस्पर सापेक्ष कुलो का एक गण होता है।"[1]

पञ्चवस्तुक-टीका मे तीन कुलो के स्थान पर परस्पर सापेक्ष अनेक कुलो के श्रमणो के समुदाय को गण कहा है।[2]

प्रतीत होता है कि उत्तरोत्तर कुलो की सख्या बढती गई। छोटे-छोटे समुदायो के रूप मे उनका बहुत विस्तार होता गया। यद्यपि कल्प-स्थविरावली मे जिनका उल्लेख हुआ है, वे बहुत थोडे से हैं, पर जहाँ कुल के श्रमणो की संख्या नौ तक मान ली गई, उससे उक्त तथ्य अनुमेय है। पृथक्-पृथक् समुदायो या समूहो के रूप मे विभक्त रहने पर भी वे भिन्न-भिन्न गणो मे सम्बद्ध रहते थे। एक गण मे कम से कम तीन कुलो का होना आवश्यक था। अन्यथा गण की परिभाषा मे वह नही आता। इसका तात्पर्य यह हुआ कि एक गण मे कम से कम तीन कुल अर्थात् तदन्तर्वर्ती कम से कम सत्ताईस साधु सदस्यो का होना आवश्यक माना गया। ऐसा होने पर ही गण को प्राप्त अधिकार उसे सुलभ हो सकते थे।

गणो एव कुलो का पारस्परिक सम्बन्ध, तदाश्रित व्यवस्था आदि का एक समयविशेष तक प्रवर्तन रहा। मुनि प कल्याणविजयजी ने युगप्रधान-शासनपद्धति के चलने तक गण एव कुलमूलक परम्परा के चलते रहने की बात कही है, पर युगप्रधान-शासनपद्धति यथावत् रूप मे अब तक चली, उसका सचालन क्रम किस प्रकार का रहा, इत्यादि बाते स्पष्ट रूप मे अब तक प्रकाश मे नही आ सकी है। अत काल की इयत्ता मे इसे नही बाँधा जा सकता। इतना ही कहा जा सकता है, सघ-सचालन या व्यवस्था-निर्वाह के रूप में यह क्रम चला, जहा मुख्य इकाई गण था और उसकी पूरक या योजक इकाइयाँ कुल थे। इनमे परस्पर समन्वय एव सामजस्य था, जिससे सघीय शक्ति विघटित न होकर सगठित बनी रही।

---

१ एत्थ कुल विण्णेय, एगायरियस्स सतई जा उ।
तिण्ह कुलाणमिह पुण, सावेक्खाण गणो होई॥ —भगवती सूत्र ८ ८ वृत्ति

२ परस्परसापेक्षणामनेककुलाना साधूनां समुदाये। —पञ्चवस्तुक टीका, द्वार १

प्रयुक्त ग्रन्थ-सूची

अनुयोगद्वार सूत्र

प्रकाशक—
सुखदेवसहाय ज्वालाप्रसाद
हैद्राबाद-सिकन्द्राबाद जैन सघ
हैद्राबाद (दक्षिण)

अन्तकृद्दशासूत्र

प्रकाशक—
श्री आगम प्रकाशन समिति
जैन स्थानक, पीपलिया बाजार
ब्यावर (राजस्थान)

उववाइय सुत्त

प्रकाशक—
श्री अखिल भारतीय साधुमार्गी जैन सस्कृति
रक्षक सघ,
सैलाना (मध्य प्रदेश)

उववाई सूत्र

प्रकाशक—
सुखदेवसहाय ज्वालाप्रसाद
हैद्राबाद-सिकन्द्राबाद जैन संघ
हैद्राबाद (दक्षिण)

ओववाइयसुत्त

फर्गुसन कॉलेज, पूना

औपपातिकसूत्रम्

प्रकाशक—
श्री अ भा श्वेताम्बर स्थानकवासी
जैन शास्त्रोद्धार समिति
ग्रीन लोज पासे, राजकोट

जयध्वज

प्रकाशक—
जयध्वज प्रकाशन समिति
९८, मिन्ट स्ट्रीट,
मद्रास-१

जैनदर्शन के मौलिक तत्त्व

पहला भाग

प्रकाशक—
मोतीलाल बेगानी चेरिटेबल, ट्रस्ट,
१/४ सी० खगेन्द्र चटर्जी रोड,
काशीपुर, कलकत्ता-२

जैनधर्म का मौलिक इतिहास

प्रथम भाग

प्रकाशक—
जैन इतिहास समिति
आचार्य श्री विनयचन्द्र ज्ञानभडार,
लाल भवन, चौडा रास्ता,
जयपुर-३ (राजस्थान)

जैन साहित्य का बृहद् इतिहास

भाग २

प्रकाशक—
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध-सस्थान,
जैनाश्रम, हिन्दू युनिवर्सिटी,
वाराणसी-५

ज्ञानार्णव
प्रकाशक—
परम श्रुत प्रभावक मण्डल,
श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम
स्टेशन—अगास
पो० बोरिया वाया आणद (गुजरात)

ठाणं
प्रकाशक—
जैन विश्वभारती,
लाडनू (राजस्थान)

तत्त्वार्थसूत्र
प्रकाशक—
जैन सस्कृति सशोधक मण्डल,
हिन्दू विश्वविद्यालय,
बनारस-५

तिलोयपण्णत्ति

दशवैकालिक सूत्र
प्रकाशक—श्री गणेश स्मृति, ग्रन्थमाला
श्री अ० भा० साधुमार्गी जैन सघ,
बीकानेर

धर्मसग्रह

नायाधम्मकहाओ
प्रकाशक—
श्री आगम प्रकाशन समिति
जैन स्थानक, पीपलिया बाजार,
ब्यावर (राजस्थान)

पउमचरियं

पञ्चवस्तु टीका

पन्नवणा सूत्र
प्रकाशक—
सुखदेवसहाय ज्वालाप्रसाद
हैद्राबाद—सिकन्द्राबाद जैन सघ
हैद्राबाद (दक्षिण)

पाइअ-सद्द-महण्णवो
प्रकाशक—
प्राकृत टैक्स्ट सोसायटी,
वाराणसी-५

पाणिनीय अष्टाध्यायी

पातंजल योग दर्शन
प्रकाशक—
गीता प्रेस, गोरखपुर

प्रवचनसारोद्धार

भगवती सूत्र
प्रकाशक—
सुखदेवसहाय ज्वालाप्रसाद
हैद्राबाद—सिकन्द्राबाद जैन सघ,
हैद्राबाद (दक्षिण)

भागवत
गीताप्रेस गोरखपुर

भावप्रकाश
(रचयिता भाव मिश्र)
प्रकाशक—चौखम्बा सस्कृत सिरीज
ऑफिस पोस्ट बॉक्स न० ८,
वाराणसी-१

भाषा-विज्ञान
डा भोलानाथ तिवारी
किताब महल, इलाहाबाद

मनुस्मृति
प्रकाशक—
चौखम्बा सस्कृत सीरीज,
ऑफिस पोस्ट बॉक्स न. ८
वाराणसी-१

मज्झिमनिकाय
प्रकाशक—
महाबोधि सभा,
सारनाथ (बनारस)

महाभारत
प्रकाशक—
गीता प्रेस, गोरखपुर

महाभारत की नामानुक्रमणिका
प्रकाशक—
गीता प्रेस, गोरखपुर

योगदृष्टिसमुच्चय तथा योगविंशिका
प्रकाशक—
लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति
विद्या मन्दिर, अहमदाबाद

योगबिन्दु
प्रकाशक—
लालाभाई दलपतभाई भारतीय
सस्कृति विद्या मन्दिर, अहमदाबाद

योगवाशिष्ट

योगशतक
प्रकाशक—
गुजरात विद्या सभा
भद्र अहमदाबाद

योगशास्त्र
प्रकाशक—
श्री ऋषभचन्द्र जौहरी, किशनलाल जैन,
दिल्ली

रघुवंश महाकाव्य
प्रकाशक—
खेमराज श्रीकृष्णदास, श्री वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस
मुबई

बृहत् कल्पसूत्र
प्रकाशक—
सुखदेवसहाय ज्वालाप्रसाद
हैद्राबाद-सिकन्द्राबाद जैन सघ,
हैद्राबाद (दक्षिण)

वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी
प्रकाशक—
तुकाराम जावजी
निर्णयसागर मुद्रण यत्रालय, बबई

श्री उववाई सूत्र
श्रीयुत राय धनपतिसिह बहादुर
जैन बुक सोसायटी,
कलकत्ता

श्री जैन सिद्धान्त बोल सग्रह
प्रकाशक—
श्री अगरचन्द भैरोदान सेठिया
जैन पारमार्थिक सस्था,
बीकानेर (राजस्थान)

श्रीमदौपातिकसूत्रम् वृत्तियुतम्
प्रकाशक—
आगमोदय समिति,
भावनगर

समवायांग सूत्र
प्रकाशक—
आगम-अनुयोग प्रकाशन
पोस्ट बॉक्स न ११४२
दिल्ली-७

संस्कृत साहित्य का इतिहास
प्रकाशक—
रामनारायणलाल बेनीप्रसाद
प्रकाशक तथा पुस्तक विक्रेता
इलाहाबाद-२

संस्कृत-हिन्दी कोशः वामन शिवराम आपटे
प्रकाशक—
मोतीलाल बनारसीदास
बंगलो रोड, जवाहरनगर
दिल्ली-७

संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर
प्रकाशक—
नगरी प्रचारिणी सभा,
काशी

Sanskrit English Dictionary
Sir Monier Monier Williams
Published by—
Motilal Banarasi Das
Bungalow Road, Jawahar Nagar
Delhi-7

सांख्यकारिका गौडपाद भाष्य
प्रकाशक—
चौखम्बा सस्कृत सीरीज ऑफिस
वाराणसी-१

स्थानांगसूत्र
प्रकाशक—
आगम अनुयोग प्रकाशन परिषद्
बख्तावरपुरा, साडेराव
(फालना-राजस्थान)

स्थानांगसूत्र वृत्ति

अनध्यायकाल

[स्व० आचार्यप्रवर श्री आत्मारामजी म० द्वारा सम्पादित नन्दीसूत्र से उद्धृत]

स्वाध्याय के लिए आगमो मे जो समय बताया गया है, उसी समय शास्त्रो का स्वाध्याय करना चाहिए। अनध्यायकाल मे स्वाध्याय वर्जित है।

मनुस्मृति आदि स्मृतियो मे भी अनध्यायकाल का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। वैदिक लोग भी वेद के अनध्यायो का उल्लेख करते है। इसी प्रकार अन्य आर्ष ग्रन्थो का भी अनध्याय माना जाता है। जैनागम भी सर्वज्ञोक्त, देवाधिष्ठित तथा स्वरविद्या सयुक्त होने के कारण, इनका भी आगमो मे अनध्यायकाल वर्णित किया गया है, जैसे कि—

दसविधे अतलिक्खिते असज्झाए पण्णत्ते, त जहा—उक्कावाते, दिसिदाघे, गज्जिते, निग्घाते, जुवते, जक्खालित्ते, धूमिता, महिता, रयउग्घाते।

दसविहे ओरालिते असज्झातिते, त जहा—अट्ठी, मस, सोणित्त, असुतिसामते, सुसाणसामते, चदोवराते, सूरोवराते, पडने, रायवुग्गहे, उवस्सयस्स अतो ओरालिए सरीरगे।

—**स्थानाङ्गसूत्र, स्थान १०**

नो कप्पति निग्गथाण वा, निग्गथीण वा चउहि महापाडिवएहि सज्झाय करित्तए, त जहा—आसाढपाडिवए, इदमहापाडिवए, कत्तिअपाडिवए, सुगिम्हपाडिवए। नो कप्पइ निग्गथाण वा निग्गथीण वा, चउहि सझाहि सज्झाय करेत्तए, त जहा—पडिमाते, पच्छिमाते, मज्झण्हे, अड्ढरत्ते। कप्पइ निग्गथाण वा निग्गथीण वा, चाउक्काल सज्झाय करेत्तए, त जहा—पुव्वण्हे, अवरण्हे, पओसे, पच्चूसे।

—**स्थानाङ्गसूत्र, स्थान ४, उद्देश २**

उपरोक्त सूत्रपाठ के अनुसार, दस आकाश से सम्बन्धित, दस औदारिक शरीर से सम्बन्धित, चार महाप्रतिपदा, चार महाप्रतिपदा की पूर्णिमा और चार सन्ध्या इस प्रकार बत्तीस अनध्याय माने गये हैं। जिनका संक्षेप मे निम्न प्रकार से वर्णन है, जैसे—

आकाश सम्बन्धी दस अनध्याय

१. उल्कापात-तारापतन—यदि महत् तारापतन हुआ है तो एक प्रहर पर्यन्त शास्त्र-स्वाध्याय नही करना चाहिए।

२. दिग्दाह—जब तक दिशा रक्तवर्ण की हो अर्थात् ऐसा मालूम पडे कि दिशा में आग-सी लगी है, तब भी स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

३-४.—**गर्जित-विद्युत्**—गर्जन और विद्युत प्राय. ऋतु स्वभाव से ही होता है। अतः आर्द्रा से स्वाति नक्षत्र पर्यन्त अनध्याय नही माना जाता।

५. **निर्घात**—बिना बादल के आकाश मे व्यन्तरादिकृत घोर गर्जन होने पर या बादलो सहित आकाश मे कड़कने पर दो प्रहर तक अस्वाध्यायकाल है।

६ **यूपक**--शुक्ल पक्ष मे प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया को सन्ध्या की प्रभा और चन्द्रप्रभा के मिलने को यूपक कहा जाता है। इन दिनो प्रहर रात्रि पर्यन्त स्वाध्याय नही करना चाहिए।

७. **यक्षादीप्त**—कभी किसी दिशा मे बिजली चमकने जैसा, थोड़े थोड़े समय पीछे जो प्रकाश होता है वह यक्षादीप्त कहलाता है। अत आकाश मे जब तक यक्षाकार दीखता रहे तब तक स्वाध्याय नही करना चाहिए।

८. **धूमिका कृष्ण**—कार्तिक से लेकर माघ तक का समय मेघो का गर्भमास होता है। इसमे धूम्र वर्ण की सूक्ष्म जलरूप धुंध पडती है। वह धूमिका-कृष्ण कहलाती है। जब तक यह धुंध पडती रहे, तब तक स्वाध्याय नही करना चाहिए।

९ **मिहिकाश्वेत**—शीतकाल मे श्वेत वर्ण की सूक्ष्म जलरूप धुन्ध मिहिका कहलाती है। जब तक यह गिरती रहे, तब तक अस्वाध्याय काल है।

१०. **रज उद्घात**—वायु के कारण आकाश मे चारो ओर धूलि छा जाती है। जब तक यह धूलि फैली रहती है, स्वाध्याय नही करना चाहिए।

उपरोक्त दस कारण आकाश सम्बन्धी अस्वाध्याय के हैं।

औदारिक सम्बन्धी दस अनध्याय

११-१२-१३. **हड्डी मांस और रुधिर**—पचेद्रिय तिर्यंच की हड्डी, मास और रुधिर यदि सामने दिखाई दे, तो जब तक वहाँ से यह वस्तुएं उठाई न जाएँ जब तक अस्वाध्याय है। वृत्तिकार आस पास के ६० हाथ तक इन वस्तुओ के होने पर अस्वाध्याय मानते है।

इसी प्रकार मनुष्य सम्बन्धी अस्थि मास और रुधिर का भी अनध्याय माना जाता है। विशेषता इतनी है कि इनका अस्वाध्याय सौ हाथ तक तथा एक दिन रात का होता है। स्त्री के मासिक धर्म का अस्वाध्याय तीन दिन तक। बालक एव बालिका के जन्म का अस्वाध्याय क्रमशः सात एव आठ दिन पर्यन्त का माना जाता है।

१४. **अशुचि**—मल-मूत्र सामने दिखाई देने तक अस्वाध्याय है।

१५. **श्मशान**—श्मशानभूमि के चारो ओर सौ-सौ हाथ पर्यन्त अस्वाध्याय माना जाता है।

१६. **चन्द्रग्रहण**—चन्द्रग्रहण होने पर जघन्य आठ, मध्यम बारह और उत्कृष्ट सोलह प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय नही करना चाहिए।

१७. **सूर्यग्रहण**—सूर्यग्रहण होने पर भी क्रमशः आठ, बारह और सोलह प्रहर पर्यन्त अस्वाध्यायकाल माना गया है।

१८. पतन—किसी बड़े मान्य राजा अथवा राष्ट्र पुरुष का निधन होने पर जब तक उसका दाहसस्कार न हो तब तक स्वाध्याय न करना चाहिए। अथवा जब तक दूसरा अधिकारी सत्तारूढ न हो तब तक शनै: शनै: स्वाध्याय करना चाहिए।

१९. राजव्युद्ग्रह—समीपस्थ राजाओं में परस्पर युद्ध होने पर जब तक शान्ति न हो जाए, तब तक उसके पश्चात् भी एक दिन-रात्रि स्वाध्याय नही करें।

२०. औदारिक शरीर—उपाश्रय के भीतर पचेन्द्रिय जीव का वध हो जाने पर जब तक कलेवर पडा रहे, तब तक तथा १०० हाथ तक यदि निर्जीव कलेवर पडा हो तो स्वाध्याय नही करना चाहिए।

अस्वाध्याय के उपरोक्त १० कारण औदारिक शरीर सम्बन्धी कहे गये हैं।

२१-२८ चार महोत्सव और चार महाप्रतिपदा—आषाढपूर्णिमा, आश्विन-पूर्णिमा, कार्तिक-पूर्णिमा और चैत्र-पूर्णिमा ये चार महोत्सव है। इन पूर्णिमाओ के पश्चात् आने वाली प्रतिपदा को महाप्रतिपदा कहते है। इसमे स्वाध्याय करने का निषेध है।

२९-३२. प्रात सायं मध्याह्न और अर्धरात्रि—प्रातः सूर्य उगने से एक घडी पहिले तथा एक घडी पीछे। सूर्यास्त होने से एक घडी पहिले तथा एक घडी पीछे। मध्याह्न अर्थात् दोपहर मे एक घडी आगे और एक घड़ी पीछे एव अर्धरात्रि मे भी एक घडी आगे तथा एक घडी पीछे स्वाध्याय नही करना चाहिए।

श्री आगमप्रकाशन-समिति, ब्यावर

अर्थसहयोगी सदस्यों की शुभ नामावली

महास्तम्भ

१. श्री सेठ मोहनमलजी चोरडिया , मद्रास
२ श्री गुलाबचन्दजी मागीलालजी सुराणा, सिकन्दराबाद
३ श्री पुखराजजी शिशोदिया, ब्यावर
४. श्री सायरमलजी जेठमलजी चोरडिया, बैंगलोर
५ श्री प्रेमराजजी भवरलालजी श्रीश्रीमाल, दुर्ग
६ श्री एस किशनचन्दजी चोरडिया, मद्रास
७ श्री कवरलालजी बैताला, गोहाटी
८ श्री सेठ खीवराजजी चोरडिया मद्रास
९ श्री गुमानमलजी चोरडिया, मद्रास
१० श्री एस बादलचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
११ श्री जे. दुलीचन्दजी चोरडिया, मद्रास
१२ श्री एस रतनचन्दजी चोरडिया, मद्रास
१३ श्री जे अन्नराजजी चोरडिया, मद्रास
१४ श्री एस सायरचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१५ श्री आर शान्तिलालजी उत्तमचन्दजी चोरडिया, मद्रास
१६ श्री सिरेमलजी हीराचन्दजी चोरडिया, मद्रास
१७ श्री जे हुक्मीचन्दजी चोरडिया, मद्रास

स्तम्भ सदस्य

१ श्री अगरचन्दजी फतेचन्दजी पारख, जोधपुर
२ श्री जसराजजी गणेशमलजी सचेती, जोधपुर
३ श्री तिलोकचदजी, सागरमलजी सचेती, मद्रास
४. श्री पूसालालजी किस्तूरचंदजी सुराणा, कटगी
५ श्री आर. प्रसन्नचन्दजी चोरडिया, मद्रास
६. श्री दीपचन्दजी चोरडिया, मद्रास
७. श्री मूलचन्दजी चोरडिया, कटगी
८. श्री वर्द्धमान इण्डस्ट्रीज, कानपुर
९. श्री मांगीलालजी मिश्रीलालजी संचेती, दुर्ग

संरक्षक

१ श्री बिरदीचदजी प्रकाशचदजी तलेसरा, पाली
२ श्री ज्ञानराजजी केवलचन्दजी मूथा, पाली
३ श्री प्रेमराजजी जतनराजजी मेहता, मेडता सिटी
४. श्री श० जडावमलजी माणकचन्दजी बेताला, बागलकोट
५ श्री हीरालालजी पन्नालालजी चौपडा, ब्यावर
६ श्री मोहनलालजी नेमीचन्दजी ललवाणी, चागाटोला
७ श्री दीपचदजी चन्दनमलजी चोरडिया, मद्रास
८ श्री पन्नालालजी भागचन्दजी बोथरा, चागा-टोला
९ श्रीमती सिरेकुँवर बाई धर्मपत्नी स्व श्री सुगनचन्दजी झामड, मदुरान्तकम्
१० श्री बस्तीमलजी मोहनलालजी बोहरा (K G F) जाडन
११ श्री थानचन्दजी मेहता, जोधपुर
१२ श्री भैरुदानजी लाभचन्दजी सुराणा, नागौर
१३ श्री खूबचन्दजी गादिया, ब्यावर
१४ श्री मिश्रीलालजी धनराजजी विनायकिया ब्यावर
१५ श्री इन्द्रचन्दजी बैद, राजनादगाव
१६. श्री रावतमलजी भीकमचन्दजी पगारिया, बालाघाट
१७ श्री गणेशमलजी धर्मीचन्दजी काकरिया, टगला
१८ श्री सुगनचन्दजी बोकडिया, इन्दौर
१९ श्री हरकचन्दजी सागरमलजी बेताला, इन्दौर
२० श्री रघुनाथमलजी लिखमीचन्दजी लोढा, चागाटोला
२१ श्री सिद्धकरणजी शिखरचन्दजी बैद, चांगाटोला

२२. श्री सागरमलजी नोरतमलजी पीचा, मद्रास
२३. श्री मोहनराजजी मुकनचन्दजी बालिया, अहमदाबाद
२४. श्री केशरीमलजी जवरीलालजी तलेसरा, पाली
२५. श्री रतनचन्दजी उत्तमचन्दजी मोदी, ब्यावर
२६. श्री धर्मीचन्दजी भागचन्दजी बोहरा, झूठा
२७ श्री छोगमलजी हेमराजजी लोढा डोडीलोहारा
२८. श्री गुणचदजी दलीचदजी कटारिया, बेल्लारी
२९. श्री मूलचन्दजी सुजानमलजी सचेती, जोधपुर
३०. श्री सी० अमरचन्दजी बोथरा, मद्रास
३१. श्री भवरलालजी मूलचदजी सुराणा, मद्रास
३२. श्री बादलचदजी जुगराजजी मेहता, इन्दौर
३३ श्री लालचदजी मोहनलालजी कोठारी, गोठन
३४. श्री हीरालालजी पन्नालालजी चौपडा, अजमेर
३५ श्री मोहनलालजी पारसमलजी पगारिया, बंगलोर
३६. श्री भवरीमलजी चोरडिया, मद्रास
३७. श्री भवरलालजी गोठी, मद्रास
३८ श्री जालमचदजी रिखबचदजी बाफना, आगरा
३९. श्री घेवरचदजी पुखराजजी भुरट, गोहाटी
४० श्री जबरचन्दजी गेलडा, मद्रास
४१. श्री जडावमलजी सुगनचन्दजी, मद्रास
४२. श्री पुखराजजी विजयराजजी, मद्रास
४३. श्री चेनमलजो सुराणा ट्रस्ट, मद्रास
४४. श्री लूणकरणजी रिखबचदजी लोढा, मद्रास
४५. श्री सूरजमलजी सज्जनराजजी महेता, कोप्पल

सहयोगी सदस्य

१. श्री देवकरणजी श्रीचन्दजी डोसा, मेडतासिटी
२. श्रीमती छगनीबाई विनायकिया, ब्यावर
३. श्री पूनमचन्दजी नाहटा, जोधपुर
४. श्री भवरलालजी विजयराजजी काकरिया, विल्लीपुरम्
५. श्री भवरलालजी चौपडा, ब्यावर
६. श्री विजयराजजो रतनलालजी चतर, ब्यावर
७. श्री बी. गजराजजी बोकडिया, सेलम
८. श्री फूलचन्दजी गौतमचन्दजी कांठेड, पाली
९. श्री के पुखराजजी बाफणा, मद्रास
१० श्री रूपराजजी जोधराजजी मूथा, दिल्ली
११ श्री मोहनलालजी मगलचंदजी पगारिया, रायपुर
१२ श्री नथमलजी मोहनलालजी लूणिया, चण्डावल
१३ श्री भवरलालजी गौतमचन्दजी पगारिया, कुशालपुरा
१४ श्री उत्तमचदजी मागीलालजी, जोधपुर
१५ श्री मूलचन्दजी पारख, जोधपुर
१६ श्री सुमेरमलजी मेडतिया, जोधपुर
१७. श्री गणेशमलजी नेमीचन्दजी टाटिया, जोधपुर
१८ श्री उदयराजजी पुखराजजी सचेती, जोधपुर
१९. श्री बादरमलजी पुखराजजी बट, कानपुर
२० श्रीमती सुन्दरबाई गोठी W/o श्री ताराचदजी गोठी, जोधपुर
२१. श्री रायचन्दजी मोहनलालजी, जोधपुर
२२ श्री घेवरचन्दजी रूपराजजी, जोधपुर
२३ श्री भंवरलालजी माणकचदजी सुराणा, मद्रास
२४. श्री जवरीलालजी अमरचन्दजी कोठारी, ब्यावर
२५ श्री माणकचन्दजी किशनलालजी, मेडतासिटी
२६ श्री मोहनलालजी गुलाबचन्दजी चतर, ब्यावर
२७. श्री जसराजजी जवरीलालजी धारीवाल, जोधपुर
२८ श्री मोहनलालजी चम्पालालजी गोठी, जोधपुर
२९ श्री नेमीचदजी डाकलिया मेहता, जोधपुर
३० श्री ताराचंदजी केवलचदजी कर्णावट, जोधपुर
३१. श्री आसूमल एण्ड क०, जोधपुर
३२. श्री पुखराजजी लोढा, जोधपुर
३३ श्रीमती सुगनीबाई W/o श्री मिश्रीलालजी साड, जोधपुर
३४. श्री बच्छराजी सुराणा, जोधपुर
३५. श्री हरकचन्दजी मेहता, जोधपुर
३६. श्री देवराजजी लाभचदजी मेड़तिया, जोधपुर
३७. श्री कनकराजजी मदनराजजी गोलिया, जोधपुर
३८. श्री घेवरचन्दजी पारसमलजी टाटिया, जोधपुर
३९. श्री मांगीलालजी चोरड़िया, कुचेरा

४०. श्री सरदारमलजी सुराणा, भिलाई
४१. श्री ओकचदजी हेमराजजी सोनी, दुर्ग
४२ श्री सूरजकरणजी सुराणा, मद्रास
४३ श्री घीसूलालजी लालचदजी पारख, दुर्ग
४४. श्री पुखराजजी बोहरा, (जैन ट्रान्सपोर्ट क.) जोधपुर
४५ श्री चम्पालालजी सकलेचा, जालना
४६ श्री प्रेमराजजी मीठालालजी कामदार, बैंगलोर
४७ श्री भवरलालजी मूथा एण्ड सन्स, जयपुर
४८ श्री लालचदजी मोतीलालजी गादिया, बैंगलोर
४९ श्री भवरलालजी नवरत्नमलजी साखला, मेट्टूपालियम
५० श्री पुखराजजी छल्लाणी, करणगुल्ली
५१ श्री आसकरणजी जसराजजी पारख, दुर्ग
५२ श्री गणेशमलजी हेमराजजी सोनी, भिलाई
५३ श्री अमृतराजजी जसवन्तराजजी मेहता, मेडतासिटी
५४ श्री घेवरचदजी किशोरमलजी पारख, जोधपुर
५५ श्री मागीलालजी रेखचदजी पारख, जोधपुर
५६. श्री मुन्नीलालजी मूलचदजी गुलेच्छा, जोधपुर
५७ श्री रतनलालजी लखपतराजजी, जोधपुर
५८ श्री जीवराजजी पारसमलजी कोठारी, मेडता सिटी
५९ श्री भवरलालजी रिखबचदजी नाहटा, नागौर
६० श्री मागीलालजी प्रकाशचन्दजी रूणवाल, मैसूर
६१ श्री पुखराजजी बोहरा, पीपलिया कला
६२ श्री हरकचदजी जुगराजजी बाफना, बैंगलोर
६३ श्री चन्दनमलजी प्रेमचदजी मोदी, भिलाई
६४ श्री भीवराजजी बाघमार, कुचेरा
६५ श्री तिलोकचदजी प्रेमप्रकाशजी, अजमेर
६६ श्री विजयलालजी प्रेमचदजी गुलेच्छा, राजनादगाँव
६७. श्री रावतमलजी छाजेड, भिलाई
६८. श्री भवरलालजी डूगरमलजी कांकरिया, भिलाई
६९ श्री हीरालालजी हस्तीमलजी देशलहरा, भिलाई
७० श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रावकसघ, दल्ली-राजहरा
७१ श्री चम्पालालजी बुद्धराजजी बाफणा, ब्यावर
७२ श्री गगारामजी इन्द्रचदजी बोहरा, कुचेरा
७३ श्री फतेहराजजी नेमीचदजी कर्णावट, कलकत्ता
७४ श्री बालचदजी थानचन्दजी भरट, कलकत्ता
७५ श्री सम्पतराजजी कटारिया, जोधपुर
७६ श्री जवरीलालजी शातिलालजी सुराणा, बोलारम
७७ श्री कानमलजी कोठारी, दादिया
७८ श्री पन्नालालजी मोतीलालजी सुराणा, पाली
७९ श्री माणकचदजी रतनलालजी मुणोत, टगला
८० श्री चिम्मनसिंहजी मोहनसिंहजी लोढा, ब्यावर
८१. श्री रिद्धकरणजी रावतमलजी भुरट, गौहाटी
८२ श्री पारसमलजी महावीरचदजी बाफना, गोठ
८३ श्री फकीरचदजी कमलचदजी श्रीश्रीमाल, कुचेरा
८४. श्री मांगीलालजी मदनलालजी चोरडिया, भैरूंदा
८५ श्री सोहनलालजी लूणकरणजी सुराणा, कुचेरा
८६ श्री घीसूलालजी, पारसमलजी, जवरीलालजी कोठारी, गोठन
८७ श्री सरदारमलजी एण्ड कम्पनी, जोधपुर
८८ श्री चम्पालालजी हीरालालजी बागरेचा, जोधपुर
८९ श्री धुखराजजी कटारिया, जोधपुर
९० श्री इन्द्रचन्दजी मुकनचन्दजी, इन्दौर
९१ श्री भवरलालजी बाफणा, इन्दौर
९२ श्री जेठमलजी मोदी, इन्दौर
९३ श्री बालचन्दजी अमरचन्दजी मोदी, ब्यावर
९४. श्री कुन्दनमलजी पारसमलजी भडारी, बैंगलौर
९५ श्रीमती कमलाकवर ललवाणी धर्मपत्नी श्री स्व पारसमलजी ललवाणी, गोठन
९६. श्री अखेचदजी लूणकरणजी भण्डारी, कलकत्ता
९७ श्री सुगनचन्दजी संचेती, राजनांदगाँव

९८. श्री प्रकाशचंदजी जैन, नागौर
९९ श्री कुशालचंदजी रिखबचन्दजी सुराणा, बोलारम
१०० श्री लक्ष्मीचंदजी अशोककुमारजी श्रीश्रीमाल, कुचेरा
१०१. श्री गूदडमलजी चम्पालालजी, गोठन
१०२ श्री तेजराजजी कोठारी, मांगलियावास
१०३ सम्पतराजजी चोरडिया, मद्रास
१०४ श्री अमरचंदजी छाजेड, पादु बडी
१०५. श्री जुगराजजी धनराजजी बरमेचा, मद्रास
१०६. श्री पुखराजजी नाहरमलजी ललवाणी, मद्रास
१०७ श्रीमती कंचनदेवी व निर्मलादेवी, मद्रास
१०८ श्री दुलेराजजी भवरलालजी कोठारी, कुशालपुरा
१०९ श्री भवरलालजी मांगीलालजी बेताला, डेह
११०. श्री जीवराजजी भवरलालजी चोरडिया, भैरूंदा
१११. श्री मांगीलालजी शांतिलालजी रूणवाल, हरसोलाव
११२ श्री चादमलजी धनराजजी मोदी, अजमेर
११३ श्री रामप्रसन्न ज्ञानप्रसार केन्द्र, चन्द्रपुर
११४ श्री भूरमलजी दुलीचदजी बोकडिया, मेडता सिटी
११५ श्री मोहनलालजी धारीवाल, पाली
११६. श्रीमती रामकुवरबाई धर्मपत्नी श्री चादमलजी लोढा, बम्बई
११७. श्री मांगीलालजी उत्तमचदजी बाफणा, बेंगलोर
११८ श्री साचालालजी बाफणा, औरंगाबाद
११९. श्री भीखमचन्दजी माणकचन्दजी खाबिया, (कुडालोर) मद्रास
१२० श्रीमती अनोपकुवर धर्मपत्नी श्री चम्पालालजी सघवी, कुचेरा
१२१ श्री सोहनलालजी सोजतिया, थावला
१२२ श्री चम्पालालजी भण्डारी, कलकत्ता
१२३ श्री भीखमचन्दजी गणेशमलजी चौधरी, धूलिया
१२४ श्री पुखराजजी किशनलालजी तातेड, सिकन्दराबाद
१२५ श्री मिश्रीलालजी सज्जनलालजी कटारिया सिकन्दराबाद
१२६ श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रावक सघ, बगडीनगर
१२७. श्री पुखराजजी पारसमलजी ललवाणी, बिलाडा
१२८. श्री टी. पारसमलजी चोरडिया, मद्रास
१२९ श्री मोतीलालजी आसूलालजी बोहरा एण्ड कं., बेंगलोर
१३० श्री सम्पतराजजी सुराणा, मनमाड □□